संपादक: डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी
डॉ० प्रेम सुमन जैन

आदर्श साहित्य संघ प्रकाशन

लोक विश्वास की सांस्कृतिक अवधारणा

मूल्य बारह रुपये/प्रथम सस्करण, १९७६/प्रकाशक कमलेश चतुर्वेदी, प्रबन्धक,
आदर्श साहित्य सघ, चूरू (राजस्थान)/मुद्रक भारती प्रिटर्स, दिल्ली-११००३२

JAIN VIDYA KA SANSKRITIK AVDAN Rs 12.00

भारतीय विद्या एव जैन प्रज्ञा के प्रकाण्ड मनीषी

डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये

(निर्वाण दिवस ८ अक्तूबर, १९७५)

को

पुण्य स्मृति मे श्रद्धाजलि

आशीर्वचन

जैन तत्त्व विद्या समाधि की विद्या है। समाधि योग की उपलब्धि जागृत चेतना की तीव्रतम अभीप्सा है। जैन विद्या के पारगामी विद्वान, उपदेष्टा और अध्येता सबसे पहले प्रज्ञा-समाधि की दिशा मे प्रयाण करते है। प्रज्ञा-समाधि का प्रथम बिन्दु है यथार्थ की अवगति और अन्तिम बिन्दु है यथार्थ मे अवस्थिति। अवगति और अवस्थिति के बीच मे समाधि-यात्रा के अनेक पडाव हैं। इस यात्रा से गुजरने वाला पथिक अनेक प्रकार की अनुभूतियो के वलय मे परिक्रमा करता है। उस परिक्रमा से कुछ घटित होता है और कुछ विघटित हो जाता है। घटक और विघटक परिस्थितियो की निष्पत्ति राष्ट्र की सास्कृतिक चेतना को भी प्रभावित करती है।

जैन विद्या अपने आप मे विलक्षण है, इसलिए उसका सास्कृतिक अवदान भी विलक्षण है। जैन सस्कृति में अन्य मस्कृतियो का सम्मिश्रण होने से उस विलक्षणता में थोडा अन्तर आ सकता है पर वह अन्तर समाज की बाह्य चेतना को ही प्रभाविन कर पाया है। चेतना का आन्तरिक पक्ष अपने आप में विशिष्ट होता है। उससे प्रस्फुटित होने वाली सास्कृतिक चेतना का जीवन-निर्माण में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

जैन विद्या में दो तत्त्व उल्लेखनीय हैं सवर और निर्जरा। निरोधन और विशोधन इनकी फलश्रुतिया है। जिस समाज-चेतना में सभावित असत् को तोडने का सामर्थ्य हो वह समाज कभी निराश नही हो सकता। समाज चेतना अभ्युदय में जैन मनीषियो, जैन साहित्य और जैन सस्कृति का जो योगदान रहा है, वह अविस्मरणीय है।

पिछले वर्ष उदयपुर में जैन विद्या के सन्दर्भ में एक सेमिनार था। सुधी लेखको ने अपने लिखित शोध-पत्रो को मौखिक प्रस्तुति दी। उस प्रस्तुतीकरण से वे व्यक्ति ही लाभान्वित हुए जो वहा उपस्थित थे। व्यापक लाभ की सभावना से उन शोध-पत्रो के मुद्रीकरण का निर्णय लेकर सेमिनार के आयोजको ने अपनी सूझ-बूझ का परिचय दिया है।

आज के साहित्य-बहुल युग में कोई भी नयी कृति तभी स्थान पा सकती है, जब उसमें कुछ मौलिकता हो। मौलिक चिंतन, मौलिक स्थापना और अभिव्यंजना की शैली में मौलिकता न हो तो सामान्य साहित्य भी प्रबुद्ध समाज पर अपना प्रभाव नहीं छोड़ सकता। ऐसी स्थिति में शोध-साहित्य से तो विशेष रूप से यह अपेक्षा की जाती है, वहां चिंतन और स्थापनाओं की मौलिक स्फुरणा हो। जिस शोध-साहित्य से प्रज्ञा को समाधान न मिले और न ही मिले चिंतन को नया निखार, वह संकलन तो हो सकता है पर उसे शोध कहने से आत्मतोष पुष्ट नहीं होता।

प्रस्तुत पुस्तक 'जैन विद्या का सांस्कृतिक अवदान' जैन तत्त्व विद्या के जिज्ञासुओं को अपनी नई स्थापनाओं से परिचित कराकर लोक-चेतना को उस ओर मोड़ने में सक्षम हो सकी तो यह जैन विद्वानों की बहुत बड़ी उपलब्धि होगी। सांस्कृतिक चेतना का विकास सामाजिक और आर्थिक चेतना के विकास से भी अधिक श्रम-साध्य कार्य है। इस कार्य की निष्पत्ति में रूढ़ धारणाओं और कुसंस्कारों को बदलकर नये मूल्यों, विचारों और धारणाओं को स्थिरीकरण देना जरूरी है। सुधी पाठक जैन विद्या के सांस्कृतिक अवदान से अवगत होकर अपनी प्रज्ञा और चेतना को समाधान देते रहें, यह अपेक्षा है।

लाडनूं
३१ जनवरी, १९७६

आचार्य तुलसी

सम्पादकीय

साहित्य, धर्म, दर्शन, कला, विज्ञान, इतिहास एव सस्कृति के अनेक आयामो को जैन विद्या ने अपनी प्रतिभा से आलोकित किया है। इन्ही का आलोचन एव विश्लेषण उदयपुर विश्वविद्यालय के सस्कृत विभाग के तत्त्वावधान में देश के प्रख्यात चिन्तको ने २ अक्टूबर से ६ अक्टूबर १६७३ तक आयोजित विचार-सगोष्ठी के माध्यम से किया था। इस सगोष्ठी में अग्रेजी में पठित शोध-निबन्धो का प्रकाशन मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ने 'कट्रीब्यूशन ऑफ जैनिज्म टू इडियन कल्चर' के नाम से किया है। विषयो की विविधता एव प्रामाणिकता की दृष्टि से उपर्युक्त प्रकाशन भगवान महावीर के २५००वें निर्वाण वर्ष की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। इसी सगोष्ठी में पठित हिन्दी के शोध-पत्रो का यह सग्रह उसी प्रकार महत्त्वपूर्ण प्रमाणित होगा, इस आशा के साथ 'जैन विद्या का सास्कृतिक अवदान' प्रस्तुत किया जा रहा है।

आचार्यश्री तुलसी जैन धर्म एव दर्शन, साहित्य व सस्कृति के प्रकाशन, प्रचार एव प्रसार के लिए नाभिस्थान तथा दीपस्तम्भ है। उन्ही की प्रेरणा एव साधना का परिणाम है आगमो का सपादन-प्रकाशन, विद्वत्-सगोष्ठियो का वार्षिक आयोजन एव अनेक विश्वविद्यालयो मे जैन-शोध की प्रवर्तना। अणुव्रत आन्दोलन के द्वारा उन्होंने सारे देश मे नैतिकता की नवीन देशना दी है। उन्ही के आशीर्वाद का फल है प्रस्तुत प्रकाशन। मुनिश्री नथमल जी जैन विद्या के निष्णात महामनीषी हैं। उनका आशीर्वचन इस ग्रथ का तात्त्विक अलकार है। इस पुस्तक के सुयोग्य प्रबन्ध-सम्पादन के लिए हम बन्धुवर श्री कमलेश चतुर्वेदी के हृदय से कृतज्ञ हैं।

भगवान् महावीर के निर्वाण-वर्ष मे अनेक उत्सवो, समारोहो आदि का देश भर में वर्षव्यापी आयोजन हुआ। इनमें विभिन्न विश्वविद्यालयो द्वारा विश्व-विद्यालय अनुदान आयोग के आर्थिक सहयोग से विचार-गोष्ठियो का आयोजन विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। जैन मुनियो, जैन समाज तथा विश्वविद्यालय के विद्वानो के सयुक्त प्रयत्नो का ही यह सुपरिणाम है कि देश के विभिन्न नगरो

उदयपुर, जबलपुर, उज्जैन, सागर, बनारस, पटियाला, पूना, धारवाड़ आदि में प्रतिष्ठित विश्वविद्यालयों में जैन धर्म एवं दर्शन, साहित्य तथा संस्कृति के विभिन्न पक्षों का अध्ययन-अनुसंधान प्रारम्भ होगा। जैन विद्या की विश्वविद्यालयों में यह प्रतिष्ठा तथा पीठ-स्थापना अन्तत भारतीय ज्ञान-विज्ञान की गरिमा को प्रतिष्ठित करेगी तथा विश्वविद्यालय का समाज से, उसके धार्मिक एवं नैतिक स्पंदन से मूल्यवान् एवं सार्थक सम्बन्ध स्थापित करेगी। भारतीय शिक्षा की यह महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

उदयपुर विश्वविद्यालय में आयोजित संगोष्ठी में देश के मूर्धन्य विद्वानों का अपूर्व समवाय था। डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी तथा डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये का सहयोग एवं मार्गदर्शन इसे प्राप्त था। इस संगोष्ठी के शोध-पत्रों के अंग्रेजी तथा हिन्दी के प्रकाशन उन्हीं के सहयोग का परिणाम हैं। पर इस फल को देखने के लिए ये तीनों विद्वान अब इस संसार में नहीं हैं। अंग्रेजी पुस्तक के प्रकाशन के पूर्व ही डॉ० शास्त्री व डॉ० चौधरी का निधन हो गया था। अत वह कृति उन्हीं को समर्पित है। पर किसे मालूम था कि इन्हीं में वरिष्ठ विद्वान डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये को भी कृतान्त हमसे छीन लेगा। प्रस्तुत कृति सादर एवं सविनय श्रद्धा के साथ उन्हीं को समर्पित है।

कार्तिक अमावस्या, १९७५

विषयानुक्रम

राजस्थान और जैन साहित्य

मुनि जिनविजय

प्रिय विद्वद्वर आचार्य महोदय

डा० श्री रामचन्द्रजी द्विवेदी

सेव मे सादर निवेदन कि

आपका एक कृपा-पत्र कुछ समय पहले मुझे मिला। यह जानकर बहुत हर्ष हुआ कि आपकी अध्यक्षता मे उदयपुर युनिवर्सिटी के तत्वावधान मे, जैन सस्कृति से सबद्ध एक सेमिनार का आयोजन किया जा रहा है। जिस पुण्यभूमि पर उदयपुर विश्वविद्यालय अवस्थित है वह भूमि युगातीत काल से भारत की समुच्चय सस्कृति का एक महत्त्व का केंद्र रही है। महाकवि चक्रवर्ती सम्राट श्री हर्ष ने आधारभेद पाद का प्रात.स्मरणीय उल्लेख किया है। जैन और बौद्ध दोनो सप्रदाय वाले इस स्तुति का पाठ किया करते हैं पुरातत्त्ववेत्ताओ ने इस भूमि के विषय मे बहुत कुछ सशोधनात्मक कार्य किये हैं।

जैन सप्रदाय की दृष्टि से भी विचारा जाय तो इस भूमि के आधिपत्य वाले प्रदेश मे, जैन सस्कृति और जैन साहित्य का प्रभाव विशेष स्थान रखता है। जिस समय गुहिलोत वश के प्रतिष्ठापक बापा रावल ने इस भूमि को अपना कर्मक्षेत्र बनाया उससे भी बहुत पहले जैन धर्म-गुरुओ ने इस प्रदेश की जनता को दान, दया, सदाचार विषय के सदुपदेशो से यथेष्ट सस्कार-सपन्न करने का सतत प्रयत्न किया है। जैन इतिहास के अनेक प्रकरण इस भूमि की महत्ता प्रकट करते हैं। जैन साहित्यकारो ने इस भूमि के अनेक गावो और नगरो मे निवास कर छोटी-बडी हजारो साहित्यिक कृतियो का प्रणयन कर समुच्चय भारती भडार को सुसमृद्ध किया है।

आप विद्वज्जनो ने जैन सस्कृति विषयक विद्वद्विचार गोष्ठी का जो सुन्दर आयोजन किया है, एतदर्थ मेरा अनेकानेक हार्दिक अभिनन्दन है।

मेरा स्वास्थ्य अब अत्यधिक क्षीण हो रहा है इसलिए मैं आप द्वारा आयोजित

प्राकृत-अपभ्रंश भाषा-ज्ञान की पूर्णता

जैसा कि अभी-अभी कहा है प्राकृत भाषाओं पर पांच संगोष्ठियां देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में आयोजित हुई हैं और उनका स्पष्ट निष्कर्ष है कि किसी भी भारतीय भाषा को, चाहे वह भारोपीय परिवार की हो या द्रविड परिवार की या अन्य किसी परिवार की, हम न उसकी उत्पत्ति को और न उसके विकास को पहचान पायेंगे जब तक कि प्राकृत-अपभ्रंश के उत्स तक न पहुंच जाएं। इस दृष्टि से प्राकृत के अध्ययन का एक विशेष महत्त्व है। जहां संस्कृत भाषा का अध्ययन भारोपीय परिवार की भाषाओं के तत्सम और तद्भव रूपों को समझने में हमारी सहायता करता है वहां प्राकृत-अपभ्रंश का अध्ययन भारोपीय परिवार की भाषाओं के देशज शब्दों को समझने में, (जिनकी व्याख्या संस्कृत नहीं कर पाती) और इसके अतिरिक्त अन्य अनेक भाषा परिवारों के शब्दों की उत्पत्ति और विकास को जानने में वह बहुत हद तक एकमात्र माध्यम है। इस प्रकार एक ओर तो भारोपीय भाषाओं के संदर्भ में प्राकृत का संस्कृत के समानान्तर महत्त्व है और दूसरी ओर देशज शब्दों की पहचान में उनके एकाधिकार का भी महत्त्व है।

जैन साहित्य : लोकधर्म का संदेशवाहक

भारतीय साहित्य विभिन्न धाराओं में विभक्त संस्कृतियों का संदेशवाहक रहा है। इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतीय साहित्य में लौकिकता (सेक्यूलरिज्म) से संपृक्त वाङ्मय विशाल है। किंतु बहुत कुछ साहित्य धर्म, संस्कृति तथा दर्शन के सूत्रों की व्याख्या के लिए ही प्रणीत हुआ है। इसीलिए बौद्ध साहित्य निर्वाण, क्षणिकता, अनात्मा और शांति के संदेश को मुखरित करता है और ब्राह्मण साहित्य ब्रह्म अथवा ईश्वर तथा आत्मा की अमरता को वाणी प्रदान करता है। श्रमण संस्कृति का साहित्य जीव की नैतिक साधना के लिए पुद्गल के आस्रव का संवर और निर्जरा के माध्यम से उसके मोक्ष की निरंतर साधना करता है। सारे कथ्य, कथाबंध, शिल्प किंवा साहित्य के समग्र उपादान उसी साध्य को अभिव्यक्त करने के साधन हैं। समग्र दृष्टि से देखें तो ऐसा प्रतीत होगा कि जैन, बौद्ध, ब्राह्मण साहित्य ने 'कला कला के लिए' इस पाश्चात्य आदर्श वाक्य को कभी नहीं स्वीकारा। अतः जैन संस्कृति पर आश्रित साहित्य का केंद्र बिंदु सदा निश्चित और सुदृढ़ रहा है। केंद्रीय बिंदु की इस एकाग्रता के साथ ही जैन साहित्यकार ने शिल्प, विधा या कला की दृष्टि से ऐसा कुछ भी नहीं है जिसे उसने न अपनाया हो। इस अर्थ में वह भारतीय साहित्यकार का सच्चा सहकर्मी रहा है। सहधर्मी होकर भी उसने साहित्य के अनेक शिखर स्थापित किये हैं। अतः कालिदास का प्रसाद, पुराणों की मिथक संपदा, महाभारत की सर्वांगीणता एवं विशालता, माघ-भारवि-

श्रीहर्ष जैसे कवियो की शिल्प-प्रियता, दंडी, बाणभट्ट का गद्य सौंदर्य, पचतंत्र, हितोपदेश, जातक आदि का कथा-वैभव तथा रूपक के विभिन्न रूप जैन-वाड्मय मे समानातर रूप मे उपलब्ध है। शिल्प किंवा कला की समानातरता का सहभागी होने के साथ लोकभाषा को अपनाने से इस साहित्य मे लोकधर्मिता के जो तत्त्व सहज रूप मे आये है वे श्रेणिक भाषा मे, जो कि देवताओ की भाषा थी, मनुष्यो की नही, उपलब्ध नही थे।

जैन धर्म-दर्शन . मनुष्य-केंद्रित साधना द्वारा पूर्णता (मोक्ष) की प्राप्ति

भारतीय धर्म और दर्शन के तीन निश्चित प्रस्थान हैं। एक तो शाश्वत आत्मवाद, जो आत्मा को शाश्वत, अजर, अमर, निर्विकार स्वीकार करता है। दूसरा है बौद्धो का नैरात्म्यवाद जो कि आत्मा, परमात्मा आदि के अस्तित्व को ही नही स्वीकारता। ये दोनो एकान्त दृष्टिया है, एक-दूसरे से विपरीत। इन दो एकान्त दृष्टियो का खडन करते हुए जैन दर्शन की मान्यता है कि न तो आत्मा (जीव) को अस्वीकार किया जा सकता है और न उसे सभी स्थितियो मे पूर्ण और निर्विकार माना जा सकता है। क्षणभगुर मानने मे समग्र नैतिक एव धार्मिक साधना और अपूर्णता से पूर्णता की ओर मनुष्य की दृष्टि तत्त्वत अर्थहीन हो जायेगी। उसे पूर्ण और निर्विकार स्वीकार करने पर साधना या अनुष्ठान की आवश्यकता ही नही रहेगी और न पुण्य-पाप की, सुख-दुःख की व्याख्या की जा सकेगी। अत शाश्वत एव निर्विकार आत्मवाद तथा नैरात्म्यवाद के विपरीत जैन दर्शन उस जीव को प्रतिष्ठित करता है, जो अपनी मोक्ष-साधना मे निरतर लगकर अपूर्ण से पूर्ण बनता है। पूर्णता की यह साधना किसी ईश्वरीय अनुग्रह का परिणाम न होकर जीव की अपनी तपस्या और साधना की अतिम परिणति है। इस प्रकार जैन धर्म और दर्शन मनुष्य केंद्रित साधना का धर्म और दर्शन है। यही कारण है कि इसमे आचार की जो प्रतिष्ठा और सूक्ष्म व्याख्या है, वह अन्यत्र उपलब्ध नही होती।

स्पष्टत कहा गया है कि सम्यक् दर्शन (श्रद्धा), ज्ञान और चरित्र तीनो मिलकर मोक्ष का मार्ग है। हिंदू तथा बौद्ध के अनुसार दर्शन, ज्ञान या भक्ति के माध्यम से मोक्ष या निर्वाण का पा सकना सभव है। किंतु जैन दृष्टि के अनुसार चरित्र (आचार) की सिद्धि के बिना मोक्ष पाना सभव नही है। मनुष्य को मोक्ष-साधना का केंद्र मानने से यह अत्यन्त स्वाभाविक हो गया कि आध्यात्मिक, मानसिक, भौतिक अथवा अन्य किसी स्तर पर हिंसा को स्वीकार ही न किया जा सके। हिंदू धर्म मे वैदिक हिंसा को स्वीकार कर लिया गया था और बौद्ध दर्शन मे स्वय तथागत ने कुछ अपवाद प्रतिष्ठित कर दिये थे। किंतु जैन धर्म की दृष्टि यह कभी नही स्वीकार कर सकती कि एक प्राणी दूसरे प्राणी का मनसा-वाचा-

कर्मणा या अन्य किसी प्रकार से हिंसक होकर भी पूर्णता (मोक्ष) की साधना कर सकता है।

वर्तमान संदर्भ अहिंसा की साधना

आज के समाज की व्यथा की यदि किसी एक शब्द से व्याख्या हो सकती है तो वह है हिंसा। आणविक अस्त्रों का संत्रास, परिवेश (इनवार्नमेंट) के मिट जाने का भय, शक्तिशाली राष्ट्र एवं समाज द्वारा शोषण की पीड़ा, दरिद्रता, मानसिक-शारीरिक निर्बलता ये सब हिंसा को व्यक्त करती हैं। और सृष्टि के इतिहास में पहली बार यह भय खड़ा हो गया है कि कहीं मनुष्य का अस्तित्व ही निकट भविष्य में न समाप्त हो जाए। इस विभीषिका का एक ही समाधान है और वह है—अहिंसा का सिद्धान्त। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि शायद छोटे-छोटे गणों में विभक्त महावीर-काल के परस्पर संघर्षशील समाज के समक्ष इस अहिंसा की उतनी आवश्यकता नहीं थी क्योंकि महावीर के संदेश को सर्वात्मना स्वीकार न करके भी विश्व का समाज अपनी आयु के २५०० वर्ष तो बिता ही चुका है लेकिन आगे भी इतने वर्ष बिता पायेगा इसमें वैज्ञानिकों को पूरा संदेह है। आचार-धर्म का मूल अहिंसा है। समग्र आचार-धर्म उसी सिद्धान्त के पल्लवन हैं। किसी विशिष्ट आचार व रीति का उतना महत्त्व नहीं है, जितना कि मूल का। एकाध पत्ता भले टूट जाए, देश और काल के निमित्त से प्रवर्तित कोई आचार हमसे भले छूट जाए, लेकिन मूल नहीं सूखना चाहिए। अहिंसा मूल है, आचार विशेष पल्लव।

जैन कला सौंदर्य एवं अध्यात्म की स्वतंत्र अभिव्यक्ति

जैसा कि भारतीय साहित्य के संदर्भ में कहा गया, बहुत कुछ वही कलाकृतियों के संदर्भ में चरितार्थ है। दोनों ही कवि-मन के बाह्य रूप हैं। उपकरण भिन्न हैं। सृजन-धर्म का मूल एक है। कला की विविधा जो बौद्ध और हिंदू कलाकृतियों में प्राप्त होती है उस सब को अपनाकर भी अपनी चिंतन-दृष्टि के भेद के कारण जैन कलाकृतियां समान होकर भी विशिष्ट हैं। समानता में यह भिन्नता उसकी स्वतंत्रता का प्रमाण है। यह स्वतंत्रता ही साहित्य अथवा कलाकृति का वास्तविक उत्कर्ष बिंदु होता है। जैन कला ने सौंदर्य और अध्यात्म दोनों की अभिव्यक्ति में अपनी मौलिकता को बनाये रखा है।

जैन विद्या का प्रचार-प्रसार दृष्टि का खुलापन

जैन विद्या के प्रचार-प्रसार के लिए सबसे पहले तो जैन समाज को अपनी दृष्टि बदलनी होगी, उसके बाद शेष समाज को। विद्या की भावना को केवल कुछ

क्षण के लिए धार्मिक अनुष्ठान का अंग न मानकर इसे खुली हवा मे ले जाने के लिए जैन समाज को मन से और कर्म से तैयार होना होगा। इसका अर्थ है कि पाडुलिपियो के रूप मे जो अपार सम्पदा मदिरो मे मात्र पूजा के लिए सुरक्षित है और जिसकी वर्ष मे एकाध यात्रा बाहरी दुनिया के सामने हो जाती है उसे राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अध्ययन और मनन के लिए सुलभ बनाया जाए। पाडु-लिपियो के मदिर के पट खोलने के लिए युग-युग के पुजारी को तैयार हो जाना चाहिए। पर जैन समाज की यह तैयारी काफी नही है। ग्रथ के विनाश के जिस भय और आतक के कारण उसे इस ग्रथ-सपदा को सुरक्षित रखने को बाध्य होना पडा उसका कारण न केवल उनको विनष्ट करना था बल्कि जैनेतर समाज की वह मनोवृत्ति भी थी जिसने कहा था न गच्छेत् जैनमदिर। अत दोनो को ही नयी समझ के लिए अपने को तैयार करना होगा। विश्वविद्यालय और विद्या के दूसरे प्रतिष्ठानो को भी यह सोचना होगा कि साम्प्रदायिक होना एक बात है और सम्प्रदायविशेष का सपूर्ण अध्यवसाय और निष्ठा के साथ अध्ययन करना दूसरी बात है। यह दुर्भाग्य है कि यूरोपीय, अमेरिकी या रूसी भाषा, साहित्य और समाज को जानने के लिए भारतीय विश्वविद्यालयो के पाठ्यक्रम मे व्यवस्था आसान है, लेकिन भारतीय भाषा, साहित्य व सस्कृति को विश्वविद्यालय स्तर तक प्रवेश दिलाना दुष्कर कार्य है। और इस कार्य मे साप्रदायिकता को प्रश्रय देने का आक्षेप पहले किया जाता है। अत समाज और शैक्षणिक जगत् मे समन्वय अनिवार्य है। मनोवृत्तियो के इस भरत-मिलाप के बाद जिन कार्यों से जैन विद्या का प्रचार और प्रसार सचमुच सफल हो सकेगा, उनमे से कतिपय निम्नाकित हैं

१ श्रेणिक भाषा (क्लासिकल लैंग्वेज) और साहित्य के साथ प्राकृत भाषा और साहित्य का अध्ययन पाठ्यक्रम का अनिवार्य अग बने।

२ आधुनिक भारतीय भाषाओ के प्राचीन रूप के पाठ्यक्रम के साथ अपभ्रश आदि सम्बद्ध भाषा का अध्ययन अनिवार्यत निर्धारित किया जाना चाहिए।

३ छात्रवृत्तियो का अधिकाधिक समायोजन किया जाना चाहिए जिन्हें निश्चित रूप मे जैन और जैनेतर मे भेद न करके पढने वाले छात्रो को योग्यता-नुसार दिया जाना चाहिए।

४ प्राकृत के अध्ययन एव अनुसधान को मानक स्तर प्रदान करने के लिए प्रत्येक प्रदेश के कम-से-कम एक विश्वविद्यालय मे जैन विद्या के अध्ययन के लिए आसन स्थापित किया जाना चाहिए जो पूर्वत स्थापित सस्कृत अथवा आधुनिक भारतीय भाषाओ के साथ सबद्ध होकर कार्य करे।

५ प्रारभ मे स्तर की एकरूपता स्थापित करने के लिए अ० भा० स्तर पर सगोष्ठी के माध्यम से विभिन्न श्रेणियो के लिए समान पाठ्यक्रम का विधान करना

चाहिए। इसी विधान के अनुरूप पाठ्यक्रम मे निर्धारित पुस्तको का अनुवाद एव टिप्पणियो के साथ समालोचनात्मक सस्करण प्रकाशित किये जाएं जो मूल्य की दृष्टि से भी छात्रोपयोगी हो। प्राकृत पढने वालो की सख्या प्रारम्भ मे कम होगी इसलिए यह कार्य और भी आवश्यक है।

६ अनुसधान को आगे बढाने के लिए सभी पाडुलिपियो की विस्तृत एवं पूर्ण सशोधित ग्रथ-सूची प्रकाशित हो। उनमे से आवश्यक ग्रंथो का चयन एव सपादन कर उन्हे प्रकाशित करना चाहिए। ग्रथो के आलोचनात्मक सपादन मे तुलनात्मक दृष्टि नितान्त अपेक्षित है ताकि एक ओर उसे संस्कृत की धारा से और दूसरी ओर आधुनिक भारतीय भाषाओ की धारा से उन्हे जोडा जा सके।

७ चूकि जैन विद्या के महत्त्व की जानकारी अभी भारतीय समाज को नही है इसलिए यह आवश्यक है कि इसके विभिन्न पक्षो पर देश के कोने-कोने मे निरंतर सगोष्ठिया की जाए जिसमे वहा के समाज को भी अपने साथ मे सम्मिलित किया जाए ताकि जैन विद्या के गौरव के सबध मे भारतीय जनचेतना जागृत हो सके। यह जागृति ही जैन विद्या के प्रसार-प्रचार का सर्वोत्तम उपाय है, जो अन्य उपाय स्वत खोज लेगा।

संगोष्ठी का सिंहावलोकन

डा० प्रेम सुमन जैन
(संयोजक, संगोष्ठी)

समायोजन का आधार

उदयपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग ने १९७१ में परा-स्नातक कक्षाओं में प्राकृत वर्ग तथा प्राकृत की प्रमाणपत्रीय परीक्षा प्रारम्भ कर विश्वविद्यालय स्तर पर प्राकृत के अध्ययन एवं अनुसंधान का राजस्थान में विधिवत् श्रीगणेश किया। इसके पूर्व ही भट्टारक सकलकीर्ति और उनके साहित्य पर एक शोध-छात्र अपना अनुसंधान-कार्य प्रारम्भ कर चुके थे और १९७१ में ही इन पंक्तियों के लेखक ने 'कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन' विषय में अनुसन्धान उपाधि के लिए पंजीयन करा लिया था। इस प्रकार प्राकृत के प्रारम्भिक अध्येता तथा अनुसन्धान के छात्रों तक की प्राकृत में शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था इस विश्वविद्यालय ने सन् १९७१ तक कर दी थी, जो अब तक सुचारू रूप से चल रही है। इस प्रदेश के दूसरे विश्वविद्यालयों में भी इस प्रकार का कार्य- प्रारंभ हो, इसकी इस निर्वाण-वर्ष में हम सभी कामना करते हैं।

राजस्थान में प्राकृत-अध्ययन की सुदृढ़ आधार शिला रखने के लिए तथा जैन विद्या का अन्य भारतीय विद्याओं की तुलना में मूल्यांकन करने के लिए यह आवश्यक था कि देश के लब्ध-प्रतिष्ठित विद्वानों की एक संगोष्ठी की जाए जो भगवान् महावीर के निर्वाण-दिवस की वेला में अपने चिन्तन का अर्घ्य समर्पित कर सके। साथ ही इस संस्कृत विभाग को अध्ययन-अनुसन्धान की सुविचारित दिशा-बोध भी दे सके। इन्हीं प्रमुख लक्ष्यों और प्रयत्नों का परिणाम था अक्तूबर, १९७३ की यह संगोष्ठी। इसके पूर्व भी दिसम्बर १९६८ में 'प्रिंसिपल्स ऑफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत' विषय को लेकर एक सफल संगोष्ठी प्रवर्तित करने का श्रेय विभाग को प्राप्त था, जो जैन विद्या विषयक संगोष्ठी के सफल समायोजन का आधार बना।

इस विचार-गोष्ठी के लिए विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से आर्थिक अनुदान प्राप्त करने हेतु लम्बे प्रयत्न के लिए संस्कृत विभाग के अध्यक्ष तथा संगोष्ठी के निदेशक डा० रामचन्द्र द्विवेदी, तत्कालीन उपकुलपति डा० गणेश सखाराम महाजनी, वर्तमान पूना विश्वविद्यालय के कुलपति तथा उदयपुर विश्वविद्यालय के वर्तमान उपकुलपति डा० पृथ्वीसिंह लाम्बा को स्मरण करना आवश्यक है। डा० दौलतसिंह कोठारी, तत्कालीन अध्यक्ष, विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, दिल्ली की ही यह समझ तथा सदाशयता थी कि उन्होंने आयोग की ओर से इस संगोष्ठी के आयोजन के लिए अनुदान की स्वीकृति प्रदान की।

अभी तक देश में जो सेमिनार कोल्हापुर, पूना, बंबई, बोधगया तथा अहमदाबाद में हुए थे वे मूलतः प्राकृत भाषा को लेकर थे। इसके अतिरिक्त अहिंसा सिद्धान्त को लेकर भी छिटपुट विचार-गोष्ठियां विश्वविद्यालयों में हुई थी, जिनमें जैन-धर्म व दर्शन के अवदान की चर्चा भी प्रासंगिक रूप से हुई थी। किन्तु जैन विद्या को साक्षात् विषय के रूप में लेकर तथा उसके सभी आचार्यों को तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास अभी तक नहीं हुआ था। इसके पीछे विभिन्न बाधाएं व कारण रहे हैं, जिन्हें इस संगोष्ठी के आयोजन ने पहली बार चुनौती दी है। क्योंकि आयोजकों का यह सोचना रहा है कि किसी भी भारतीय विश्वविद्यालय का यह प्रथम दायित्व है कि समाज जिन चीजों पर सोचता-विचारता है, जिसके लिए उसका हृदय निरंतर स्पंदित होता रहता है, उन विषयों के अध्ययन एवं अनुसन्धान की व्यवस्था वह करे। अन्यथा समाज और विश्वविद्यालय शिक्षा का कोई ताल-मेल नहीं बैठेगा, जो भारतीय पृष्ठभूमि में हितकर नहीं कहा जा सकता। संगोष्ठी किये जाने का संकल्प इन ऊहापोहों से गुजरकर स्वीकृत हुआ, यह हर्ष का विषय है।

इस संगोष्ठी का विषय -'जैन विद्या का भारतीय संस्कृति को अवदान' सर्वथा नया था। अतः इसमें प्राच्य विद्या के प्रायः सभी विषयों दर्शन, धर्म, भाषा, साहित्य, कला, विज्ञान, इतिहास, पुरातत्त्व आदि से सम्बन्धित उन विद्वानों को आमन्त्रित किया गया, जो जैन विद्या के अध्ययन में भी अपनी रुचि रखते थे। जैन धर्म व दर्शन के मूर्धन्य विद्वान् इसमें सम्मिलित थे ही। जम्मू, दिल्ली, वाराणसी, बोधगया से लेकर बम्बई, पूना, बंगलौर, कर्नाटक एवं मैसूर तक के विद्वान् आमन्त्रित थे। गुजरात, मध्यप्रदेश एवं राजस्थान के विद्वानों का पूर्ण सहयोग इसमें प्राप्त था। अतिथि विद्वानों की उपस्थिति जापानी विद्वान् सुचिहासी के पदार्पण से ही प्रारम्भ हुई। इस प्रकार सभी वर्ग एवं विषयों के विद्वान् इस संगोष्ठी में सम्मिलित हुए।

उद्घाटन-समारोह

संगोष्ठी का आयोजन २ से ६ अक्टूबर, १९७३ तक उदयपुर विश्वविद्यालय के आधारभूत विज्ञान एव मानविकी सस्थान के सभाकक्ष मे सम्पन्न हुआ। उद्घाटन-समारोह मे संगोष्ठी के निदेशक डा० रामचद्र द्विवेदी ने समागत विद्वानो का स्वागत करते हुए अपने ढग की इसे प्रथम संगोष्ठी वतलाया तथा कहा कि इसके आयोजन द्वारा जैन विद्या का भारत के सास्कृतिक विकास मे जो योगदान है वह अधिक स्पष्ट हो सकेगा। उद्घाटनकर्ता उपकुलपति डा० पृथ्वीसिंह लाम्बा ने अपने अभिभाषण मे न केवल भारतीय भाषा, साहित्य, कला और आध्यात्मिक चेतना के उत्थान मे जैन विद्या के गहरे सवध को उजागर किया, अपितु यह आशा भी व्यक्त की कि यह संगोष्ठी जैन साहित्य और धर्म-दर्शन के मूल्याकन तथा अध्ययन-अनुसधान मे महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष दे सकेगी। समारोह के अध्यक्ष डा० मोहनलाल मेहता ने अपने भाषण मे इस भ्रम का निवारण किया कि जैन साहित्य किसी सम्प्रदाय या धर्म विशेष का साहित्य है। संगोष्ठी के सयोजक डा० प्रेम सुमन जैन ने अतिथियो का धन्यवाद-ज्ञापन करते हुए भगवान महावीर के २५००वे निर्वाण महोत्सव के सदर्भ मे संगोष्ठी की महत्ता को स्पष्ट किया।

जैन विद्या की इस संगोष्ठी के छह अधिवेशनो मे विभिन्न विषयो से सवधित साठ शोध-निवध प्रस्तुत किये गये, जिनका प्रकाशन अग्रेजी एव हिंदी मे अलग-अलग हो रहा है। संगोष्ठी मे पठित निवधो का सक्षिप्त विवरण यहा प्रस्तुत है।

भाषा एव साहित्य

संगोष्ठी के उद्घाटन समारोह के वाद पत्र-वाचन का शुभारंभ भाषा एव साहित्य से सवधित निवधो द्वारा हुआ। २ अक्टूबर, १९७३ के इस मध्याह्न कालीन अधिवेशन के अध्यक्ष थे डा० टी० जी० कलघाटगी, प्राचार्य, कर्नाटक आर्ट्स कालेज, धारवाड एव सचिव थे डा० कैलाशचद्र जैन, विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन। सर्वप्रथम डा० कलघाटगी ने 'जैनिज्म इन कर्नाटक' नामक निवध का वाचन करते हुए दक्षिण भारत मे जैन धर्म के प्रभाव का विवेचन किया तथा इस परपरा का भी उल्लेख किया कि भगवान महावीर ने भी सभवत दक्षिण भारत का भ्रमण किया था। डा० के० सी० जैन एव डा० एन० एच० समतानी ने इस परपरा को ऐतिहासिक साक्ष्यो से रहित वतलाया।

द्वितीय निवध—'भट्टारक सकलकीर्ति का संस्कृत चरितकाव्य को योगदान' श्री विहारीलाल जैन (उदयपुर) द्वारा पढा गया। डा० कासलीवाल, डा० दलाल एव डा० के० सी० जैन के विचार-विमर्श द्वारा भट्टारक और साधु तथा चरित और पुराण-काव्य का भेद स्पष्ट हुआ। डा० कस्तूरचद कासलीवाल (जयपुर) ने 'ग्रथो

की सुरक्षा मे राजस्थान के जैनो का योगदान' नामक तृतीय निबंध का वाचन किया। इस निबंध पर हुए प्रश्नोत्तरो से स्पष्ट हो सका कि राजस्थान की जलवायु एव राजकीय संरक्षण के कारण इस प्रदेश मे सर्वाधिक ग्रथ-भंडार स्थापित हो सके है तथा जैन साधुओ के उदार दृष्टिकोण एव शिक्षण पद्धति के कारण विभिन्न भाषाओ और विषयो के ग्रथ सुरक्षित रखे गये है। श्री पी० एस० जैन, डा० समतानी, डा० जी० एन० शर्मा एव श्री वी० एस० मेहता ने इस प्रपत्र के विचार-विनिमय मे भाग लिया।

डा० वी० आर० नागर, उदयपुर ने 'जैन कण्ट्रीब्यूसन टू संस्कृत पोयट्री' नामक निबंध मे न केवल जैन संस्कृत काव्यो का साहित्यिक मूल्याकन प्रस्तुत किया, अपितु लौकिक संस्कृत के काव्यो के साथ उनकी तुलना भी प्रस्तुत की। डा० आर० सी० द्विवेदी ने इस निबंध का महत्व प्रतिपादित करते हुए कहा कि जैन कवियो द्वारा विशुद्ध साहित्यिक रचनाए भी प्रस्तुत की गयी है, जिनको नकारा नही जा सकता। डा० समतानी ने बौद्ध-साहित्य के परिप्रेक्ष्य मे जैन संस्कृत काव्य की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया। इस अधिवेशन का अतिम निबंध डा० के० के० शर्मा (उदयपुर) द्वारा पढा गया। 'कण्ट्रीब्यूसन आफ प्राकृत एण्ड अपभ्रंश इन द डवलपमेट आफ माडर्न इडो-आर्यन लैंग्वेजेज' नामक इस निबन्ध मे डा० शर्मा ने आधुनिक भारतीय भाषाओ के उन अनेक शब्दो की व्याख्या प्रस्तुत की जो प्राकृत एव अपभ्रंश से सीधे ग्रहण किये गये है। डा० कलघाटगी ने अध्यक्षीय वक्तव्य मे कहा कि आज सबसे बडी आवश्यकता विभिन्न भाषाओ के जानकार और दार्शनिको मे तालमेल बैठाने की है, तभी साहित्य और दर्शन का महत्व आका जा सकेगा। प्राकृत भाषा जैनो की न होकर जनसामान्य की है। इसी प्रकार जैन साहित्य भी केवल जैन दर्शन का प्रतिपादन नही करता, अपितु वह भारतीय संस्कृति का सवाहक भी है।

भाषा और साहित्य से सबधित कुछ निबंध सगोष्ठी के अन्य अधिवेशनो मे भी पढे गये। डा० उषा सत्यव्रत, दिल्ली ने 'मोहपराजय : ए जैन एलीगोरिकल प्ले'-नामक निबंध मे नाटक की विशेष विधा पर प्रकाश डाला। निबंध पर हुए विचार-विनिमय से ज्ञात हुआ कि प्रतीकात्मक शैली मे लिखित रचनाए उस समय अधिक प्रभावक होती थी। जैन लेखको ने इस विधा का सूत्रपात कर साहित्य को नई दिशा प्रदान की है। डा० भोगानी, डा० द्विवेदी, डा० नागर एव डा० सत्यव्रत शास्त्री ने इस निबंध के विचार-विनिमय मे भाग लिया। श्री अगरचन्द नाहटा (बीकानेर) ने 'आचार्य भद्रबाहु और हरिभद्र की अज्ञात रचनाए' नामक अपने निबंध मे इन लेखको की रचनाओ का परिचय दिया।

भद्रबाहु के समय आदि के सम्बन्ध मे डा० के० सी० जैन एव डा० वी० एम० जावलिया ने विचार-विमर्श किया, जिसमे उन्हे वराहमिहिर के समकालीन

स्वीकार किया गया। डा० एच० सी० भयाणी (अहमदावाद) ने 'द इवोल्यूसन आफ सनत्कुमारचरिअ' नामक निवध मे प्राकृत की इस रचना का मूल्याकन प्रस्तुत किया। सनत्कुमार को वारह चक्रवर्तियो मे से एक माना गया है। डा० देवेंद्र-कुमार शास्त्री ने 'कट्रीव्यूसन आफ अपभ्रंश टू इडियन लैंग्वेजेज' नामक निवध मे भारतीय भाषाओं मे अपभ्रश के दाय को अनेक उदाहरणो द्वारा स्पष्ट किया। डा० समतानी के इस प्रश्न पर कि सिंधी भाषा का व्राचड अपभ्रश से क्या सवध है, डा० भयाणी ने स्पष्ट किया कि व्राचड अपभ्रश का उल्लेख व्याकरण एव अलकार ग्रथो मे नही मिलता। भोज ने ही विभिन्न अपभ्रशो के नाम गिनाये है, यद्यपि सिंधी आदि आधुनिक भाषाओ का अपभ्रश के विभिन्न रूपो से घनिष्ठ सवध है।

धर्म एव दर्शन

जैन धर्म एव दर्शन से सवधित शोध-निवध सगोष्ठी के दो अधिवेशनो मे पढे गये। अहिंसा का सिद्धात जैन धर्म की धुरी है। अन्य धर्मो मे भी अहिसा के विभिन्न रूप स्वीकृत है। अत. सगोष्ठी मे अहिसा पर व्यापक चर्चा हुई। डा० हुकमचद भारिल्ल ने 'जैन दर्शन मे अहिसा' विषय पर प्रकाश डालते हुए अहिसा के सैद्धान्तिक पक्ष को पुष्ट किया। वीतराग आत्मा के स्तर से अहिसा को समझना कुछ विद्वानो को व्यावहारिक नही लगा। डा० कमलचद सोगानी ने कहा कि अहिसक होने के लिए वीतरागी होना अनिवार्य शर्त नही है। और डा० कलघाटगी ने जीवो के प्रति आदरभाव को ही अहिसा माना तथा उसके विधेयात्मक पक्ष पर वल दिया। डा० घडफले एवं डा० नारायण समतानी ने प्रश्नोत्तरो द्वारा वौद्धधर्म के सदर्भ मे अहिसा की व्याख्या की तथा जैन धर्म की अहिसा को अधिक सूक्ष्म वतलाया। प्रो० चादमल कर्णावट ने अहिंसा के व्यावहारिक पक्ष को स्पष्ट किया तथा डा० मनोहरलाल दलाल ने वुद्ध-सहिता के परिप्रेक्ष्य मे अहिसा-पालन की सभावनाओ पर विचार किया। जैन धर्म मे अहिसा विषयक मान्यताओ का अधिक स्पष्टीकरण प० दलसुख भाई मालवणिया के 'भगवान महावीर की अहिसा' नामक निवध-वाचन मे हुआ। आपने अहिसा के विभिन्न दृष्टिकोणो पर प्रकाश डाला।

सगोष्ठी मे अहिंसा को प्रतिपादित करनेवाले अन्य निवध भी पढे गये। डा० एम० जी० घडफले का 'सम आफ-सूट्स आफ द डाक्ट्राइन आफ नान-वॉयलेन्स एज इम्प्लाइड इन द जैन फिलासॉफी', डा० दयानद भार्गव का 'सम चीफ करैक्ट-रिस्टिक्स आफ द जैन कसेप्ट आफ नान-वॉयलेन्स', डा० नारायण समतानी का 'नान-वॉयलेन्स वाइस-ए-वाइस मैत्री वुद्धिस्ट एड जैन एप्रोच' तथा डा० आई० सी० शर्मा का 'इफलूएन्स आफ जैनिज्म आन महात्मा गाधीज् कसेप्ट आफ नान-व्यायलेन्स' आदि निवध सगोष्ठी मे अधिक चर्चित हुए।

जैन दर्शन के क्षेत्र में संगोष्ठी में चर्चा का प्रमुख विषय जैन प्रमाण-मीमांसा था। विषय-प्रतिपादन किया डा० रामचंद्र द्विवेदी ने अपने 'डिफाइनिंग द प्रमाण' नामक निबंध से। आपने इस पत्र में प्रमाण की परिभाषा पर विचार करते हुए जैनाचार्यों के विभिन्न मतों की समीक्षा की। समंतभद्र सिद्धसेन एवं अकलंक की प्रमाण संबंधी परिभाषाओं के संबंध में डा० मोहनलाल मेहता ने भी जानकारी दी तथा डा० नारायण समतानी ने बौद्ध आचार्यों के प्रमाण-संबंधी विचार प्रस्तुत किये। जैन प्रमाण-शास्त्र के इस विषय को डा० गोकुलचन्द्र जैन ने और आगे बढ़ाया। उन्होंने अपने निबंध 'भारतीय प्रमाण-शास्त्र को जैन दर्शन का योगदान : प्रत्यक्ष प्रमाण के विशेष संदर्भ में' द्वारा जैन दृष्टिकोण से प्रत्यक्ष प्रमाण का विवेचन प्रस्तुत किया। डा० कलघाटगी ने प्रत्यक्ष प्रमाण को मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया। डा० मेहता ने परोक्ष और प्रत्यक्ष प्रमाण का अन्तर स्पष्ट किया तथा डा० द्विवेदी ने अन्य दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में प्रत्यक्ष प्रमाण के भेद-प्रभेदों की चर्चा की।

जैन प्रमाण मीमांसा के विवेचन को गति दी साध्वीश्री संघमित्राजी ने। आपने अपने निबन्ध 'जैनाचार्यों की शब्द-विज्ञान को देन' द्वारा शब्द प्रमाण के स्वरूप एवं आवश्यकता को स्पष्ट किया। डा० मोहनलाल मेहता का निबंध 'कंट्रीब्यूशन आफ जैनिज्म टू इंडियन फिलॉसफी' एवं डा० भागचन्द जैन का निबन्ध 'कन्ट्रीब्यूशन आफ जैनिज्म टू द डवलपमेंट आफ बुद्धिज्म' जैन धर्म एवं दर्शन के व्यापक क्षेत्र को छूते थे। अतः द्रव्यविवेचन, गुणस्थान, ज्ञानमीमांसा आदि अनेक बिन्दुओं पर विद्वानों ने विचार-विमर्श किया। डा० विमलप्रकाश जैन के निबन्ध 'कन्ट्रीब्यूशन आफ जैन-योग इन द प्रेक्टिस आफ स्प्रिचुअल एडवांसमेण्ट' तथा डा० जे० सी० सिकदार के 'जैन कन्सेप्ट्स आफ स्पेस' ने दर्शन की चर्चा को नया मोड़ दिया। डा० ए० एन० उपाध्ये ने इन पत्रों के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला। डा० कमलचंद सोगानी का निबंध 'जैन एथीकल थ्योरी' काफी चर्चित हुआ। आपने जैन आचारशास्त्र के सैद्धान्तिक विवेचन के साथ-साथ उसके व्यावहारिक पक्ष को भी स्पष्ट किया। व्यक्ति और समाज के उत्थान में जैन आचार संहिता की उपयोगिता पर डा० सोगानी ने नया चिंतन प्रस्तुत किया। डा० विष्णुप्रसाद भट्ट ने जैन आचारशास्त्र के कुछ बिन्दुओं का उपनिषदों की विचार-धारा से तुलनात्मक अध्ययन अपने 'सम जैन एथीकल कान्सेप्ट्स एण्ड द बृहदारण्यक उपनिषद्' नामक निबंध द्वारा प्रस्तुत किया।

संगोष्ठी के इस विभाग में कुछ ऐसे भी निबंध प्राप्त हुए जिनके लेखक स्वयं उपस्थित नहीं हो सके। डा० पुरुषोत्तमलाल भार्गव का 'जैन कान्सेप्ट्स आफ अहिंसा', डा० टी० जी० मैनकर का 'द स्याद्वाद आफ द जैन फिलासफी : ए कान्ट्रीब्यूशन टू इंडियन इपिस्टमोलाजी', श्री जोधसिंह मेहता का 'द कान्ट्रीब्यूशन आफ

जैन मान्कस् इन प्रोपोगेशन आफ अहिंसा' तथा डा० पी० एम० उपाध्ये का 'कन्सेप्ट आफ जैन मिस्टिसिज्म' इसी प्रकार के निवध थे। इस प्रकार सगोष्ठी मे जैन धर्म एव दर्शन के सर्वाधिक निवन्ध पढे गये, जिनसे भारतीय दर्शन के कई पक्ष उजागर हुए हैं। इस विभाग के अधिवेशनो के अध्यक्ष थे डा० सत्यव्रत शास्त्री (दिल्ली) एव डा० गुलाबचद्र चौधरी (वैशाली) तथा सचिव थे डा० एम० जी० धडफले (पूना) एव डा० नारायण समतानी (बनारस)।

ललित कला एव विज्ञान

सगोष्ठी के इस विभाग मे कुल ग्यारह निवन्ध पढे गये। जैन धर्म का ललित-कलाओ और स्थापत्य आदि के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण योगदान का विवेचन करते हुए प्रोफेसर कृष्णदत्त वाजपेयी ने मध्यप्रदेश की जैन कला का विस्तृत परिचय प्रस्तुत किया। यहा की जैनकला एव अवशेषो पर जो अध्ययन वहा हो रहा है तथा अपेक्षित है, इस सबकी जानकारी आपने दी। श्री रत्नचद्र अग्रवाल का निवध राजस्थान की जैन कलाकृतियो पर प्रकाश डालने वाला था। प्रोफेसर परमानद चोयल ने 'जैन कला का योगदान' विषय पर अपना निवध प्रस्तुत किया। प्रोफेसर ओ० डी० उपाध्याय ने जैन चित्रकला की सूक्ष्म विशेषताओ की ओर विद्वानो का ध्यान आकर्षित किया। जैन मूर्तिकला पर डा० एस० एम० पहाडिया का 'जैन मैटल इमेज' नामक एक ही निवध सगोष्ठी मे प्रस्तुत हुआ। 'जैनाचार्यों की सगीत को देन' विषय पर एक प्रतिनिधि लेख डा० सत्यव्रत शास्त्री द्वारा प्रस्तुत हुआ। प्रोफेसर शास्त्री ने जैन साहित्य के उन सदर्भों की चर्चा की, जो सगीत के क्षेत्र मे नया प्रकाश डालते हैं।

'जैन धर्म और आधुनिक विज्ञान' विषयक चर्चा सगोष्ठी मे अधिक आकर्षक रही। डा० महावीरराज गेलडा ने 'द कन्सेप्ट आफ इनर्जी इन जैन लिटरेचर', डा० नदलाल जैन ने 'कन्ट्रीब्यूसन आफ जैन्स टू केमिकल नालेज' तथा डा० एम० एस० मुडिया ने 'जैन फिलासफी एण्ड माडर्न साइस' नामक निवध पढे, जिन पर पर्याप्त विचार-विमर्श हुआ। प्रोफेसर लक्ष्मीचद्र जैन ने 'इडियन जैन स्कूल आफ मेथमेटिक्स ए स्टडी इन चाइनीज इफ्लूएस एण्ड ट्रासमिशन्स' नामक अपना महत्त्वपूर्ण निवध भेजा। वे स्वय उपस्थित होते तो इस निवध पर अच्छी चर्चा होती। स्व० डा० नेमिचद्र शास्त्री का 'जैनाचार्यो की व्याकरणशास्त्र को देन' नामक निवन्ध प्राप्त करने का सौभाग्य भी सगोष्ठी को हुआ, किंतु वे स्वय इसमे सम्मिलित न हो सके। इस अधिवेशन के अध्यक्ष थे डा० एच० सी० भयाणी (अहमदावाद) तथा सचिव थे डा० विमलप्रकाश जैन (जबलपुर)।

इतिहास एव संस्कृति

जैन साहित्य का भारतीय इतिहास एव संस्कृति के अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान है। संगोष्ठी में इस विषय पर भी पर्याप्त चर्चा हुई। विभिन्न विषयो पर निबन्ध पढे गये। डा० नरेन्द्र भनावत ने अपने निबन्ध 'जैन धर्म का सांस्कृतिक मूल्यांकन' के वाचन द्वारा विषय-प्रवर्तन किया। डा० गुलाबचन्द्र चौधरी ने 'भारतीय कालगणना और जैन-जैनेतर दर्शनो मे काल-सिद्धान्त' नामक निबन्ध पढा। दो निबन्ध जैन धर्म और शिक्षा-दर्शन पर पढे गये। डा० हरीन्द्र-भूषण जैन ने 'जैन एजुकेशन इन एन्शियण्ट इण्डिया' नामक निबन्ध द्वारा जैन साहित्य के उन सदर्भों की व्याख्या की जो शिक्षा दर्शन से सम्बन्धित थे। प्रो० चांदमल कर्णावट के जैनागमो मे शिक्षातत्त्व खोजकर प्रस्तुत किये। जैन धर्म और भारतीय समाज पर निबन्ध पढा डा० सुदर्शनलाल जैन ने। प्राचीन भारतीय समाज के आर्थिक और व्यापारिक पक्ष पर प्रकाश डाला डा० प्रेम सुमन जैन ने। आपका निबंध था 'एन एकाउन्ट आफ द ट्रेड एण्ड शिपिंग इन प्राकृत लिटरेचर'। इस विषय पर प्रोफेसर वाजपेयी, डा० उपाध्ये एवं डा० भयाणी ने अन्य जानकारी भी प्रस्तुत की। श्री बलवतसिंह मेहता ने 'अहिंसा सम्मत प्राचीन शिलालेख व राजाज्ञाएं' नामक निबन्ध प्रस्तुत कर यह स्पष्ट किया कि राज्यकार्य मे भी जैन धर्म का प्रभाव रहा है। इस सत्र के अध्यक्ष थे प० दलसुख भाई मालवणिया एव सचिव थे डा० कैलाशचन्द्र जैन (उज्जैन)।

इस विषय के दूसरे सत्र के अध्यक्ष थे डा० गोपीनाथ शर्मा (जयपुर) तथा सचिव थे डा० विद्याधर जोहरापुरकर (जबलपुर)। इनमें विद्वानो ने विभिन्न प्रान्तो मे जैन धर्म की महत्त्वपूर्ण भूमिका की चर्चा की। डा० मनोहरलाल दलाल ने 'मालवा मे जैन धर्म का ऐतिहासिक सर्वेक्षण' नामक निबन्ध प्रस्तुत किया। डा० वी० डी० जोहरापुरकर ने 'महाराष्ट्र मे जैन धर्म' का विवेचन किया। डा० के० सी० जैन ने 'जैन कास्ट्स एण्ड देयर गोत्राज इन राजस्थान', डा० जी० एन० शर्मा ने 'जैन राइटर्स एण्ड सोशल एण्ड कल्चरल हिस्ट्री आफ मिडिवल राजस्थान' तथा श्री आर० वी० सोमानी ने 'जैन कीर्तिस्तम्भ आफ चित्तौड' नामक निबन्ध प्रस्तुत कर राजस्थान मे जैन धर्म का विशेष परिचय प्रस्तुत किया। डा० उपेन्द्र ठाकुर का निबन्ध 'जैनिज्म इन मिथिला एण्ड इट्स इम्पेक्ट आन मिथिला कल्चर' तथा डा० कलघाटगी का निबन्ध 'जैनिज्म इन कर्नाटक' विविध जानकारियो से भरपूर थे। डा० ब्रजमोहन जावलिया ने 'साइबेरिया एव मध्य एशिया मे जैन-तीर्थ' निबन्ध द्वारा वहा जैन धर्म के अस्तित्व को सिद्ध किया। डा० ए० एन० उपाध्ये ने 'जैन कण्ट्रीब्यूसन्स टू साउथ इंडियन लिटरेचर' निबन्ध द्वारा दक्षिण भारत के जैन साहित्य का तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया।

समुच्चायक-व्याख्यान

इस संगोष्ठी की निबन्ध-वाचन के अतिरिक्त महत्त्वपूर्ण उपलब्धि थी विद्वानो के समुच्चायक व्याख्यान। जैन विद्या के मूर्धन्य विद्वान डा० ए० एन० उपाध्ये ने 'जैन विद्या का भारतीय परम्परा को अवदान' विषय पर एक विस्तृत व्याख्यान दिया। आपने भारतीय भाषा, साहित्य, समाज एव कलाओ के क्षेत्र मे जैन धर्म ने जो महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है उसे बहुत अच्छे ढग से प्रस्तुत किया। तथा वर्तमान मे जैन धर्म का जन-साधारण के लिए क्या दायित्व है, इस पर भी अपने विचार प्रस्तुत किये। दूसरा व्याख्यान प्रोफेसर कृष्णदत्त वाजपेयी का था। आपने जैन कला एव पुरातत्त्व की प्रमुख प्रवृत्तियो एव विशेषताओ का सचित्र विश्लेपण प्रस्तुत किया। आपके निष्कर्ष थे कि भारतीय कला एव पुरातत्त्व का अध्ययन जैन कला के सर्वांगीण अध्ययन के अभाव मे अधूरा ही रहेगा, क्योकि जैन कला ने भारत के विभिन्न प्रान्तो को मनोरम कलाकृतियो, चित्रो से सजाया ही नही है, अपितु भारतीय ललितकलाओ के उत्कर्प मे अपनी विशिष्ट भावभगिमा भी प्रदान की है। प्रोफेसर वाजपेयी ने विद्वानो को स्थानीय आहाड के भग्नावशेषो तथा उसके परिसर मे प्राप्त जैन मदिरो की कला का भी दिग्दर्शन कराया।

समापन एव निष्कर्ष

सगोष्ठी के समारोह की अध्यक्षता डा० ए० एन० उपाध्ये ने की। सगोष्ठी मे पठित निवन्धो पर विचार-विमर्श का विवरण प्रस्तुत किया डा० श्रीमती रत्नाश्रेयान् ने। सगोष्ठी मे सम्मिलित सभी विद्वानो की यह सम्मति थी कि इस सगोष्ठी से पहली बार विश्वविद्यालय स्तर पर जैन विद्या भारतीय विद्या के अध्ययन-अनुसधान के क्षेत्र मे अपने उपयुक्त स्थान को पा सकी है। अब वह सीधे दरवाजे से प्रविष्ट हुई है। इस पचदिवसीय सगोष्ठी मे देश के विभिन्न कोनो से सम्मिलित ४५ विद्वानो द्वारा सर्व-सम्मति से यह सिफारिश प्रस्तुत की गयी कि उदयपुर विश्वविद्यालय मे जैन विद्या एव अपभ्रश अध्ययन का एक केन्द्र अथवा स्वतत्र विभाग यथाशीघ्र प्रारभ किया जाए, जिसमे जैन धर्म-दर्शन का तुलनात्मक मूल्याकन, प्राकृत-अपभ्रश एव क्षेत्रीय भाषाओ के ग्रथो का सम्पादन व प्रकाशन तथा राजस्थान के सामाजिक और सास्कृतिक विकास मे जैन विद्या के योगदान पर अनुसन्धान कार्य हो सके। अन्त मे सगोष्ठी के निदेशक डा० रामचन्द्र द्विवेदी ने जैन विद्या को भारतीय विद्या का अभिन्न अग बतलाकर मनीषी विद्वानो को इस क्षेत्र मे प्रवृत्त होने के लिए आह्वान करते हुए यह शुभ लक्षण माना कि धर्म, दर्शन एव सस्कृति के क्षेत्र के महारथी पहली बार भारत की समुच्चय सस्कृति की निर्मात्री जैन सस्कृति की चर्चा विश्वविद्यालय मे कर रहे हैं।

स्वागत सहयोग

जैन विद्या की इस सगोष्ठी को सफल बनाने मे संस्कृत विभाग के प्राध्यापक बधुओ तथा छात्रो का पूरा सहयोग रहा है। उदयपुर विश्वविद्यालय के वित्त-नियत्रक श्री अविनाशचन्द्र शर्मा तथा उनके सहयोगियो, डा० दयाकृष्ण मिश्र, निदेशक, विस्तार निदेशालय तथा अन्य विभागो के प्राध्यापको व छात्रो के सहयोग को भुलाया नही जा सकता। जैन विद्या की इस सगोष्ठी की सफलता के वे समभागी है।

सगोष्ठी के आयोजन मे दूसरा सम्भाव स्थानीय जैन समाज के सहयोग का था। इस प्रकार विद्वत्सम्मेलन एव विशुद्ध शैक्षणिक कार्यक्रम मे पहली बार समाज ने पूरी रुचि के साथ भाग लिया तथा अपने दायित्व को पूर्णत निवाहा। विद्वानो के स्वागत-सत्कार की अधिकाश व्यवस्था स्थानीय जैन समाज ने की। श्री अग्रवाल दि० जैन समाज, श्री जैन मुमुक्षु मडल, श्री वीसपथी दि० जैन समाज, श्री श्वे० तेरापथ समाज, श्री वर्द्धमान स्थानकवासी सघ, श्री श्वे० मूर्तिपूजक जैन समाज तथा भारत जैन महामण्डल आदि के उत्साही कार्यकर्ताओ ने न केवल सगोष्ठी के विद्वानो के जलपान एव भोजनादि की सुन्दर व्यवस्था की, अपितु सगोष्ठी के शैक्षणिक कार्यक्रमो मे भी वे निरतर उपस्थित रहे। विद्वानो को समाज के बीच ले जाकर उनकी विद्वता एव अनुभवो से लाभान्वित भी हुए।

जैन विद्या का भारतीय संस्कृति को अवदान[1]

डा० पी० एस० लांबा
(उपकुलपति, उदयपुर विश्वविद्यालय)

मुझे अपनी ओर से तथा उदयपुर विश्वविद्यालय की ओर से 'जैन विद्या का भारतीय सस्कृति को योगदान' विषयक सेमिनार मे भाग लेने के लिए देश के विभिन्न भागो से आये हुए प्रतिनिधियो तथा यहा उपस्थित सज्जनो का स्वागत करते हुए परम हर्ष का अनुभव हो रहा है। एक दृष्टि से, विश्वविद्यालय के विभागो का यह दायित्व हो जाता है कि वे इस प्रकार के 'सेमिनारो' का आयोजन करें जिससे समाज के शैक्षणिक दृष्टिकोण का विकास हो। मुझे यह कहते हुए गर्व का अनुभव होता है कि हमारे विश्वविद्यालय का सस्कृत विभाग इस प्रकार के सेमिनारो को यहा सक्रियता से आयोजित करता चला आ रहा है। सस्कृत विभाग द्वारा आयोजित यह दूसरा सेमिनार है। प्रथम सेमिनार १९६८ मे 'काव्यशास्त्रीय आलोचना के सिद्धान्त' पर किया गया था, जिसकी भव्य सफलता की प्रशसा विद्वानो ने की। प्रस्तुत सेमिनार का विशेष महत्त्व है। जैसा आप सब लोगो को विदित है कि आगामी १३ नवबर, १९७४ को विश्व के महान् क्रान्ति-दूत तीर्थंकर महावीर के निर्वाण का पचीस शती-पूर्ति का पर्व राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मनाया जा रहा है। मुझे यह बताने की आवश्यकता नही कि विश्व-इतिहास मे भगवान् महावीर ही प्रथम अकेले ज्योति पुज उदाहरण हैं, जिन्होने उन शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व के सिद्धान्तो का प्रयोग तथा प्रचार किया जिन सिद्धान्तो की आधुनिक मानव समाज को सर्वाधिक आवश्यकता है। फलत महावीर निर्वाण की पचीसवी शती-पूर्ति की स्मृति मे समायोजित यह सेमीनार उस विशाल देन को समझाने मे सफल होगा जिसके द्वारा जैन विद्या ने भारतीय सस्कृति के विभिन्न रूपो को सम्पन्न किया है। इस सेमिनार के सयोजको की मैं प्रशसा करता हू तथा इस शैक्षणिक कार्य के लिए उन्हे बधाई देता हू। मेरी दृष्टि

1 उद्घाटन-भाषण

मे इस सेमिनार का संस्कृत विभाग की ओर से आयोजित करना दो तरह से उचित है। पहली बात तो यह है कि इस विश्वविद्यालय का संस्कृत विभाग राजस्थान के विश्वविद्यालयो मे अग्रदूत है जिसने स्नातकोत्तर स्तर पर 'प्राकृत' भाषा को अध्ययन का विषय बनाया, दूसरी बात यह कि संस्कृत ने हिन्दू धर्म, जैन धर्म तथा बौद्ध धर्मों को परस्पर मिलाने मे एक कडी का काम किया है। इन तीन धर्मों के नेताओ ने इसी संस्कृत भाषा के माध्यम से धर्म तथा दर्शन के महत्त्वपूर्ण विविध पक्षो पर विचार-विमर्श किया है। संस्कृत ने एक प्रकार से भारत के इन तीन धर्मों को एक मच प्रदान किया है जिन्होने मिलकर हमारे देश की राष्ट्रीय-सांस्कृतिक धरोहर के निर्माण मे ठोस आधार दिया है।

आधुनिक अनुसंधान के प्रकाश मे यह सर्वमान्य मत है कि जैन धर्म विश्व के प्राचीनतम जीवित धर्मों मे से एक है। 'मोहनजोदडो' की संस्कृति वैदिक वाड्मय तथा महावीर-पूर्व युग ने इस देश मे जैन धर्म के अस्तित्व के चिह्नो को धारण किया है। जैन धर्म के मूल सिद्धान्तो को केवल दो शब्दो मे मूर्त किया जा सकता है अहिंसा तथा अनेकान्तवाद जो दर्शन तथा समाजशास्त्रीय दृष्टि से शान्ति-पूर्ण सहअस्तित्व के दो सिद्धान्त कहे जा सकते हैं। इस तथ्य से नही मुकरा जा सकता कि यदि हम आचार को नियमित करने वाले सिद्धान्त 'अहिंसा' को तथा दृष्टिकोण को प्रकाश से आलोकित करने वाले 'अनेकान्त' को स्वीकार कर ले तो स्थूल तथा सूक्ष्म रूपों मे प्रवृत्त बर्बरता, शोषण, उद्दडता तथा शीत युद्ध समाप्त हो सकते हैं। यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण नही है कि जैन धर्म ने 'अहिंसा तथा अनेकान्तवाद' इन दो सिद्धान्तो के रूप मे सामान्य रूप से विश्व-चिंतन को तथा विशेष रूप से भारतीय विचारधारा को सर्वश्रेष्ठ 'देन' प्रदान की है। मुझे विश्वास है कि मेरा यह कथन अतिमूल्याकन की कोटि तक न जायगा—कि विश्व के किसी अन्य धर्म ने 'अहिंसा' का इतना सूक्ष्म विवेचन-विवरण प्रस्तुत नही किया और न किसी अन्य दर्शन ने 'अनेकान्त' का इतना गहरा तथा विस्तृत विचार किया, जितना जैन धर्म ने। इस तरह, यदि अहिंसा को जैन धर्म का पुष्प माना जाए तो अनेकान्त उसको 'मुकुट' गिना जाएगा। एक के बिना दूसरे का विकास नही। इन दो शब्दो के अर्थो मे सूक्ष्म भेदो की झलक क्यो न हो, पर मेरे विचार मे 'अहिंसा' जीवन के सम्मान का सिद्धान्त है तथा 'अनेकान्त' खुले दिमाग का सिद्धान्त।

अहिंसा का सिद्धान्त मानता है कि जाति, रग तथा मत की भिन्नता रहते हुए भी व्यक्ति मूलत अन्तिम साध्य है जिसका आत्मसम्मान का पद है। परिणामत समस्त प्राणिमात्र के साथ उचित व्यवहार किया जाना चाहिए। कोई भी प्राणी विकास के अवसरो से लाभान्वित होने मे वचित न किया जाए। अहिंसा के स्तर पर जीवन-सचालन इस विचार को पुष्ट करता है कि राजनीति तथा अर्थनीति के

क्षेत्र मे शासक तथा शासित भाव को छोड दिया जाए तथा विकास की स्वतंत्रता और अवसर की समानता सब लोगो की मान ली जाए चाहे लोग यूरोप, अमेरिका, एशिया या अफ्रीका के हो। अहिसा का और भी गहरा महत्त्व उस युद्ध को मिटा देना है जिसने मानव सभ्यता के आरम्भ से ही उसे त्रस्त कर रखा है। राज्यो के बीच मे टकराव तथा तनाव की समाप्ति, विश्व-शान्ति की स्थापना तथा मानव-कल्याण की प्रगति तभी संभव है जब विश्व-वातावरण मे अहिसा की भावना भर दी जाए। अत अहिसा का सिद्धान्त यह बताता है कि शक्ति के स्तर से हटाकर जीवन को उदात्त बनाकर उसे तर्क, आग्रह, सद्भाव, सहिष्णु तथा परस्पर सेवा के स्तर पर लाया जाए। सत्य, अस्तेय, निग्रह तथा अपरिग्रह अहिसा के ही विस्तृत गुण हैं जो मानव अस्तित्व के विभिन्न रूपो मे बिखरे हुए हैं। इन पाच 'धर्मों' के प्रयोग से मानव समाज मे सुरक्षा, स्वतन्त्रता, समानता तथा सम-वितरण का वातावरण बनाया जा सकता है।

जैसा पहले बताया जा चुका है, अनेकान्त 'मुक्त मस्तिष्क' का सिद्धात है। यह इस विश्वास पर टिका है कि कोई भी वस्तु अनेक रूपो से सयोजित होती है। इसके सच्चे स्वरूप को समझने के लिए यथासभव अनेक पक्षो पर विचार करना होता है। अनेक दृष्टिकोणो से एक विषय को समझने का सिद्धात हमारे मे एक सर्वव्यापी दृष्टिकोण पैदा करता है जो शातिपूर्ण सह-अस्तित्व के लिए आवश्यक है। जैन धर्म को इस अनेकातवाद ने दर्शन के क्षेत्र मे, दूसरे के विचारो को समझने की क्षमता प्रदान की। इसने किसी विषय के एकपक्षीय स्वरूप के दुराग्रह का विरोध किया जो सारे वैमनस्यो का मूल है। मुझे यह बताने की आवश्यकता नही कि 'खुला दिमाग' हमारे मे उदारता तथा विचारो का सतुलन पैदा करता है। इस प्रकार अनेकातवाद तथा इससे उपसिद्धात 'नयवाद' और स्याद्वाद' ने एक आवश्यक मूलाधार हमे दिया है, जो राष्ट्रीय तथा अतर्राष्ट्रीय तनावो को कम करने तथा व्यक्ति मे बौद्धिक ईमानदारी की भावना का विकास करने मे समर्थ होगा। यदि भारतीय साहित्य के इतिहास का निरपेक्ष अध्ययन किया जाए तो पता चलता है कि जैन विद्वानो ने साहित्य के विकास मे महान् योग दिया है। 'भगवान महावीर ने जनभाषा मे अपना उपदेश दिया' इस तथ्य ने उनके अनुयायियो को सशक्त प्रेरणा दी। फलत. उन्होने ज्ञान का विस्तार कर महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृतियो का निर्माण इन्ही जनभाषाओ मे किया। इसी तथ्य के कारण जैनो ने प्राकृत, अपभ्रश, हिंदी, राजस्थानी, तमिल, कन्नड, गुजराती आदि भाषाओ के द्वारा साहित्य को सपन्न किया। विभिन्न भाषाओ को अपनाने के साथ-साथ उन्होने अनेक विषयो पर ग्रथ रचे। जर्मन विद्वान ह्यूलर लिखते है "व्याकरण, गणित, ज्योतिष तथा ललित वाङ्मय मे जैनो की उपलब्धि इतनी उच्च है कि उनके विरोधियो को चकित होना पडा है तथा कुछ ग्रथ तो आज भी

यूरोपीय विद्वान के लिए महत्त्वपूर्ण हैं। दक्षिण में द्रविड समुदाय के बीच में काम करके जैनों ने इन भाषाओं के भी विकास में योग दिया। कन्नड, तमिल व तेलुगु जैसी साहित्यिक भाषाओं की आधारशिला भी इन जैन साधुओं ने स्थापित की।" जन भाषाओं में सपन्न साहित्य के निर्माण करने के अतिरिक्त जैनों ने सस्कृत को भी अपनाया जो विदग्ध-विद्वानों की भाषा मानी जाती है। परिणामत उन्होंने सस्कृत में भी विस्मय-विमुग्ध करने वाले महत्त्वपूर्ण साहित्य की रचना की जो कि एक ठोस योगदान है।

यह बताना भी असगत न होगा कि राजस्थान जैन साहित्य का महान केंद्र रहा है। चित्तौड के हरिभद्र तथा हरिषेण, जालोर के उद्योतनसूरि, माडलगढ के आशाधर, जयपुर के पं० टोडरमल, जोधपुर के आचार्य भिक्षु तथा उदयपुर के आचार्य गणेशीलाल राजस्थान के जैन विद्या के श्रेष्ठ विद्वानों में से हैं। राजस्थान के जैन विद्वानों का प्राकृत, अपभ्रश, संस्कृत तथा ठेठ हिंदी में अपूर्व योगदान रहा है। राजस्थानी तथा उसकी अनेक बोलियों के उद्भव तथा विकास का अध्ययन तब तक सभव नहीं जब तक इन क्षेत्र के जैन लेखकों के अपभ्रश ग्रथों का अध्ययन न किया जाए। इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि इतिहास के अनेक काल-खडों में भिन्न भाषाओं में लिखे ग्रथों को सुरक्षित रखने के लिए जैनों ने हस्तलिखित पाडुलिपियों के बड़े पुस्तकालय स्थापित किये। जैसलमेर, बीकानेर, जयपुर, अजमेर, नागोर, कोटा, बूदी, ब्यावर, उदयपुर, जोधपुर तथा अन्य अनेक स्थान अपने हस्तलिखित ग्रथों के सपन्न सग्रहालय के रूप में प्रसिद्ध बने हुए हैं। वस्तुत प्रत्येक जैन मदिर हस्तलिपि का एक छोटा ग्रथागार है। राजस्थान के इन सग्रहालयों में अलभ्य कुछ दुष्प्राप्य ग्रथ भी सुरक्षित हैं। ये हस्तलिखित ग्रथ हमारी राष्ट्रीय धरोहर के भाग हैं तथा उन्हे प्रकाश में लाने के पूर्ण प्रयत्न किये जाने चाहिए। मेरा विचार है कि यदि विश्वविद्यालय इन दायित्व को सभालें तो भारतीय साहित्य की समृद्धि में ठोस योगदान दिया जा सकता है।

महत्त्वपूर्ण दार्शनिक, धार्मिक तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों के अतिरिक्त जैनों ने कला व स्थापत्य, मूर्ति तथा चित्र के विकास क्षेत्र में भी अतिप्राचीन काल से अपना हाथ बटाया है। मथुरा जैन कला का बडा केंद्र रहा है। ईसा की पहली शताब्दी से ही वह जैन कला तथा स्थापत्य का 'खजाना' रहा है। जैन स्थापत्य का प्राचीनतम रूप 'स्तूप' है, जो मथुरा की खुदाई में हमे प्राप्त हुए हैं। जैन साधुओं ने अपनी अध्यात्म-साधना तथा धर्मोपदेश के लिए सदा ही रम्य प्राकृतिक स्थल चुने हैं अत उन्होंने इस प्रयोजन से गुहा तथा गुहामदिर भी बनाए। ऐसे प्राचीनतम जैन गुहाओं के अवशेष बिहार, मध्यप्रदेश, गुजरात, महाराष्ट्र, आन्ध्र, उडीसा, मैसूर तथा मद्रास राज्य में मिले हैं। कलात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण जैन गुफाए 'एलोरा' के इन्द्रसभा तथा जगन्नाथ सभा के समूह के रूप में विद्यमान हैं। पर्सी

ब्राउन नामक विद्वान् के मतानुसार "एलोरा का कोई अन्य मदिर अपनी व्यवस्था मे इतना पूर्ण तथा शिल्प मे इतना निर्दोष नही जितनी इद्रसभा की ऊपर की मजिल।" प्रसगवश मैं इतना सकेत और दे दू कि इनमे भारत के पुरावृत्त के चित्र हमे मिलते हैं जिन्हे हिंदू धर्म, जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म ने बखूबी प्रदर्शित किया है। ये गुफाए चट्टान के तक्षण शिल्प के भव्य उदाहरण हैं। ये मदिर के निर्माण-शिल्प से नितात भिन्न व विशिष्ट हैं। देश के अन्य भागो मे भी जैनो ने बडी सख्या मे मदिर का निर्माण किया है। दक्षिण मे हलविदा तथा मोदवीदरी के मदिर, मध्यप्रदेश मे देवगढ तथा खजुराहो के मदिर, राजस्थान मे राणकपुर तथा दिलवाडा मदिर, गुजरात मे पालिताना व गिरनार के मदिर जैनो के गृहनिर्माण शिल्प के कुछ निदर्शन हैं। यह बात भी ध्यान मे रखने योग्य है कि जैनो ने 'मदिरो' के लिए बडी चित्रोपम स्थली चुनी है। कुछ स्थानो पर तो जैनो ने मदिर-नगरो तक का निर्माण किया है। राजस्थान मे चित्तौड का कीर्ति स्तभ तथा मैसूर मे श्रवण बेलगोला मे बाहुबलि की प्रतिमा जैनो की भारतीय कला को विशिष्ट देन है।

यह बताना भी अप्रासगिक नही कि सुदूर दक्षिण मे 'सित्तनवासल' के गुहा-मदिर मे भारत के शिष्ट भित्तिचित्रो के उत्कृष्ट उदाहरण विद्यमान हैं। इसके अतिरिक्त ताडपत्र पोथियो तथा कागज़ के ग्रथो पर चित्र अकित किये गये हैं जो दिल्ली, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र तथा मैसूर के ग्रथागारो मे सुरक्षित हैं। ये इस बात को प्रमाणित करते हैं कि किस तरह जैनो ने भारतीय कला की समृद्धि मे योग दिया है। राजस्थान के पाडुलिपि-सग्रहालयो मे वस्त्र पर अकित चित्र तथा चित्रित काष्ठ पात्र के ढक्कन मिले हैं। जैसलमेर के 'भडार' मे बारह लकडी के चित्रित ढक्कन प्राप्त हुए हैं। उनमे प्राचीनतम २६ इच लबा ३ इच चौडा है। यह चित्रित ढक्कन बड़े महत्त्व का है, क्योकि यह अपनी तरह का प्राचीनतम अवशेष, तथा यह चित्रकला, एलोरा चित्रशैली तथा पश्चिम भारत की पूर्ण विकसित चित्र-शैली के बीच की कडी है। अब तक मैंने आप लोगो का ध्यान उन कुछ महत्त्वपूर्ण योगदान की ओर खीचा जो जैनो ने धर्म, दर्शन, साहित्य तथा कला के क्षेत्र मे दिये हैं। मैं साथ मे यह भी सकेत देना चाहता हू कि इन शैक्षणिक अध्यवसायो ने जैन सन्तो को सामाजिक तथा राष्ट्रीय कर्तव्यो से विमुख नही किया। यह स्पष्ट है कि वे इस बात से पूर्ण अभिज्ञ थे कि सामाजिक उत्थान तथा राष्ट्रीय सुरक्षा के बिना कोई भी उपादेय सिद्धि प्राप्त नही हो सकती। जैन साधुओ ने हमेशा जनता का ध्यान, वैयक्तिक तथा सामाजिक मूल्यो की ओर खीचा जो बौद्धिक-सामाजिक व्यवस्था के निर्माण मे अनिवार्य है। क्योकि वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण किया करते थे। बडे समुदाय के सपर्क मे आते थे। अत वे जनता को सफलतापूर्वक साग्रह प्रेरित कर सकते थे कि लोग अहिंसा की भावधारा

के अनुसार अपनी भौतिक आवश्यकताओं को नियमित करें। कुछ जैन सन्तों ने अपनी साधना तथा ज्ञानोत्कर्ष के कारण शासकों का ध्यान अपनी ओर खींचा। अकबर ने 'हरविजयसूरि' को फतहपुर सिकरी आमन्त्रित किया जहां उसने पहले अबुलफजल से धर्म व दर्शन पर विचार-विमर्श किया, फिर स्वयं सम्राट से। अंत में 'हरविजयसूरि' ने सम्राट को साग्रह मनाकर यह फरमान निकलवाया कि छह महीनों तक पशु-वध प्रतिबंधित किया जाए, मृत पुरुषों की संपत्ति को राज्य द्वारा अविग्रहण किया जाए तथा पकड़े हुए व पिंजरे में बंद पक्षियों को छोड़ दिया जाए। इससे सिकरी में मछली पकड़ना रोक दिया गया। 'जिनचन्द्रसूरि' ने भी अकबर से यह शाही फरमान जारी करवाया कि प्रतिवर्ष आषाढ़ मास में एक सप्ताह तक पशु-हिंसा न की जाए। जैन संप्रदाय के इतिहासों में इस प्रकार के अनेक दृष्टांत भरे पड़े हैं। ये इस बात का प्रमाण हैं कि जैन सन्त अहिंसामूलक सामाजिक व्यवस्था को लागू करने में कितने सचेष्ट थे। अहिंसा के प्रभाव का जाज्वल्यमान उदाहरण हमें महात्मा गांधी ने दिया जो रायचंद्र को अपना गुरु मानते थे, जिनके प्रभाव से उनमें 'अहिंसा' संक्रान्त हुई। महात्मा गांधी को वास्तव में 'महावीर' का अवतार ही माना जा सकता है।

यह भी ठीक है कि अहिंसा के सिद्धांत ने जैन मतानुयायियों को अपने कर्तव्य-कर्मों से नहीं रोका, विशेषत जब युद्ध के प्रसंग उठ खड़े हुए। राजस्थान, गुजरात तथा कर्नाटक में जैन ऊंचे अधिकार पद पर अवस्थित थे, जिनमें कुछ सेनाध्यक्ष तक थे। मैं कुछ ही उदाहरण दूंगा। 'विमल' अपने सम्राट भीम प्रथम के साथ मोहम्मद गजनी से लड़ा था। जोधपुर के रत्नसिंह भंडारी ने मराठों से युद्ध किया। शमशेर बहादुर, महाराणा विजयसिंह का सेनापति रहा। कुंभलमेर (उदयपुर) के आशाशाह ने महाराणा प्रताप के पिता उदयसिंह की जो अल्पवयस्क शिशु था रक्षा की, जब पन्ना धाय ने बनवीर के पंजे से उसे छुड़ाने की प्रार्थना की। महाराणा प्रताप के मंत्री भामाशाह ने मुगल सम्राट अकबर से युद्ध करने के लिए अपनी समस्त संपत्ति राणा को भेंट कर दी। भामाशाह स्वयं महान् योद्धा था। जयपुर के दीवान रामचन्द्र ने बहादुरशाह से पराजित सवाई जयसिंह को आमेर का राज्य पुन. जीतकर सौंपा। ये दृष्टान्त प्रमाणित करते हैं कि जैनों ने अपने गंभीर दायित्व से कभी मुंह न मोड़ा, न अहिंसा के बहाने कठोर कर्मों से पराङ्मुख हुए। बल्कि वे पूरी निष्ठा से अपने राज्य की सीमाओं को शत्रुओं से सुरक्षित रखने में लगे रहे। इसके प्रकाश में, यह विस्मय की बात नहीं कि जैनों ने स्वदेश के स्वतंत्रता-आंदोलन में भी अपना योग दिया है। संक्षेपत जैनों के क्रियात्मक क्षेत्रों में ये योगदान के स्वरूप रहे हैं। मुझे विश्वास है कि विद्वानों की यह नक्षत्रमंडली इस सेमिनार में भाग लेकर अपने विचार-विमर्शों से जैन विद्या के अध्ययन को बढ़ावा देने में पूरा योग देगी, जिसमें हमें अपनी राष्ट्रीय धरोहर के समझने तथा

मूल्यांकन करने में मदद मिलेगी। उदयपुर विश्वविद्यालय राष्ट्रीय महत्त्व के इस शैक्षणिक आंदोलन में अपना अंश-दान करने के कदम उठा रहा है।

मैं डॉ० द्विवेदी को धन्यवाद देता हूं कि उन्होंने मुझे ऐसा अवसर दिया। मैं एक बार फिर इस 'राजस्थान के कश्मीर' उदयपुर में पधारे समस्त प्रतिनिधियों का स्वागत करता हूं तथा विशेष सुविधा की कमियों के लिए उनसे क्षमाप्रार्थी हूं।

भारतीय परम्परा को जैन विद्या का अवदान[1]

स्व० डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये
(अनुवादक डा० विष्णुप्रसाद भट्ट)

जब मैं भारतीय परम्परा मे जैनो के योगदान के सम्बन्ध मे परिचर्चा करता हू तब मैं राजस्थान को भूल नही सकता, जहा के जैनो ने और जैन धर्म तथा दर्शन ने उसके सास्कृतिक इतिहास पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव छोड़ा है। इस बात की विशेष समीक्षा मैं तब कर सका हू जब मैंने डा० कैलाशचन्द जैन का शोध-ग्रथ 'जैनिज्म इन राजस्थान' पढा। अपने 'परमात्मप्रकाश' की भूमिका के लिए जब मैंने अपभ्रश भाषा का अध्ययन किया तब मुझे कुछ राजस्थानी गीतो पर काम करना पडा था। तब मैंने डिंगल और पिंगल के बारे मे कुछ जाना और यह भी कि अपभ्रश भाषा और साहित्य का राजस्थानी भाषा और साहित्य के साथ कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है, और यह कि इसके अध्ययन के बिना राजस्थानी भाषा और साहित्य का सम्यक् ज्ञान कदापि नही हो सकता। इन्ही कारणो ने मुझे देश के इस भूभाग के प्रति आकृष्ट किया है।

यद्यपि भारत के प्रत्येक भाग मे जैन हैं किन्तु भिन्न-भिन्न भागो मे इनकी सख्या मे काफी अन्तर है। भारत के पश्चिमी भाग मे वे अधिक हैं। सख्या की दृष्टि से जैन लोग महाराष्ट्र के बाद राजस्थान मे अधिक हैं, फिर गुजरात, मध्यप्रदेश, मैसूर तथा उत्तर प्रदेश क्रमश आते हैं। भले ही जैनो की सख्या भिन्न-भिन्न स्थानो पर कम और अधिक है किन्तु वे सपूर्ण भारत मे बिखरे हुए हैं--कश्मीर से कन्याकुमारी तथा जामनगर से जोर्हट पर्यन्त। इस प्रकार यह एक भारतव्यापी समाज है। प्राचीन काल मे इनकी क्या स्थिति थी, इस सम्बन्ध मे निश्चित कुछ भी कहना बहुत कठिन है। एक जमाने मे जैन धर्म बिहार मे खूब पनपा था जहा ई० पू० छठी शताब्दी मे महावीर और बुद्ध ने अपने सिद्धान्तो का प्रतिपादन किया था। किन्तु आज तद्देशीय जैन नहीं रहे हैं। यदि आज वहा

1 अध्यक्षीय भाषण का महत्त्वपूर्ण अश

जैन हैं तो वे बहुत बाद मे पश्चिमी भारत से व्यापार करने के लिए गए है ।

देश मे जैन-धर्म पिछले तीन हजार वर्षों से विद्यमान है। देश की सीमाओ से अधिक दूर तक यह धर्म नही फैला है। हम यूरोपीय विद्वानो के अत्यधिक आभारी हैं जिन्होंने इसका अध्ययन विस्तारपूर्वक किया और इसे विश्व के अन्य धर्मों के समानान्तर उपस्थित किया। पहले जैन-साधु और कतिपय जैन-गृहस्थ जैन-ग्रथो का अध्ययन अपनी धार्मिक क्रियाओ मे प्रवृत्त होने के लिए करते थे। उनका अध्ययन मूलत श्रद्धा और भक्तिपरक था। भारतीय अध्ययन मे यूरोपीय विद्वानो के आगमन के साथ अध्ययन के लक्ष्य और पद्धति मे परिवर्तन आया है। आज बौद्धिक वर्ग भारतीय धर्मों के अध्ययन मे विशेष रुचि रखता है और इस तरह अन्य धर्मों के अध्ययन के साथ-साथ जैन धर्म का भी अध्ययन हो जाता है।

सौभाग्य से जैन धर्म भारत के विभिन्न भागो मे शासको की छत्रछाया मे रहा है। जहा तक पूर्वी भारत का सम्बन्ध है, हम यह नही जानते कि उन्हे कितने समय तक यह आश्रय श्रेणिक तथा राजाओ से मिलता रहा था, किन्तु दक्षिण भारत मे उन्हें पाण्ड्य, गग, कदम्ब, राष्ट्रकूट, कलचूरी रट्ट, सिलाहार आदि शासक राजवंशों से निरन्तर प्राप्त हुआ था। इससे जैनाचार्यों को अपनी पवित्र धार्मिक तथा साहित्यिक गतिविधियो को गतिशील करने मे प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है।

जब-जब जैनो को राज्याश्रय प्राप्त हुआ तब-तब उन्होने चतुर्विध दान (आहार-औषध-अभय-ज्ञान दान) की दृष्टि से सस्थाओ का विकास साधनहीन लोगो के लिए किया। साधु लोग अपना अधिकतर समय साहित्यिक उपलब्धियो तथा सामाजिक एव सास्कृतिक गतिविधियो के लिए दे सकते थे। फलत इससे समाज की नैतिकता का उत्थान होता था। जैन-साधुओ का जीवन त्यागमय तथा वीतरागी होता था। अत गृहस्थ वर्ग सदैव उनका आदर करता था और उनसे सदाचार सीखने के लिए सदैव तैयार रहता था। हमारे देश की सास्कृतिक परपरा की समृद्धि मे जैन-साधुओ का विशेष हाथ रहा है। वे सदा लोगो के बीच रहना चाहते थे ताकि उनका प्रभाव विशेष रूप से पडे। वे उपदेशक थे। अत उन्होने जनता की भाषा को अपनाया। कुछ ने तो इस जनता की भाषा को श्रेष्ठ भाषाओ की श्रेणी पर प्रतिष्ठित तक किया। जैनो ने राज्याश्रय मे रहकर योग्यतापूर्वक तथा लगन से कार्य किया। स्वर्गीय डा० बी० ए० सालेतोर ने भी स्पष्ट शब्दो मे इस बात को कहा है। अपरच जब जैन लोग शासन मे रहे हैं तब एक भी ऐसा उदाहरण नही मिलता जिससे यह प्रकट होता हो कि उन्होने अन्य धर्मानुयायी को सताया। यह स्वाभाविक है। अपनी प्रजा के प्रति व्यवहार मे जैन शासक सदा ही उच्चकोटि के आचार्यों से निर्देशन प्राप्त करता था। ये आचार्य अहिंसावादी तथा व्यापक दृष्टिकोण वाले होते थे। वे सहिष्णु होते थे और कभी भी किसी से

दुर्व्यवहार नही करते थे। यह सब जैन शासको के काल मे होता था। उनके बाद जागरूक जैन वर्ग और समाज जैन धर्म के विकास मे सदा सहायक रहा है। गुजरात मे सिद्धराज और कुमारपाल का आश्रय अधिक समय तक नहीं रहा। बाद मे व्यापारी वर्ग ने जैन साधुओ तथा जनसाधारण को विभिन्न धार्मिक एव उदार कार्यो के लिए सदा प्रोत्साहन दिया। यही बात अन्य स्थानो और राज्यो के लिए भी लागू होती है।

दक्षिण भारत मे कुछ मदिर इतने अधिक विशाल तथा वास्तुकला की दृष्टि से इतने अधिक समृद्ध हैं कि वहा का गरीब समाज अब उनको सही हालत मे भी नही रख सकता। करकल मे अठारह जैन मदिर हैं और कुछ वर्षो पहले वहा अठारह जैन घर भी नही थे। यदा-कदा यह प्रश्न पूछ लिया जाता है कि कैसे और क्यो इतने सारे मदिर बन गये और आज उपेक्षित हैं। इस समस्या को निकट से समझने का प्रयास मैंने किया है। जब वहां जैन राजाओ का शासन था तब वहां कुछ मन्त्री और सेनापति भी जैन थे। इनमे से प्रत्येक ने मदिर बनवाया क्योंकि उनके लिए यह सामाजिक प्रतिष्ठा का प्रश्न था तथा धार्मिक कर्तव्य की बात थी। वहा के प्रतिष्ठित लोगो मे तथा व्यापारियो मे एक प्रकार की मौन स्पर्धा चल पडी थी, इसलिए प्रत्येक ने सुन्दर और सुन्दरतर मदिर बनवाये। किन्तु जब राज्याश्रय समाप्त हुआ तब यह प्रतिष्ठित वर्ग भी, जो राजा पर आश्रित था, राजधानी को छोडकर अन्यत्र चला गया। इस प्रकार उनके द्वारा निर्मित मदिरो की उपेक्षा प्रारभ हो गई। मूडबिद्री मे भी बहुत से मदिर हैं। उनका निर्माण भी व्यापारियो आदि के द्वारा हुआ है। इनके व्यापारिक सम्बन्ध अफ्रीकी देशो से थे। जो वस्तुए वे वहा भेजते थे, उनके बदले वे आभूषण, मोती आदि मंगवाते थे। भक्ति और धार्मिकता के कारण अपने व्यापारिक लाभ से उन्होने जिन की मूर्तिया बनवाई। यह सब राष्ट्रीय धन है और इन पर हमे गर्व होना चाहिए।

शायद आप मे से बहुत यह जानते होगे कि मैसूर से चालीस मील दूर श्रवणबेलगोला मे एक पहाडी के ऊपर बाहुबलि अथवा गोम्मटेश्वर की ५७ फीट ऊंची मूर्ति है। कला का यह एक उत्कृष्ट नमूना है जिस पर किसी भी देश को गर्व होगा। इसका निर्माण और प्रतिष्ठा चामुण्डराय ने की थी। चामुण्डराय का व्यक्तिगत नाम था गोम्मट, और इसीलिए बाद मे जहा कहीं यह मूर्ति बनाई गई इसका नामकरण भी उन पर ही हुआ। चामुण्डराय की वह भावना आज भी अपने देश मे विद्यमान है। कुछ ही महीनो पहले धर्मस्थल के श्रीमन् वीरेन्द्रजी हेगडे ने एक प्राय ३६ फीट ऊंची गोम्मटेश्वर की मूर्ति बनवाई है। इसका उत्कीर्णन करकल में हुआ था और स्थापना धर्मस्थल मे हुई जो कि दक्षिण मे एक महान् धार्मिक स्थान है। इस समारोह मे मैं अध्यक्ष था। इस अवसर पर एक विशाल जलूस निकाला गया। ऐसा जुलूस कभी भी राजनैतिक नेता अथवा सभी

नेताओ के एकत्र हो जाने पर भी नही हो सकता। एक वार मैं एक राजनैतिक नेता का भाषण सुन रहा था। वह देश की समृद्धि तथा स्थिरता के वारे मे कह रहा था। राजनैतिक नेता हमे राजनैतिक आजादी दे सकते हैं, कुछ टेक्निकल और टेक्नॉलोजिकल प्रगति करवा सकते है तथा कुछेक को धनी वना सकते हैं, किन्तु जहा तक नैतिक तथा आचार आदि मूल्यो का प्रश्न है वे कभी भी हमारे आदर्श नही वन सकते।

जहा तक जैनो के भारतीय सस्कृति के अवदान का प्रश्न है, अनेक ऐसे पक्ष हैं जिनसे इस विपय पर प्रकाश डाला जा सकता है। इस अल्पसख्यक जैन-समाज ने पर्याप्त रूप से इस दिशा मे उदारता का परिचय दिया है। दक्षिण भारत के मदुराई के आसपास सित्तलनिवसल (सिद्धाना वास) तथा अन्य स्थानो पर प्राचीन गुफा-मदिर विद्यमान हैं। इनमे ब्राह्मी शिलालेख हैं। ये गुफाए जैन साधुओ के हित के लिए धनी वर्ग द्वारा वनवाई गई हैं। इनमे से कुछ मे सूक्ष्म चित्रावली भी है जो कुछ-कुछ अजन्ता की गुफाओ की तरह है। इसके अलावा समस्त भारत मे जैन मदिर हैं। इनमे कला की दृष्टि से अपनी-अपनी विशेषताए हैं। दक्षिण मे जैनो के वहुत से मदिर हैं जिनमे से कुछ तो अभी भी पूजित होते हैं और कुछ पूर्णत उपेक्षित हैं।

जहा तक जैनो का प्रश्न है, उनके सामाजिक समुदाय को चार स्तम्भो ने आधार प्रदान किया है। पहला स्तम्भ मदिर है, दूसरा स्तम्भ मुनि है, तीसरा सघ के प्रति आस्था और चौथा शास्त्र। ये चारो सदा ही उनके आधार रहे हैं और उनके प्रत्येक धार्मिक कार्य को इन्होंने सुदृढ किया है। अपरच, मदिर-निर्माण तथा मूर्तिपूजा ने स्थापत्यकला को प्रोत्साहित किया है और इस प्रकार अल्पसख्यक होते हुए भी जैनो ने इस दिशा मे महान् योगदान दिया है। श्रवण वेलगोला, करकल, मूडविद्री, हलेविद आदि मे विद्यमान जैन-मदिर जैनो की स्थापत्य-कला मे रुचि के गवाह है। राजस्थान मे आवू तथा राणकपुर के मदिर किसी भी देश के लिए गर्व की वात हैं, क्योकि इन्होने हमारे स्थापत्य-कला विषयक गौरव को ऊचा उठाया है। ये हमारी सच्ची निधि हैं। इनसे हमे प्रेरणा मिलती है। इनकी कीमत हमे करनी चाहिए। इस प्रकार मदिरो, मूर्तियो, चित्रो आदि का निर्माण करके जैन भारत की सास्कृतिक परपरा की श्रीवृद्धि करने मे पीछे नही रहे हैं।

साहित्य-सर्जना के क्षेत्र मे भी जैनो का कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। संख्या की दृष्टि से इनकी साहित्य-सपदा इतनी अधिक है कि यह समझना पडेगा कि इतना सव कैसे सभव हो सका। जैन साधु अपने आप मे एक सस्था है। उसकी आवश्यकताए अत्यल्प होती हैं। वह दो समय भी भोजन नही करता। जीवित रहने तथा आध्यात्मिक लाभ एव धार्मिक कर्तव्यो को पूरा करने के लिए वह मात्र

एक बार भोजन ग्रहण करता है। जैन आचार्यों मे पक्षपात की भावना नहीं होती है। वे दुराग्रही तो होते ही नही हैं। उनके मतानुसार कोई भी भाषा दूसरी भाषा की तुलना मे न तो हीन है और न उच्च। भाषा का मूल कार्य है विचारों का सम्प्रेषण। इसलिए महावीर तथा बुद्ध ने जनता की भाषा को अपनाया था। इस आदर्श का अनुकरण बाद मे अशोक, खारवेल और सातवाहनों ने भी किया था।

जहा तक जैनो की बात है, उन्होंने लबे समय तक प्राकृत भाषा को अपनी धर्म-भाषा बनाये रखा। उनका समस्त आगम तथा आगमेतर प्राचीन साहित्य प्राकृत मे लिखा गया। परतु कालातर मे, उन्होंने पश्चिम, विशेषत गुजरात और राजस्थान की भाति अपने साहित्यिक कार्य के लिए प्राकृत को नहीं रखा। प्राकृत मात्र धार्मिक कार्यो की भाषा रही और कुछ गोम्मटसार जैसे सैद्धान्तिक तथा धार्मिक ग्रथ इसमे लिखे गये। एक भी प्रेम-काव्य या समराइच्चकहा या कुवलयमाला की तरह का कोई धर्म-कथा-प्रधान काव्य दक्षिण मे प्राकृत मे रचित नही हुआ, जैसा कि पश्चिम भारत मे किया गया। किंतु, साथ ही, जैन आचार्य इस बात को अच्छी तरह जानते थे कि वे स्थानीय परिस्थितियो एव सास्कृतिक वातावरण की अवहेलना करके किसी एक भाषा के माध्यम से अपने धार्मिक सिद्धातो के पालन करने के कर्तव्य को पूरा नही कर सकते। जब उन्होने देखा कि सस्कृत पूरे देश मे ज्ञान और सस्कृति की भाषा है तो वे इसका उपयोग करने मे पीछे नही रहे। अत शायद ही ऐसी कोई सस्कृत साहित्य की शाखा हो जिसे जैन लेखकों और आचार्यों ने समृद्ध न किया हो। उन्होने काव्यो के प्रणयन के अतिरिक्त व्याकरण, कोश तथा काव्यशास्त्र तथा छन्दशास्त्र आदि का निर्माण भी सस्कृत भाषा मे किया है। उन्होने स्वतत्र तथा टीकाओ आदि के रूप मे न्याय साहित्य की भी वृद्धि की है। तार्किक ग्रथो के प्रणयन के अलावा उन्होंने भीमकाय पुराणों को भी रचा। यह केवल उनकी धार्मिक भावना ही नही थी जिससे अनुप्राणित होकर उन्होने काव्य-साधना की थी अपितु कुछ की सरचना मे स्थानीय भावना भी मूल मे थी। अनेक राजा अपने आश्रय मे पडितमडल रखा करते थे। हाल और विक्रमादित्य इसके ज्वलत उदाहरण है। भोज भी इसी प्रकार की रुचि का राजा था। भोज के अनतर यह परपरा गुजरात मे दृष्टिगोचर होती है। सिद्धराज और कुमारपाल अध्ययन, अध्यापन और प्रणयनकर्ताओ के बहुत बडे आश्रयदाता थे। यह अनुश्रुति है कि हेमचद्र ने कश्मीर से सरस्वती का अपहरण किया और गुजरात ले आया। इसका क्या तात्पर्य है? मैं समझता हू कि पाण्डुलिपिया कश्मीर से गाडी मे भरकर गुजरात लायी गई होगी और उनका अध्ययन तत्स्थानीय पडितमडल ने किया होगा। हम देखते हैं कि हेमचद्र के नाम पर अत्यधिक पुस्तकें हैं। एक ही व्यक्ति इतना काम नही कर सकता। अवश्य ही अन्य युवाविद्वानो का सहयोग उसे प्राप्त हुआ होगा। इसी प्रकार इससे पहले राष्ट्रकूट काल मे वीरसेन, जिनसेन और

गुणभद्र ने मिलकर कार्य किया था। इससे यह स्पष्ट होता है कि इन आचार्यों के पास पढने-लिखने के अलावा और कोई काम नही था। इसी निष्ठा के कारण जैन-साधुओ ने प्राकृत और संस्कृत मे ग्रथो की रचना कर उत्तर भारत के साहित्य की श्रीवृद्धि की।

कन्नड़ साहित्य मे भी हमे तीन प्रमुख कवि जिन्हे रत्नत्रय कहा जाता है उपलब्ध होते हैं—पप, पोन्न और रण्ण। रण्ण ने गदायुद्ध की रचना की थी और इसको पढते समय 'वेणीसहार' की वरवस याद आती है। पप मे कालिदास की-सी कल्पनाशक्ति की झलक दृष्टिगोचर होती है। जैन लेखको ने कन्नड की अनेक शाखाओ को दसवी शती से पन्द्रहवी शती के बीच पल्लवित किया। उन्होंने व्याकरण, काव्यशास्त्र और यहा तक कि अकगणित पर भी ग्रथ लिखे। इनमे कुछ साधु थे, किंतु कुछ गृहस्थ भी जिनमे प्राय मत्री, सेनापति आदि भी थे। उनका प्रमुख लक्ष्य लोगो को यथासभव नैतिक और धार्मिक शिक्षा देना था।

धीरे-धीरे दक्षिण मे जैन कवियो ने संस्कृत भाषा और साहित्य को समृद्ध किया। साहित्यिक भाषा के रूप मे प्राकृत भुला दी गई। हालाकि इसका प्रयोग कुछ धार्मिक ग्रथो जैसे धवलाटीका और गोम्मटसार मे हुआ था। जिनसेन संस्कृत का प्रकाड विद्वान् था। उसका पार्श्वाभ्युदय काव्य कालिदास के 'मेघदूत' का समस्यापूरण है। यह उसकी अद्वितीय उपलब्धि है। इसके अतिरिक्त उसने अपने गुरु वीरसेन द्वारा प्रारभ की गई जयधवला टीका को भी पूरा किया। उसने महापुराण को भी हाथ मे लिया किंतु पूरा नही कर सका। यह महापुराण कई दृष्टियो से एक असाधारण रचना है। इसके बाद हमे सोमदेव का 'यशस्तिलकचम्पू' उपलब्ध होता है। इसका सर्वांगीण अध्ययन डा० के० के० हिंदिकी ने प्रस्तुत किया है और साहित्यिक कृति के रूप मे इसकी भूरि-भूरि प्रशसा की है। इसी समय, प्राय इसी दिशा मे पुष्पदंत ने अपने अपभ्रश-ग्रथो की रचना की है। महापुराण, णायकुमार-चरिउ और जसहरचरिउ उसकी प्रसिद्ध रचनाए हैं। इन सब ग्रथकारो को दक्षिण भारतीय साहित्य के उपबृ हण के कारण कभी भुलाया नही जा सकता।

जब जैन लेखको ने कन्नड और तमिल भाषाओ का प्रयोग साहित्यिक दृष्टि से किया, तब व्याकरणो और कोशो की आवश्यकता का अनुभव किया गया। कुछ कन्नड' व्याकरण संस्कृत भाषा के माध्यम से प्रस्तुत की गई। भट्ट अकलक ने शब्दानुशासन की रचना संस्कृत-सूत्रो मे की। केशिराज द्वारा प्रणीत 'शब्दमणि दर्पण कन्नड का व्यवस्थित तथा पूर्ण व्याकरण है। वस्तुत यह उदाहरण-समन्वित एक व्याख्या-ग्रथ है। पहले कन्नड काव्य संस्कृतनिष्ठ होते थे किंतु बाद मे अडय्य जैसे कवियो ने 'कब्बिगर-काव जैसे' काव्यो की रचना की जिनमे अधिकाशत कन्नड शब्द थे। यह प्रशसनीय कार्य है।

प्राचीन काल से ही कई काव्यो की रचना तमिल मे जैन कवियो द्वारा की गई

और आज भी की जा रही है। इस संबंध में शिलप्पदिकारम्, जीवकचिंतामणि आदि महान् कृतियां हैं। कन्नड में काफी काम हो चुका है और हो रहा है किंतु तमिल में अभी भी पर्याप्त गुंजाइश है समालोचनात्मक तथा तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से। जैन लेखकों ने एक साथ तमिल, कन्नड, प्राकृत और संस्कृत में रचनाएं कीं। कई बार एक ही कथासूत्र का विस्तार भिन्न-भिन्न लेखकों द्वारा भिन्न-भिन्न भाषाओं में हुआ है। यद्यपि यह सत्य है कि तत्स्थानीय वातावरण की गंध के कारण उनमें अन्तर हो गया है। उदाहरणार्थ, यशोधर की कथा इन सभी भाषाओं में उपलब्ध होती है। अत यहां इन सभी पाठान्तरों के तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता है।

प्राचीन तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के क्षेत्र में जैनों ने प्रचुर योगदान दिया है। उनका लक्ष्य समाज को धार्मिक तथा नैतिक शिक्षा देना था। अत उन्होंने प्रचलित भाषा को प्राथमिकता दी। उन्होंने अपभ्रंश साहित्य को अत्यन्त सावधानी से सुरक्षित रखा क्योंकि यह साहित्य उनके लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण था जितना कि संस्कृत और प्राकृत का। दूसरों ने इसकी सुरक्षा पर ध्यान नहीं दिया किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि उन्होंने इस भाषा का उपयोग ही नहीं किया। हमारे पास विश्वास करने लायक ऐसे तथ्य विद्यमान हैं कि अपभ्रंश में अनेक जैनेतर ग्रंथ थे। हेमचंद्र द्वारा उद्धृत अपभ्रंश के अंश इस बात को स्पष्टतया संकेतित करते हैं।

हमारे कुछ हिंदी मित्र अपभ्रंश को प्राकृत से अलग समझते हैं। पर ऐसा नहीं है। परवर्ती कुछ रचनाओं के बारे में उनका दृष्टिकोण ठीक हो सकता है किंतु अन्तत जैसे हम बिना संस्कृत और पालि के प्राकृत नहीं समझ सकते हैं, उसी प्रकार प्राकृत के संदर्भ के बिना अपभ्रंश को सम्यक् रूप से समझना असंभव है। वस्तुत पूर्ण और सही चित्र प्राप्त करने के लिए अध्ययन में संस्कृत, प्राकृत (पालि भी) और अपभ्रंश साथ-साथ चलने चाहिए। इनमें से किसी एक में विशेषज्ञ बना जा सकता है किंतु दूसरों की पूर्णत अवहेलना नहीं की जा सकती। जितनी हम उनकी अवहेलना करेंगे उतने ही हमारे निष्कर्ष अधूरे होंगे। राजस्थान, गुजरात और मध्यप्रदेश के भंडारों में अपभ्रंश के बहुत ग्रंथ सुरक्षित हैं। अद्यावधि जो कुछ प्रकाशित किया गया है, वह सब अत्यल्प है। बहुत कुछ पांडुलिपियों के रूप में पड़ा हुआ है। इनका प्रकाशन और आलोचनात्मक अध्ययन भारतीय आर्यभाषाओं के विकास को समझने में अत्यंत उपयोगी होगा। मैं हिंदी के विद्वानों से निवेदन करता हूं कि वे इस उपेक्षित कार्य की ओर अपना ध्यान केंद्रित करें।

यह पूछा जा सकता है कि जैन धर्म ने तथा इसके अनुयायियों ने अखिल भारतीय जनता के लिए क्या किया। जैन धर्म अहिंसावादी है। इसका यह अर्थ नहीं कि यह युद्धक्षेत्र में भी युद्ध के लिए निषेध करता है। कुछ विद्वानों ने इस

प्रकार का दोषारोपण इस पर किया है। परतु यह सही नही है। कुछ विशेप परिस्थितियो मे हिसा करना निपिद्ध नही है। दक्षिण भारत के इतिहास मे ऐसे अनेक उदाहरण मौजूद हैं जहा श्रावको ने युद्ध किये। इस प्रकार के उदाहरण गुजरात और राजस्थान मे भी देखे जा सकते है। जैन-धर्म मे अहिसा को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। किंतु इसकी सीमाए भी है। अपनी इज्जत, गृहिणी की इज्जत तथा देश की स्वतत्रता की रक्षा के निमित्त हिसा के लिए छूट दी गई है। किंतु जब तक हमारे आदर्श ऊचे नही हैं तब तक हम विशेप अच्छा व्यवहार नही कर सकते। इसीलिए अहिसा विपयक आदर्श जैन-धर्म मे सर्वोपरि रखा गया है। यह सच है कि आदर्शो तक पहुचा नही जा सकता किंतु आदर्शो को सामने जरूर रखने चाहिए।

जैन-मदिरो ने, जैन-साधुओ ने और जैन-शास्त्रो ने जैन-धर्म की जागृति को अक्षुण्ण रखा है। जहा तक मैं समझता हू जैन-धर्म का पालन करना अत्यत कठिन है। एक सच्चा जैन अपने भगवान् के पास जाकर यह नही माग सकता कि मुझे पुत्र दो या पुत्री दो या और कोई वरदान दो। जैन-तीर्थंकर इस प्रकार का कोई काम नहीं करते। यदि कोई जैन ऐसा करते हैं तो उन्होंने जैन-धर्म के परमात्मा की धारणा को नहीं समझा है। वे जैन-धर्म के मूलभूत सिद्धात के विपरीत कार्य कर रहे हैं। जैन-तीर्थंकर वीतराग है, निष्परिग्रही हैं और कुछ भी नही दे सकते। जैन-पूजा का अर्थ है कि पूजक सिद्धो की स्थिति तक पहुचना चाहता है और इसलिए वह पूजा करता है। जैन-दर्शन मे व्यक्ति पूर्णत स्वतत्र है। वह अपने शुभाशुभ कर्मो के लिए स्वय उत्तरदायी है। किंतु दुर्भाग्यवश बहुत से जैन इस बात को भूल बैठे है।

जैन-धर्म के मूलाधार तीन सिद्धात हैं अहिसा, अनेकात और अपरिग्रह। अहिसा के विपय मे पर्याप्त कहा जा चुका है। दर्शन के क्षेत्र मे जैनो ने अनेकात को पुरस्कृत किया है। इसका अर्थ है कि सत्य के अनेक पहलू होते हैं। अत आदमी को सहिष्णु बनना चाहिए ताकि दूसरे का दृष्टिकोण सम्यक्तया समझा जा सके। यदि अहिसा सामाजिक आदर्श है तो अनेकात बौद्धिक क्षेत्र मे आदर्श। समाज का सदस्य होने के नाते जैनो से कहा गया है कि वे अपरिग्रह व्रत का पालन करें। अर्थात् आवश्यकतानुसार ही वस्तुओ को सगृहीत करें और अतिरिक्त वस्तुओ का दान कर दें। यह स्वैच्छिक बधन है। स्वय जीओ और दूसरो को भी जीने दो। जब आपका मत दूसरो से मेल न खाता हो तो दूसरो के मत को सहानुभूतिपूर्वक सुनो। यह है जैन और जैन-धर्म का प्रभाव भारतीय समाज पर।

जैन कला एवं पुरातत्त्व

•

प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी

जैन मूर्तिकला का प्रारम्भ कब हुआ, इसका उत्तर देना कठिन है। आद्य ऐतिहासिक युग में जैन श्रमण विचारधारा के जन्म या उसके प्रारम्भिक विकास के साथ क्या कला का भी उद्भव हुआ और यदि हुआ तो उसका स्वरूप क्या था, इस बारे में कुछ निश्चित नही कहा जा सकता। अनेक विद्वानो की धारणा है कि सिंधु घाटी की ताम्राश्मयुगीन सभ्यता में प्राप्त कतिपय कलाकृतियो में जैन प्रभाव परिलक्षित है। हडप्पा की एक मानव धड मूर्ति को तीर्थंकर माना जाता है। परन्तु इस मान्यता को पुष्ट आधार प्राप्त नही है।

मथुरा, उदयगिरि, खण्डगिरि, कौशाबी, विदिशा, उज्जयिनी आदि स्थानो से अनेक प्राचीन अवशेष प्राप्त हुए है। उनमे पता चलता है कि ईस्वी सन् के पहले उत्तर भारत में कई जगह जैन स्तूपो, विहारो तथा तीर्थंकर प्रतिमाओ का निर्माण हो चुका था। उडीसा की हाथीगुफा से मिले हुए राजा खारवेल के अभिलेख से ज्ञात होता है कि ईस्वी पूर्व चौथी शताब्दी मे मगध के राजा नन्द (महापद्मनन्द) तीर्थंकर की एक प्रसिद्ध प्रतिमा कलिंग से पाटलिपुत्र उठा ले गये थे। इस मूर्ति को खारवेल मगध से फिर ले आये और उसे उन्होने अपने राज्य मे प्रतिष्ठापित किया। इस उल्लेख से पता चलता है कि तीर्थंकर प्रतिमाओ का निर्माण महापद्मनन्द के पहले प्रारम्भ हो चुका था।

उत्तर भारत मे जैन कला के जितने प्राचीन केंद्र थे उनमे मथुरा का स्थान अग्रगण्य है। सोलह शताब्दियो से ऊपर के दीर्घ काल मे मथुरा मे जैन धर्म का विकास होता रहा। यहा के चित्तीदार लाल बलुए पत्थर की बनी हुई कई हजार जैन कलाकृतिया अब तक मथुरा और उसके आस-पास के जिलो से प्राप्त हो चुकी है। इनमे तीर्थंकर आदि प्रतिमाओ के अतिरिक्त चौकोर आयागपट्ट, वेदिकास्तम्भ, सूची, तोरण तथा द्वारस्तम्भ आदि हैं। मथुरा के जैन आयागपट्ट विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन पर प्राय. बीच मे तीर्थंकर मूर्ति तथा उसके चारो ओर विविध

प्रकार के मनोहर अलकरण मिलते हैं। स्वस्तिक, नन्द्यावर्त, वर्धमानक्य, श्रीवत्स, भद्रासन, दर्पण, कलश और मीनयुगुल इन अष्टमगल द्रव्यों का आयागपट्टों पर सुन्दरता के साथ चित्रण किया गया है। एक आयागपट्ट पर आठ दिक्कुमारिया एक-दूसरे का हाथ पकडे हुए आकर्षक ढग से मडल-नृत्य मे सलग्न दिखायी गयी हैं। मडल या चक्रवाल अभिनय का उल्लेख 'रायपसेनिय सूत्र' मे भी मिलता है। एक अन्य आयागपट्ट पर तोरण द्वार तथा वेदिका का अत्यन्त सुदर अकन मिलता है। वास्तव मे ये आयागपट्ट प्राचीन जैन कला के उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इनमे से अधिकाश अभिलिखित हैं, जिन पर ब्राह्मी लिपि मे लगभग ई० पू० १०० से लेकर ईसवी प्रथम शती के मध्य तक के लेख है।

मथुरा कला की मूर्तियो मे हाथ मे पुस्तक लिए हुए सरस्वती, अभय मुद्रा मे देवी आर्यवती तथा नैगमेश की अनेक मूर्तिया विशेष उल्लेखनीय हैं। तीर्थंकर प्रतिमाए प्राय ध्यान-मुद्रा मे बैठी हुई मिली हैं। कुछ कायोत्सर्ग मुद्रा में भी हैं। कुषाण, गुप्त तथा मध्यकाल की अनेक सर्वतोभद्रिका प्रतिमाए भी उपलब्ध हुई हैं। कलाकारो ने विभिन्न तीर्थंकर मूर्तियो के निर्माण मे दिव्य सौंदर्य के साथ आध्यात्मिक गांभीर्य का जैसा समन्वय किया है उसे देखकर पता चलता है कि भावाभिव्यक्ति मे ये कलाकार कितने अधिक कुशल थे।

प्राचीन बौद्ध एव जैन स्तूपो के चारो ओर वेदिका की रचना का प्रचलन था। वेदिका-स्तभो आदि के ऊपर स्त्री-पुरुषो, पशु-पक्षियो, लता-वृक्षो आदि का चित्रण किया जाता था। ककाली टीले से प्राप्त जैन वेदिका स्तभो पर ऐसी बहुत-सी मूर्तिया उत्कीर्ण हैं जिनमे तत्कालीन आनदमय लोकजीवन की सुदर झाकी मिलती है। इन मूर्तियो में विविध आकर्षक मुद्राओ मे खडी स्त्रियो के चित्रण अधिक हैं।

सौंदर्य के अनिद्य साधन के रूप मे नारी की उपस्थिति प्राचीन जैन कला मे विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हमारे कलाविदो ने कला के उस रूप की अभिव्यक्ति को आवश्यक माना, जिसके द्वारा न केवल लोकरजन की सिद्धि हो अपितु समाज और धर्म को निष्क्रिय एव निर्जीव होने से बचाया जा सके। मूर्तिकला मे नारी के श्री रूप को प्रतिष्ठापित कर उन्होने अपने इस स्पृहणीय उद्देश्य को चरितार्थ किया।

मथुरा के अतिरिक्त उत्तर भारत मे अन्य अनेक केंद्र थे, जिनमे उत्तर गुप्त-काल तथा मध्यकाल मे जैन कला का विस्तार होता रहा। वर्तमान बिहार तथा उत्तर प्रदेश मे अनेक स्थान तीर्थंकरो के जन्म, तपश्चर्या तथा निर्वाण के स्थान रहे है। अत यह स्वाभाविक ही था कि इन स्थानो पर धर्म, कला तथा शिक्षा सस्थाओ की स्थापना होती। कौशाबी, प्रभास, श्रावस्ती, कपिल्य, अहिच्छत्रा, हस्तिनापुर, देवगढ, राजगृह, वैशाली, मदारगिरि, पावापुरी आदि ऐसे ही स्थान थे। इन स्थानो से जैन कला की जो प्रभूत सामग्री उपलब्ध हुई है उससे पता

चलता है कि जैन-धर्म ने अपनी विशिष्टता के कारण भारतीय लोकजीवन को कितना अधिक प्रभावित कर दिया था। जैन-धर्म की अजस्रधारा उत्तरी क्षेत्र तक सीमित नही रही, बल्कि वह भारत के अन्य भागो को भी आप्लावित करती रही। मध्यभारत मे ग्वालियर, देवगढ, चदेरी, सोनागिरि, खजुराहो, अजयगढ, कुडलपुर, जसो, अहारथूवोन और तुमैन एव राजस्थान तथा मालवा मे चदाखेडी, पालीताना आवू-पर्वत, सिद्धवरकूट तथा उज्जैन प्रसिद्ध जैन केंद्र रहे हैं। इसी प्रकार सौराष्ट्र, गुजरात तथा बवई प्रदेश मे गिरनार, वलभी शत्रुजय, अणहिलवाडा, एलोरा और वादामी तथा दक्षिण मे वेलूर, हापी, श्रवणवेलगोला तथा हलेवीड आदि स्थानो मे जैन स्थापत्य, मूर्तिकला तथा चित्रकला एक दीर्घकाल तक प्रवर्धित होती रही।

भारत के अनेक राजवशो ने भी जैन कला की उन्नति मे योग दिया। गुप्त-शासको के बाद चालुक्य, राष्ट्रकूट, कलचुरि, गग, कदम्ब, चोल तथा पाड्य वश के अनेक राजाओ ने जैन कला को सरक्षण एव प्रोत्साहन दिया। इन वशो के कई राजा जैन-धर्मानुयायी थे। इनमे सिद्धराज जयसिंह, कुमारपाल, अमोघवर्ष, अकालवर्ष तथा गगवशी मारसिंह द्वितीय के नाम उल्लेखनीय है। इन शासको को जैन-धर्म की ओर प्रवृत्त करने का श्रेय स्वनामधन्य हेमचद्र, जिनसेन, गुणभद्र, कुदकुद आदि जैन आचार्यों को है। राज्य-सरक्षण प्राप्त होने एव विद्वान आचार्यो द्वारा धार्मिक प्रचार मे क्रियात्मक योग देने पर जैन साहित्य तथा कला की वडी उन्नति हुई। मध्यकाल मे प्राय समस्त भारत मे जैन मदिरो एवं प्रतिमाओ का निर्माण जारी रहा। इनमे से कुछ तो ललित कला की दृष्टि से तथा तत्कालीन भारतीय सस्कृति की व्याख्या करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कृतिया है।

जैनाचार्यों की शब्द-विज्ञान को देन

•

साध्वी संघमित्रा

भाषा भावाभिव्यक्ति का सुंदरतम् माध्यम है। भाषा वह वाहन है जिस पर आरूढ होकर भाव पर संवेद्य बनते हैं। मानव-प्रगति में भाषा वरदान रूप सिद्ध हुई है। भाषा का भव्य प्रासाद शब्दो की नीव पर खडा होता है। शब्दो का अस्तित्व ही भाषा का अस्तित्व है। वह शब्द क्या है? इस प्रश्न के समाधान मे व्याकरण-शास्त्र का निर्माण हुआ। शब्द अचिन्त्य शक्ति के प्रकटीकरण मे तत्र और मत्र बने। विभिन्न दर्शनो ने विभिन्न व्याख्याए दी।

'शब्दयते अनेन इति शब्द' इस व्युत्पत्ति के आधार पर शब्द का वह शक्त्यात्मक रूप ही प्रस्तुत निबध का प्रतिपाद्य है, जिससे वातावरण शब्दित और ध्वनित होता है। शब्द का यह स्वरूप विज्ञान मे चर्चित ध्वनि शब्द से सबधित है।

आज वैज्ञानिक जगत् ने ध्वनितत्व ने बहुत प्रभाव पैदा किया है। उसने सपूर्ण ससार मे एक विचित्र हलचल पैदा कर दी है। ध्वनि के द्वारा ही आज मानव समुद्र की गहराइयो को माप सका है और विभिन्न रोगो का निदान कर सका है। ग्रामोफोन, वायलिन, प्यानो, टेपरिकार्डर ये सब ध्वनि-विज्ञान के परिणाम हैं। और भी न जाने कितने-कितने आश्चर्यजनक कार्य ध्वनि के द्वारा किए जा सकते है। ध्वनि के इन प्रयोगो को देखकर मानस मे सहज जिज्ञासा उभरती है, वह ध्वनि क्या है? उसके उत्पन्न और प्रसरण की प्रक्रिया क्या है? दर्शन ने इस विषय मे क्या दिया है और विज्ञान क्या दे रहा है?

जैनागम और शब्द

जैन दर्शन के अनुसार शब्द पुद्गलो का ध्वनि-रूप परिणाम है। पुद्गल के दो रूप हैं परमाणु पुद्गल और स्कन्ध पुद्गल। परमाणु पुद्गल शब्दो के जनक नही हैं। शब्द स्कन्ध प्रभव है। वह अनत प्रदेशी पुद्गल स्कन्धो के सघटन और विघटन से पैदा होता है। स्कन्ध स्वय अशब्द है। कीचड से कमल पैदा होता

है। शैल चट्टानों से पानी का स्रोत निकलता है। अशब्द से शब्द बनता है। शब्दोत्पत्ति की यह आगमिक प्रक्रिया बहुत वैज्ञानिक है।

विज्ञान और ध्वनि

विज्ञान मानता है ध्वनि मात्र प्रकंपन की प्रक्रिया है। शब्दोत्पादक सभी वस्तुएं कंपन करती हैं। बिना प्रकंपन के कभी ध्वनि पैदा नहीं होती। घंटी कंपन करती है तब ध्वनि उठती है। स्थिर घंटी में कभी आवाज नहीं निकलती। ट्यूनिंग फॉर्क फौलाद की छड़ का बना होता है। वह अंग्रेजी के अक्षर 'यू' के आकार में मुड़ा रहता है। इसमें किसी भी साधन से प्रकंपन उत्पन्न करने पर मधुर ध्वनि निकलती है। तब इसके किनारे स्पष्ट हिलते हुए दिखाई देते हैं। जब इनमें कंपन बंद हो जाता है तब ध्वनि भी बंद हो जाती है।

जैनागमों के आधार पर शब्दोत्पत्ति की प्रक्रिया दो प्रकार की है प्रायोगिक और वैस्रसिक। प्रायोगिक और वैस्रसिक ये दोनों जैन के पारिभाषिक शब्द हैं। प्रयत्नजन्य शब्दों को प्रायोगिक कहा जाता है। सहज निष्पन्न शब्द वैस्रसिक कहलाते हैं।

शब्द ध्वन्यात्मक होते हैं। पर सभी शब्द भाषात्मक नहीं होते। वैस्रसिक शब्द अभाषात्मक होते हैं। मेघ की गर्जन सहज पैदा होती है। उसमें कोई भाषा नहीं है। प्रायोगिक शब्द अभाषात्मक होते हैं और भाषात्मक भी। हमारे कंठों से उत्पन्न ध्वनि दोनों प्रकार की है। भाषात्मक ध्वनि अर्थ विशेष को अभिव्यक्त करती है। अभाषात्मक ध्वनि अर्थ-शून्य होती है। विज्ञान में संगीतमय और कोलाहलमय ये दो भेद ही मुख्यत ध्वनि तत्त्व के किए गये हैं।

श्रवण विज्ञान

शब्द श्रोत्रेन्द्रिय का विषय है। सब इन्द्रियां अपने-अपने विषय को ग्रहण करती हैं। श्रोत्रेन्द्रिय दो भागों में विभक्त है द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय।

द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं निर्वृत्ति द्रव्येन्द्रिय और उपकरण द्रव्येन्द्रिय। श्रोत्रेन्द्रियका बाह्याकार निर्वृत्ति है। निर्वृत्ति की वह शक्ति जो शब्द सुनने में उपकरण बनती है, वह उपकरणेन्द्रिय है। भावेन्द्रिय भी दो भागों में विभक्त है। लब्धि भावेन्द्रिय और उपयोग भावेन्द्रिय। श्रोत्रेन्द्रिय का जो स्वात्मजन्य क्षयोपशम है वह लब्धि है। इसके बिना श्रोत्रेन्द्रिय उपलब्ध नहीं होती। सुनने में ध्यान केंद्रित करना उपयोग है। इनमें लब्धि-इंद्रिय का स्थान प्रथम है, फिर क्रमश निर्वृत्ति उपकरण और उपयोग बनता है। अनेक शब्द निर्वृत्ति को छूकर चले जाते हैं। उपकरणेन्द्रिय के सहयोगाभाव में उन्हें सुन नहीं पाते। बहुत बार अन्य सब माध्यम काम करते हैं पर उपयोग के अभाव में शब्द सुनाई नहीं देते। श्रवण के चारों

उपकरण जब काम करते हैं तब ध्वनि सुनाई देती है।

विज्ञान मानता है कि प्रत्येक आदमी के कान के दो भाग होते हैं। एक कान का बाहरी भाग जो हमे दिखायी देता है, वह ध्वनि को ग्रहण करके अंदर पहुचाता है। इसमे एक नली होती है जिसके बाहरी सिरे पर बाल होते हैं। ये कानो की रक्षा करते हैं। इसके आगे झिल्ली होती है। इस झिल्ली पर जाकर जब ध्वनि टकराती है तब मस्तिष्क मे फैले हुए श्रवण शक्यात्मक ज्ञानततु इस ध्वनि को पकड लेते हैं। कान का पर्दा फट जाने पर मनुष्य बहरा हो जाता है। ज्ञानततु सुरक्षित रहने पर भी वह सुन नही पाता। इसी प्रकार ध्यान की विकेन्द्रित स्थिति मे भी शब्दो का स्पर्श मात्र होता है। ज्ञानततुओ से उनका ग्रहण नही होता।

जैन दृष्टि के अनुसार सुनने मे भी एक क्रम रहता है। इद्रिया पहले स्थूल रूप को पकडती हैं। फिर क्रमश उसके सूक्ष्म रूप का निर्णय करती हुई आगे बढती हैं। इस क्रम को अवग्रहादि सकेतो मे स्पष्ट किया है। इद्रिय और पदार्थ का सयोग दर्शन है। इसे बौद्ध दर्शन मे सामीप्य और नैयायिक दर्शन मे सन्निकर्ष कहा जाता है। दर्शनान्तर मे जो अव्यक्त ज्ञान होता है वह जैन दर्शन मे व्यजनावग्रह है। वस्तु का ग्रहण अर्थावग्रह है। यह व्यजनावग्रह से कुछ विशद होता है। स्वरूप निश्चय मे विकल्प उठाकर सम्यक् पक्ष के निर्णय पर पहुचना ईहा है। दृढ निश्चय हो जाना अवाय है। लंबे समय तक ज्ञान का सस्कारो मे बल पकड लेना धारणा है। शब्द ज्ञान भी हमे इसी क्रम से होता है। सर्वप्रथम शब्द और कान का सयोग होता है। व्यंजनावग्रह मे शब्द का स्पर्श मात्र अस्पष्ट ज्ञान होता है। अर्थावग्रह मे जाति, लिंग आदि के निर्देश बिना शब्द के सामान्य रूप का ग्रहण होता है। शब्द है या स्पर्श इस विकल्प के साथ ईहा शब्द होने का निर्णय देती है। अवाय सुदृढ निश्चय के केंद्र बिंदु पर पहुच जाता है। यह ईहा के पर्यालोचन को ही पुष्ट नही करता पर अपना विशेष निर्णय प्रस्तुत करता है।

किसी भी शब्द को पकडते समय प्रत्येक बार यही क्रम रहता है। अवग्रह का अतिक्रमण कर कभी ईहा मे और ईहा का अतिक्रमण कभी अवाय मे नही हो सकता। सुनने के समय इस क्रम का बोध प्राय. हमे नही होता पर गाढ नींद मे सुप्त मनुष्य को जगाते समय इस क्रम को समझ सकते हैं। व्यजनावग्रह असख्य समय का होता है। अर्थावग्रह एक समय का है। ईहा और अवाय अतर्मुहूर्त लेते हैं। धारणा सख्येय असख्येय काल तक जीवित रहती है।

शब्द स्कन्ध का ग्रहण और विसर्जन

औदारिक, वैक्रियक और आहारक इन तीनो शरीरो के द्वारा शब्द-स्कन्ध का ग्रहण होता है और वचन योग के द्वारा उनका विसर्जन। शब्द-वर्गणाओ का ग्रहण सातर और निरतर दोनो प्रकार से होता है। सातर की पद्धति मे प्रत्येक समय के

व्यवधान से पुद्गल स्कन्धो का ग्रहण होता है और इसी प्रकार से निसर्ग भी। यह सांतरपद्धति का जघन्य रूप है। अधिक से अधिक असख्यात समय के अंतर से ग्रहण होता है। निरंतर की पद्धति मे प्रति समय ग्रहण होता रहता है। लेकिन निसर्ग निरंतर नही होता क्योकि प्रथम समय मे ग्रहण होता है और द्वितीय समय मे निसर्ग होता है। अगृहीत का निसर्ग नहीं होता है। प्रथम समय मे केवल ग्रहण होता है, निसर्ग नही होता। अतिम समय मे केवल निसर्ग होता है ग्रहण नही होता। मध्य मे ग्रहण और निसर्ग दोनो चालू रहते है।

ध्वनि चलने के लिए किसी न किसी माध्यम को चुनती है। विना माध्यम के चल नही सकती। यह अनेक प्रयोगो से प्रमाणित हो चुका है। काच के वर्तन मे घटी वजती हुई सुनाई देती है। पम्प भरा हवा को धीमे-धीमे निकालने लगें तो ध्वनि मद होने लगती है। संपूर्ण हवा निकालने पर घटी हिलती हुई दिखाई देती है। पर ध्वनि सुनाई नही देती। ध्वनि-प्रसार के लिए हवा एक माध्यम है। इसी प्रकार लोहा, तावा, जल, पृथ्वी आदि अनेक माध्यम है, जिनमे ध्वनि चलती है। विज्ञान की दृष्टि से प्रकाश से ध्वनि की गति वहुत ही मद है। वर्षा ऋतु में वादल की गर्जन और विजली की चमक एक साथ उत्पन्न होती है। किंतु प्रकाश हमे पहले दिखाई देता है, गर्जन वाद में सुनाई देती है। प्रकाश सैकिंड मे जितनी दूरी को पार करता है, ध्वनि कई घटो मे भी उतनी दूरी पार नही कर सकती।

ध्वनि उत्पन्न होती है तव ध्वनि केंद्र के चारों ओर लहरें वनती हैं। वे हवा की तहो मे कपन करती हुई आगे वढती हैं। इन लहरो से प्रकंपित हवा की तहे जव कान की झिल्ली से टकराती हैं तव उनमे कपन होता है और ध्वनि सुनाई देती है। कान ध्वनि को सुनते हैं। पर श्रवणीयता की भी सीमा रहती है। कपन से ध्वनि पैदा होती है। हम हाथ को इधर-उधर हिलाते हैं तव कपन होता है पर वह कपनाक इतना कम होता है कि उनसे उत्पन्न ध्वनि हमे सुनाई नही देती। स्वस्थ मनुष्य के कान प्रति सैकिंड वीस कपन की ध्वनि को सुन सकते हैं। कुछ सोलह कपन की ध्वनि को सुन लेते हैं। सामान्यत कम-से-कम चौवीस कपन की ध्वनि को सुनते हैं। कपनाक को वढाते-वढाते एक ऐसी सीमा आ जाती है जहा मनुष्य के कानो से सुनना असंभव हो जाता है। यह सीमा अधिक से अधिक चालीस हजार कपन प्रति सैकिंड तक है। इससे अधिक कपनाक को सुन नही सकते। कुत्ते के कान इससे आगे भी सुन सकते हैं।

जैनागम कहते हैं कि वक्ता के द्वारा विसर्जित मूल रूप हमे कभी सुनाई नही देता किंतु हम मिश्रित और वासित शब्दो को ही सुनते हैं। जैसे किसी पुष्प से निकलने वाला गध-द्रव्य अनेक रजो से मिश्रित होता है। वह मिश्रित रूप ही नाक तक पहुचता है। इसी प्रकार वक्ता शब्दो को छोडता है। ये शब्द छहो दिशाओ मे फैलते हुए सम-श्रेणी से चलते हैं और अन्य अनेक पुद्गल स्कन्धो से मिश्रित हो

जाते हैं। समश्रेणी के श्रोता इन मिश्रित शब्दो को सुनते हैं। शब्द अनेक अन्य पुद्गलो को आदोलित करते हुए उनमे भी शब्द-शक्ति पैदा कर देते हैं। वे वासित शब्द कहलाते है। विषम श्रेणी के श्रोता इन वासित शब्दो को सुन पाते है।

विज्ञान की दृष्टि से ध्वनि तरगात्मक है। एक तरग दूसरी तरग मे शब्द शक्ति पैदा करती है। आगे से आगे बढती हुई अतिम तरग कान की झिल्ली को तरगित करती है, तब शब्द सुनाई देता है। जैन दृष्टि मे वक्ता से विसर्जित शब्द के स्कन्ध भाषा वर्गणा के स्कन्ध मे शब्द शक्ति पैदा कर देते हैं। वे वासित और मिश्रित शब्द जब इद्रिय द्वार को खटखटाते हैं तब ध्वनि सुनाई देती है।

जैन दर्शन मे गति के दो रूप है ऋजु गति और वक्र गति। शब्द सदा ऋजु गति से चलते है और तीव्र प्रयत्न से मुक्त शब्द एक समय मे लोकात तक पहुच सकते हैं। विज्ञान की दृष्टि से शब्द प्रति घटा ११०० मील की गति करता है। गति सबधी विज्ञान और आगमीय यह चिंतन विपरीत प्रतिभासित होता है। पर वास्तव मे इसमे विरोध नही है। विज्ञान का यह माप शब्द श्रवण से सबधित है। वक्ता और श्रोता के बीच शब्दो की मात्रा मे जितना समय खर्च होता है उसी के आधार पर शब्द की गति का निर्धारण हुआ। जैन दर्शन मे एक समय मे लोकात तक पहुच जाने का क्रम शब्द की शक्ति रूप मे है। श्रोता को कभी भी अतर्मुहूर्त से पहले सुनाई नही देता। अत जैन दर्शन का अतर्मुहूर्त और विज्ञान की दृष्टि मे प्रतिघटा ११०० मील की गतिक शब्द यात्रा बहुत समकक्ष है। विज्ञान मे ११०० मील की गति का सबध भी हवा के माध्यम से है। लोहा, काच और जल मे ध्वनि की गति बहुत तीव्र रहती है। जैन दृष्टि से प्रत्येक पुद्गल स्कन्ध की स्थिति जघन्य एक समय और अधिक से अधिक असख्यात समय की होती है। इस मान्यता के आधार पर शब्द स्कन्ध भी सहस्रो वर्षों तक तद्रूप मे जीवित रह सकता है।

यह विवेचन उस समय का है जिस समय ध्वनियो के स्थायित्व प्रदान करने वाले टेपरिकार्ड आदि की कल्पना भी नही उभरी थी। तार का सबध न होते हुए भी सुघोषा घटा का शब्द असख्य योजन पर रही हुई घटिकाओ मे प्रतिध्वनित होता है। वायरलेस की दिशा मे जैन दर्शन का यह सकेत जैनाचार्यो की शब्द विज्ञान के विषय मे महत्त्वपूर्ण देन है।

जैनाचार्यों का व्याकरणशास्त्र को योगदान

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री

भाषा के शुद्ध ज्ञान के लिए व्याकरण-ज्ञान परम आवश्यक है। धातु और प्रत्यय के संश्लेषण और विश्लेषण द्वारा भाषा के आंतरिक गठन का विचार व्याकरण शास्त्र में ही किया जाता है। लक्ष्य और लक्षणों का सुव्यवस्थित वर्णन करना ही इसका उद्देश्य है। यह शब्दों की व्युत्पत्ति और उनके निर्माण की प्राणवत प्रक्रिया के रहस्य का उद्घाटन करता है। यह शब्दों के विभिन्न रूपों के भीतर जो एक मूलधातु या संज्ञा निहित रहती है, उसके स्वरूप का निश्चय और उसमें प्रत्यय जोडकर विभिन्न शब्दों के निर्माण की महनीय प्रक्रिया उपस्थित करता है। साथ ही धातु और प्रत्ययों के अर्थों का निश्चय भी इसी के द्वारा होता है। संक्षेप में व्याकरण भाषा का अनुकरण कर उसके विस्तृत साम्राज्य में पहुचने के लिए राजपथ का निर्माण करता है। प्राचीन परंपरा के अनुसार इन्द्र, शाकटायन, आपिशलि, काश, कृत्स्न, पाणिनि, अमर, जैनेन्द्र और चन्द्र ये आठ शाब्दिक बतलाए गए हैं।[1] इन आठो मे जैनेन्द्र-व्याकरण जैन है।

व्याकरणशास्त्र के क्षेत्र मे जैनाचार्यों ने अनेक नयी स्थापनाए प्रस्तुत की है। आगम-ग्रन्थों के शब्दानुशासन सम्बन्धी नियमो के अतिरिक्त पूज्यपाद का जैनेन्द्र, पल्यकीर्ति का शाकटायन और हेमचन्द्र का हैम व्याकरण इस शास्त्र के क्षेत्र मे अद्वितीय है। नि सन्देह जैनाचार्यों ने व्याकरण क्षेत्र को अत्यधिक समृद्ध किया है।

जैन व्याकरणशास्त्र का उद्भव और विकास

भगवान् महावीर के मुख से निस्सृत द्वादशांगवाणी ही समस्त ज्ञान-विज्ञान का आकर है। कहा जाता है कि सत्यप्रवाद पूर्व मे व्याकरणशास्त्र के सभी प्रमुख नियम आए हुए हैं। इसमे वचन संस्कार के कारण, शब्दोच्चारण के स्थान, प्रयत्न वचन-प्रयोग, वचन-भेद आदि का निरूपण है। वचन संस्कार का विवेचन करते हुए इसके दो कारण बताये गए हैं स्थान और प्रयत्न। शब्दोच्चारण के हृदय,

कण्ठ, मस्तक, जिह्वामूल, दन्त, तालु, नासिका और ओष्ठ ये आठ स्थान बतलाए हैं। शब्दोच्चारण के प्रयत्नो का विवेचन करते हुए स्पृष्टता, ईषत् स्पृष्टता, विवृतता, ईषद्विवृतता और सवृतता इन पाच की परिभाषाए दी गई हैं। वचन के शिष्ट और दुष्ट प्रयोगो के विश्लेषण मे शब्दो के साधुत्व और असाधुत्व का भी प्रतिपादन किया गया है। अत सत्य प्रवादपूर्व मे व्याकरणशास्त्र की एक स्पष्ट रूपरेखा दृष्टिगोचर होती है। जैन आम्नाय के अनुसार पूर्वग्रन्थ भगवान् महावीर के पहले के है। इनका पूर्वान्त नाम ही इस बात का साक्षी है कि ये परम्परा मे पहले ही वर्तमान थे।

जैन आगम ग्रन्थो की रचना प्राकृत भाषा मे है, अत प्राकृत मे रचा गया कोई प्राकृत व्याकरण अवश्य रहा होगा। प्राकृत भाषा मे लिखित आगम ग्रन्थो मे व्याकरण की अनेक बाते आयी हैं।[२] ठाण-अग के अष्टम स्थान मे आठ कारको का निरूपण किया गया है। अनुयोगद्वार (सू० १२८) मे तीन वचन, लिंग, काल और पुरुषो का विवेचन मिलता है। इसी ग्रन्थ के सूत्र १२४, १२५ और १३० मे क्रमश चार, पाच, और दस प्रकार की सज्ञाओ का उल्लेख आया है। सूत्र १३० मे सात समासो और पाच प्रकार के पदो का कथन किया गया है। अत सक्षेप मे इतना ही कहा जा सकता है कि सस्कृत मे व्याकरणशास्त्र के प्रणयन के पूर्व जैनाचार्यो ने प्राकृत भाषा मे भी व्याकरण ग्रन्थ लिखे थे,[३] जो आज उपलब्ध नही है।

भारतीय इतिहास मे ई० पू० १८४ मे शुगवश के पुष्यमित्र ने मौर्यवश का अन्त कर मगध का शासन स्वायत्त किया है।[४] यह पुष्यमित्र ब्राह्मण धर्म का अनुयायी और श्रमण-धर्म का विरोधी था। अत इसके राज्यकाल मे प्राकृत की अवहेलना और सस्कृत भाषा का पुनरुद्धार हुआ। पतजलि जैसे भाष्यकार ने अष्टाध्यायी पर भाष्य लिखा। सस्कृत साहित्य की इस उत्क्रांति ने कुषाणकाल मे विराट् रूप धारण किया और सार्वजनिक भाषा के साथ-साथ राजभाषा का पद भी इसे प्राप्त हुआ। फलत ब्राह्मणो के साथ श्रमणो ने भी सस्कृत भाषा को ग्रथ-रचना का माध्यम बनाया। श्रमणो की प्रखर प्रतिभा ने अल्पकाल मे ही सस्कृत भाषा मे विभिन्न प्रकार का विपुल साहित्य रच डाला। पाणिनि के पश्चात् नवीन ग्रथनिर्माता वैयाकरण भी श्रमणो मे ही हुए हैं।[५] पतजलि और कात्यायन के अतिरिक्त जयादित्य और जिनेन्द्र बुद्धि ने भी पाणिनीय सूत्रो पर टीकाए लिखी है। टीकाओ से केवल व्याकरण का विशदीकरण हुआ था। अत जैन और बौद्धो ने, जो श्रमणो मे प्रधान थे, व्याकरण के मौलिक ग्रथ रचे। बौद्धाचार्य चन्द्रगोमी ने चान्द्र व्याकरण'और जैनाचार्य देवनन्दी या पूज्यपाद ने जैनेन्द्र व्याकरण की रचना की। आचार्य देवनन्दी ने अपने शब्दानुशासन मे निम्न छ पूर्ववर्ती आचार्यों का उल्लेख किया है

१. गुणे श्रीदत्तस्यास्त्रियाम् (१।४।३४)
२ कृवृषिमृजां यशोभद्रस्य (२।१।९९)
३ राद्भूतबले (३।४।८३)
४ रात्रेः कृति प्रभाचन्द्रस्य (४।३।१८०)
५ वेत्तेः सिद्धसेनस्य (५।१।७)
६ चतुष्टयं समन्तभद्रस्य (५।४।१४०)

उपर्युक्त सूत्रों में श्रीदत्त, यशोभद्र, भूतबलि, प्रभाचंद्र, सिद्धसेन और समंतभद्र इन छः वैयाकरणों के नाम आये हैं। इनके व्याकरण संबंधी ग्रंथ रहे होंगे, पर वे आज उपलब्ध नहीं हैं। अभयनंदी ने जैनेन्द्र की १।४।१६ की वृत्ति में 'उप सिद्धसेन वैयाकरण' द्वारा यह बतलाया है कि सब वैयाकरण सिद्धसेन से हीन हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार से भी हम यह निष्कर्ष निकालने में असमर्थ हैं कि जैन संप्रदाय में कौन-सा व्याकरण ग्रंथ सर्वप्रथम लिखा गया। उपलब्ध जैन व्याकरण साहित्य में देवनन्दी या पूज्यपाद का जैनेंद्र व्याकरण ही सबसे प्राचीन है।

जैनाचार्यों द्वारा लिखे गए छोटे-मोटे कई व्याकरण ग्रंथ उपलब्ध हैं। उनमें से केवल तीन ग्रंथ ही प्रधान हैं जैनेन्द्र, शाकटायन और हैम।

जैनेन्द्र व्याकरण

यह महत्त्वपूर्ण शब्दानुशासन है। इसमें ५ अध्याय, २० पाद और ३०.७ सूत्र हैं। इस व्याकरण के मूल सूत्रपाठ दो प्रकार के उपलब्ध हैं एक तो वह जिस पर आचार्य अभयनंदि की महावृत्ति तथा श्रुतकीर्ति कृत 'पंचवस्तु' नाम की क्रिया है और दूसरा वह जिस पर सोमदेव सूरिकृत 'शब्दार्णव चंद्रिका' और गुणनंदी कृत प्रक्रिया' हैं। पहले प्रकार के पाठ में लगभग ३००० और दूसरे में लगभग ३७०० सूत्र हैं। ७०० सूत्र अधिक होने के साथ शेष ३००० सूत्र भी दोनों में एक से नहीं हैं, किंतु दूसरे सूत्रपाठ में पहले सूत्रपाठ के सैकड़ों सूत्र परिवर्तित और परिवर्द्धित किये गए हैं। प्रथम सूत्रपाठ पाणिनि के ढंग का है। अतः उसमें वर्तमान भाषा साहित्य की दृष्टि से अनुशासन करने में अपूर्णता रह जाती है। इसी कमी की पूर्ति अभयनंदि ने अपनी 'महावृत्ति' में वार्तिक और उपसंख्यानों द्वारा की है।

दोनों प्रकार के सूत्रपाठों में कतिपय भिन्नताओं के रहते हुए भी समानता कम नहीं है। दोनों के अधिकांश सूत्र समान हैं। दोनों के प्रारंभ का मंगलाचरण भी एक है। दोनों में कर्ता का नाम देवनंदी या पूज्यपाद लिखा हुआ मिलता है।

आदरणीय स्वर्गीय प्रेमीजी ने असली सूत्रपाठ का निर्णय करते हुए लिखा है:
"हमारे खयाल में आचार्य देवनंदि या पूज्यपाद का बनाया हुआ सूत्रपाठ वही है, जिस पर अभयनंदी ने अपनी महावृत्ति लिखी है। यह सूत्रपाठ उस समय तक तो समझा जाता रहा, जब तक शाकटायन व्याकरण नहीं बना। शायद शाकटायन को

भी जैनेन्द्र के होते हुए एक जुदा जैन-व्याकरण बनाने की आवश्यकता इसलिए महसूस हुई कि जैनेन्द्र अपूर्ण है और इसलिए बिना वार्तिको और उपसख्यानो के उससे काम नही चल सकता, परन्तु जब शाकटायन जैसा सर्वाङ्गपूर्ण व्याकरण बन चुका, तब जैनेन्द्र व्याकरण के भक्तो को उसकी त्रुटिया खटकने लगी और उनमे से आचार्य गुणनदि ने उसे सर्वाङ्गपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न का फल ही दूसरा सूत्रपाठ है, जिस पर सोमदेव की शब्दार्णव चद्रिका रची गई है।" इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि शब्दार्णव चद्रिका और जैनेन्द्र प्रक्रिया के सूत्र जैनेन्द्र व्याकरण के वास्तविक सूत्र नही हैं। अभयनदि ने अपनी वृत्ति जिन सूत्रो पर लिखी है वे ही जैनेन्द्र के सूत्र हैं। इस शब्दानुशासन का जैनेन्द्र नाम होने का कारण रचयिता का जिनेन्द्रबुद्धि नाम ही है। श्रवणबेलगोल के ४० वें शिलालेख मे बताया गया है

"यो देवनदि प्रथमाविधानो बुद्धया महत्या स जिनेन्द्रबुद्धि "
श्री पूज्यपादोऽजनि देवतामिर्यत्पूजित पादयुग यदीयम् ॥"

आचार्य का प्रथम नाम देवनदी था, बुद्धि की महता के कारण वह जिनेन्द्रबुद्धि कहलाये और देवो ने उनके चरणो की पूजा की, इस कारण उनका नाम पूज्यपाद हुआ।

'पदेषु पदैकदेशान' नियम के अनुसार जिनेन्द्रबुद्धि का सक्षिप्त नाम जैनेन्द्र है और उनके द्वारा ग्रथित शब्दानुशासन जैनेन्द्र कहा जाता है। आचार्य देवनदी का समय स्वर्गीय प्रेमीजी ने अनेक प्रमाणो के आधार पर विक्रम की छठी शताब्दी निश्चित किया है।[७] अधिकाश विद्वान इसी को ठीक मानते हैं। श्री युधिष्ठिर मीमासक ने जैनेन्द्र महावृत्ति मे 'जैनेन्द्र शब्दानुशासन' तथा उसके 'खिल्यपाठ शीर्षक' मे अरुणन्महेन्द्रोमथुराम् उदाहरण से यह निष्कर्ष निकाला है कि आचार्य पूज्यपाद के काल की सीमा "महेन्द्र और उसकी मथुरा विजय" ऐतिहासिक घटना सुरक्षित है। यहा महेन्द्र से आशय गुप्तवशीय कुमारगुप्त से है। इसका पूरा नाम महेन्द्रकुमार है। अत आचार्य पूज्यपाद गुप्तवशीय महाराजाधिराज कुमार-गुप्त के समकालीन हैं और कुमारगुप्त का समय ई० ४१३-४५५ है। अत पूज्यपाद का समय विक्रम की पाचवी शती का उत्तरार्द्ध या छठी शती का पूर्वार्द्ध है। ये दर्शन और व्याकरण के धुरधर विद्वान् थे।

इस व्याकरण मे अनेक विशेषताए हैं। पाणिनीय व्याकरण के सूत्रो का आधार रहने पर भी स्वर और वैदिक प्रयोग सबधी सूत्रो का परित्याग कर दिया है। इसकी उल्लेखनीय विशेषताए निम्न हैं

१. स्वाभाविकत्वादभिधानस्यैकशेषानारम्भ (१।१।९९) सूत्र द्वारा बताया गया है कि शब्द स्वभाव से ही एक शेष की अपेक्षा न कर एकत्व, द्वित्व और बहुत मे प्रवृत्त होते हैं। अत एक शेष मानना निरर्थक है। अतएव इनका यह व्याकरण

अनेक शेष कहलाता है। इनका मत है कि लोकव्यवहार मे जो चीज सर्वत्र प्रचलित है उसे सूत्रबद्ध निर्देश करने से शास्त्र का निरर्थक कलेवर बढता है।

२ सिद्धिरनेकान्तात् (१।१।१) द्वारा बतलाया गया है कि नित्यत्व, अनित्यत्व, उभयत्व, अनुभयत्व प्रभृति नाना धर्मों से विशिष्ट धर्मीरूप शब्द की सिद्धि अनेकान्त से ही सभव है। एकान्त सिद्धात से अनेक धर्मविशिष्ट शब्दो का साधुत्व नही बतलाया जा सकता।

३ जैनेन्द्र का सज्ञाप्रकरण बहुत ही मौलिक और साकेतिक है। इसमे धातु, प्रत्यय, प्रातिपादिक, विभक्ति, समास आदि अन्वर्थ महासज्ञाओ के लिए बीजगणित जैसी अतिसक्षिप्त पूर्ण सज्ञाए आयी है। इस व्याकरण मे उपसर्ग के लिए 'गि', अव्यय के लिए 'झि', समास के लिए 'स', वृद्धि के लिए ऐप्, गुण के लिए 'एप्', सप्रसारण के लिए 'जि.', प्रथमाविभक्ति के लिए 'वा', द्वितीया के लिए 'इप्', तृतीया के लिए 'या', चतुर्थी के लिए 'अप्', पञ्चमी के लिए 'का', षष्ठी के लिए 'ता,' सप्तमी के लिए 'इप्' और सम्बोधन के लिए 'कि' सज्ञाए बतलायी गई हैं। इन सज्ञाओ की कल्पना मे आचार्य का अद्भुत पाण्डित्य छिपा हुआ है।

४ देवनदी ने 'सन्धौ' ४।३।६० को अधिकार सूत्र कहकर चतुर्थ अध्याय के तृतीय और चौथे पाद तथा पचम अध्याय के कुछ सूत्रो मे सधि का निरूपण किया है। अधिकार सूत्र के अनतर छकार के परे सधि मे तुगागम का विधान किया है। तुगागम करने वाले ४।३।६१ ४।३।६४ तक चार सूत्र आए है। इन सूत्रो द्वारा ह्रस्व, आङ्, माङ् तथा दी सज्ञको के परे प्रयोगो का साधुत्व प्रदर्शित किया है। यद्यपि यह प्रक्रिया पाणिनी के समान है, किंतु इसमे अधिक सूत्रो की आवश्यकता उपस्थित नही होती है। सज्ञाओ की मौलिकता के कारण ही अनुशासन मे लाघत्व आ गया है।

५ यह पचाग व्याकरण है। इसमे धातु पाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र और लिगानुशासन के निर्देश पूर्णतया उपलब्ध होते हैं।[6]

जैनेन्द्र व्याकरण की टीकाए

इस व्याकरण पर अभयनदिकृत 'महावृत्ति', प्रभाचन्द्रकृत शब्दाम्भोजभास्कर-न्यास', श्रुतकीर्त्ति कृत 'पचवस्तु प्रक्रिया' और प० महाचद्र कृत 'लघु जैनेन्द्र' ये चार टीकाए प्रसिद्ध हैं। पचवस्तु के अन्त के श्लोको मे जैनेन्द्र व्याकरण को महल की उपमा दी है। यह मूल सूत्र रूपी स्तम्भो पर खडा किया गया है, न्यासरूपी उसकी भारी रत्नमय भूमि है, वृत्तिरूप उसके कपाट हैं, भाष्यरूप शय्यातल है, टीकारूप उसके माल या मजिल हैं और यह पचवस्तु टीका उसकी सोपान श्रेणी है। इसके द्वारा उक्त महल पर आरोहण किया जा सकता है। अतएव यह स्पष्ट है कि पचवस्तु के कर्त्ता के समय तक इस व्याकरण पर एकन्यास, दो वृत्तिया, तीन

भाष्य और चार टीकाए विद्यमान थी।[९]

जैनेन्द्र सूत्रपाठ का सशोधित और परिवर्धित सस्करण शब्दार्णव कहलाता है। इसके कर्त्ता गुणनदि हैं।[१०] गुणनदि का समय दसवी शताब्दी माना गया है। शब्दार्णव की दो टीकाए उपलब्ध है 'शब्दार्णव चन्द्रिका' और 'शब्दार्णव प्रक्रिया'। 'शब्दार्णव चन्द्रिका' के रचयिता सोमदेव हैं। ये शिलाहार वश के राजा भोजदेव (द्वितीय) के समय मे हुए है। इन्होंने अर्जुरिका नामक ग्राम के त्रिभुवन तिलक नामक जैनमदिर मे शक सवत् ११२७ मे इसकी रचना की है। यह रचना सनातन जैन ग्रथमाला से प्रकाशित है।

'शब्दार्णव प्रक्रिया' जैनेन्द्र प्रक्रिया के नाम से मुद्रित है। जिस प्रकार अभयनदि की वृत्ति के आधार पर प्रक्रियारूप पचवस्तुटीका लिखी गयी है, उसी प्रकार सोमदेव की 'शब्दार्णव चन्द्रिका'-के आधार पर यह प्रक्रिया लिखी गई है।

जैनेन्द्र की उपलब्ध समस्त टीकाओ मे अभयनन्दि कृत महावृत्ति ही सबसे प्राचीन है। इनका समय ई० सन् ७५० है।[११] इन्होंने मगलाचरण के श्लोक मे पूर्ववर्ती प्राचीन टीकाओ का भी निर्देश किया है।

यच्छब्द लक्षणमसुव्रजपारमन्यै
व्यक्त मुक्तमभिधाण विधौ दरिद्रै।
तत्सर्वलोक हृदयप्रिय चारुवाक्यै
र्व्यक्ती करोत्यमयनन्दि मुनि समस्तम्॥

कठिनता से पार करने योग्य जिस शब्द लक्ष्य को दरिद्रो ने व्याख्या करने मे स्पष्ट नही किया, उस सपूर्ण शब्द लक्षण को अभयनन्दी मुनि सबके हृदय को प्रिय लगने वाले सुन्दर वाक्यो से स्पष्ट करता है।

अत स्पष्ट है कि अभयनन्दी ने अपने से पूर्ववर्ती व्याख्याकारो को 'दरिद्र' पद से व्यक्त किया है। सभवत ये व्याख्याए लघुवृत्ति के रूप मे रही होगी। आचार्य अभयनन्दी की यह वृत्ति काशिका के समान वृहत् है। इसमे निम्न विशेषताए विद्यमान हैं

१ कात्यायन के वार्त्तिक और पतजलि के महाभाष्य से सार लेकर पूज्यपाद से छूटे हुए व्याकरण नियमो की पूर्ति वार्त्तिक, परिभाषा और उपाख्यान रचकर की।

२ शिक्षासूत्र भी इस महावृत्ति मे पाये जाते है। १।१।२ की व्याख्या मे लगभग ४० शिक्षासूत्र दिए गये हैं।

3 परिभाषाओ की व्याख्याए भी वृत्ति मे की गई हैं।

४ अभयनन्दी ने अपनी वृत्ति मे अनेक उणादिसूत्र उद्धृत किए है। इसमे कुछ प्राचीन पचपादी से मिलते हैं और कुछ पाठान्तर हैं। अत जैनेन्द्र के उणादि-सूत्रो को जानने के लिए इस महावृत्ति का अध्ययन परम आवश्यक है।

५ अनेक नवीन शब्दो का साधुत्व प्रदर्शित किया है। यथा १।१।६६ की व्याख्या मे प्रविनय्य प्रयोग की सिद्धि मे अद्भुत पाडित्य दिखलाया गया है।

६. महावृत्ति मे दिए गए उदाहरणो से अनेक ऐतिहासिक तथ्य प्रकाश मे आते है यथा सूत्र १।४।४ की वृत्ति मे 'शरद मथुरा रमणीया,' 'मास कल्याणी काची' दिये गए उदाहरणो से अवगत होता है कि काचीपुरी मे मासव्यापी उत्सव होता था और मथुरा मे शरत्-आश्विन के महीने मे शोभा की जाती थी।

७ महावृत्ति के उदाहरणो मे तीर्थंकरो, महापुरुषो, ग्रथो और ग्रथकारो के नाम भी आए हैं। जैसे १।४।१५ मे 'अनुशालिभद्रम्', 'आढ्या, अनुसमन्तभद्र तार्किका' सूत्र १।४।१६ मे 'उपसिहनन्दिन कवय', 'उपसिद्धसेन वैयाकरण' तथा १।३।१० मे 'आकुमार यश समन्तभद्रस्य' प्रयोग आये हैं। इन प्रयोगो से सिद्ध है कि सबसे वडा धनी शालिभद्र, सबसे वडा तार्किक समन्तभद्र, सबसे वडा कवि सिहनन्दि और सबसे वडा वैयाकरण सिद्धसेन था।

८ व्याकरण सबधी अनेक गुत्थियो को भी इस महावृत्ति मे सुलझाया गया है।

इस प्रकार जैनेन्द्र व्याकरण सस्कृत साहित्य की इस द्वितीय क्रान्ति का सर्व-प्रथम व्याकरण है, इसमे पाणिनि की अष्टाध्यायी के लौकिक भाषा के अनुशासन सबधी सूत्रो को पूर्णतया सुरक्षित रखा गया है। अभयनन्दि ने बारह हजार श्लोक प्रमाण इसकी महावृत्ति लिखी है। अन्य टीकाए भी उपयोगी है।

शाकटायन व्याकरण

इस व्याकरण के रचयिता यापनीय सघ के आचार्य पल्यकीर्ति हैं। इनका दूसरा नाम शाकटायनाचार्य भी है। इन्होंने 'अमोघवृत्तिन्यास' सहित सूत्रो की रचना की है। अमोघवृत्ति स्वय शाकटायन या पल्यकीर्ति की बतायी जाती है। 'मुनि-वशाभ्युदय' मे बताया है "उस मुनि ने अपने वुद्धिरूप मन्दराचल के श्रुतरूप समुद्र का मन्थन कर यश के साथ व्याकरण रूप उत्तम अमृत निकाला। शाकटायन ने उत्कृष्ट शब्दानुशासन को बना लेने के पश्चात् अमोघवृत्ति नाम की टीका, जिसे वडी शाकटायन कहते है बनायी, जिसका परिमाण १८००० है। जगत्प्रसिद्ध शाकटायन मुनि ने व्याकरण के सूत्र और साथ ही पूरि वृत्ति भी बनाकर एक प्रकार का पुण्य सपादन किया। एक बार अविद्धकर्ण सिद्धात-चक्रवर्त्ती पद्मनन्दि ने मुनियो के मध्य पूजित शाकटायन को मन्दर पर्वत के समान धीर विशेषण से विभूषित किया।"

इससे स्पष्ट है कि पल्यकीर्ति ने स्वोपज्ञवृत्ति अमोघवृत्ति की रचना की है। 'ख्यातेदृश्ये' सूत्र की अमोघवृत्ति मे 'अदहदमोघवर्षोऽरातीन्' अर्थात् अमोघवर्ष ने शत्रुओं को जला दिया इस घटना से प्रथम अमोघ वर्ष का अपने शत्रुओ पर

विजय प्राप्त करने का उल्लेख होता है। इसी घटना का उल्लेख शक संवत् ८३२ के शिलालेख में भी हुआ है 'भूपालान कण्टकामान् वेष्टयित्वाददाह' अर्थात् अमोघ वर्ष ने उन काटों जैसे राजाओं को घेरा और जला दिया, जो उससे एकाएक विरुद्ध हो गए थे। इसमें लिट् लकार की 'ददाह' क्रिया का प्रयोग हुआ है, किन्तु शाकटायन ने लङ् लकार की 'अदहत्' क्रिया का प्रयोग किया है। इससे ज्ञात होता है कि शाकटायन के समय यह घटना घटी थी। अत शाकटायन या पल्यकीर्त्ति का समय शक संवत् ७३६-७८९ के मध्य में है।'

इस व्याकरण में चार अध्याय और १६ पाद हैं। प्रथम अध्याय में ७२१ सूत्र हैं, द्वितीय में ७५३, तृतीय में ७५५ और चतुर्थ में १००७ सूत्र हैं। कुल सूत्रों की संख्या ३२३६ है। कहा भी है

गणनेय सूत्राणामनुष्टुभामर्द्धसप्तमशतीह ।
त्रीणि सहस्त्राणि शते, द्वे षट्त्रिंशच्चयोगानाम् ॥[११]

इस शब्दानुशासन में नौ प्रकार के सूत्रों का कथन किया गया है—संज्ञा, नियम, निषेध, अधिकार, नित्यापवाद, विधि, परिभाषा, अतिदेश और विकल्प। यथा

संज्ञानियमनिषेधाधिकारनित्यापवादविधिपरिभाषा ।
अतिदेशविकल्पाविति, गतयशब्दानुशासनेसूत्राणाम् ॥[१२]

यह शब्दानुशासन सूत्रपाठ, गणपाठ, धातुपाठ, लिंगानुशासन और उणादि सूत्रपाठ रूप पचांग है। इसमें पाणिनीय या जैनेन्द्र के समान वार्त्तिक, उपाख्यान अथवा अन्य नियम वाक्यों की आवश्यकता नहीं है। यह इतना पूर्ण और व्यवहारोपयोगी है कि इस एक ही व्याकरण के अध्ययन से संस्कृत भाषा का पूर्ण पाण्डित्य प्राप्त किया जा सकता है।

शाकटायन व्याकरण ने प्रत्याहार शैली को अपनाया है। आरम्भ में 'तत्रादौ-शास्त्रेस-व्यवहारार्थं संज्ञासंग्रह कथ्यते' लिखकर (१) अइउण्, (२) ऋक्, (३) एओङ्, (४) ऐऔच् हयवरलञ्, (५) ञमङणनम्, (६) जवगडदश्, (७) झभघढधष्, (८) खफछठथट्, (९) चटतव्, (१०) कपय्, (११) शषसअं अः ×क ⌒प र्, (१२) हल्, (१३) इतिवर्ण समाम्नाय अणादि प्रत्याहारार्थं। इस प्रकार शाकटायन में १३ प्रत्याहार सूत्रों का निरूपण किया गया है। यहा एक विशेषता यह है कि शाकटायन में प्रत्याहार सूत्रों का संग्रह पाणिनि जैसा ही नहीं है और न इनका क्रम जैनेन्द्र में ही मिलता है, बल्कि इन्होंने उन दोनों आचार्यों के प्रत्याहार सूत्रों में संशोधन और परिवर्तन किया है। उदाहरणार्थ शाकटायन में लृकार को स्वर माना ही नहीं गया है। इसी प्रकार अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय की गणना व्यंजनों के अन्तर्गत कर ली गई है। पाणिनि ने अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को विकृत व्यंजन माना है। वास्तव में

अनुस्वार मकार या नकार जन्य है, विसर्ग कही सकार से और कही रेफ से स्वत उत्पन्न होता है तथा जिह्वामूलीय और उपध्मानीय दोनो क्रमश क, ख तथा प, फ के पूर्व विसर्ग के ही विकृत रूप हैं। पाणिनि ने इन सभी अक्षरो को अपने प्रत्याहार सूत्रो मे जो कि उनकी वर्णमाला कही जाएगी, स्वतन्त्र रूप से कोई स्थान नहीं दिया है। बाद के पाणिनीय वैयाकरणो मे से कात्यायन ने उक्त चारो को स्वर व्यजन दोनो मे ही परिगणित करने का निर्देश किया। शाकटायन व्याकरण मे अनुस्वार, विसर्ग आदि के मूल रूपो को ध्यान मे रखकर ही उन्हे प्रत्याहार सूत्रो मे स्थान दिया और उनके व्यजन होने की घोषणा कर दी गई।

शाकटायन के प्रत्याहार सूत्रो की दूसरी विशेषता यह है कि उनमे 'लण्' सूत्र को स्थान नही दिया गया है और लवर्ण को पुर्व सूत्र मे ही रख दिया गया है। इसमे सभी वर्णो के प्रथमादि अक्षरो के क्रम से अलग-अलग प्रत्याहार सूत्र दिये गये हैं। केवल वर्गों के प्रथम वर्णों के ग्रहण के लिए दो सूत्र है। पाणिनीय वर्ण समाम्नाय की भाति शाकटायन व्याकरण मे भी हकार दो बार आया है। पाणिनीय व्याकरण मे ४१, ४३ या ४४ प्रत्याहार रूपो की उपलब्धि होती है, किन्तु शाकटायन मे सिर्फ ३८ प्रत्याहार ही उपलब्ध है।

शाकटायन मे सामान्य सज्ञाए बहुत अल्प हैं। इत्सज्ञा और स्वसज्ञा सवर्ण सज्ञा करने वाले, बस ये दो ही सज्ञा विधायक सूत्र हैं और इस व्याकरण मे अवशेष दो सूत्र ग्राहक सूत्र कहे जाएगे। ग्राहक सूत्रो मे प्रथम सूत्र यह है कि जो स्वर से उसके जातीय दीर्घादि वर्णों का बोध करता है और दूसरा प्रत्याहार बोधक 'मात्मेतत्' ११११ सूत्र है। यह प्रत्याहार बोधक सूत्र इतना अस्पष्ट है कि इसकी आत्मा दबी-सी जान पडती है। यदि इसी को शब्दो के अनुसार समझना हो तो इसके पूर्व पाणिनि का 'आदिरन्त्येन सहेता' सूत्र कण्ठस्थ कर लेना होगा।

यद्यपि शाकटायन मे लृ वर्ण को ग्रहण नही किया गया है, पर उसके टीकाकारो ने "ऋवर्ण ग्रहणे लृवर्णस्यापि ग्रहणम् भवति तयोरेकत्वप्रतिज्ञानात्" कथन किया है। अत लृकार के ग्रहण की सिद्धि कर ली है।

यह स्पष्ट है कि शाकटायन व्याकरण मे सज्ञा सूत्रो की बहुत कमी है। आचार्य पल्यकीर्ति ने कारिकाओ मे भी प्रमुख सिद्धान्तो का सन्निवेश किया है। इस शब्दानुशासन के सज्ञा प्रकरण मे कुल छह सूत्र हैं, उनमे भी दो ही सूत्र ऐसे हैं, जो सज्ञा विधायक कहे जा सकते हैं। शाकटायन ही एक ऐसा व्याकरण है जिसमे बहुत कम सज्ञाओ से काम चलाया गया है। सरलता और आशु बोधता की दृष्टि से इस शब्दानुशासन के सज्ञा प्रकरण का अधिक महत्त्व है। पाणिनी और जैनेन्द्र के समान पल्यकीर्ति ने सज्ञाओ को सक्षिप्त, जटिल और साकेतिक बनाने की चेष्टा नहीं की है।

शाकटायन मे 'न' ११।७० सूत्र के द्वारा विराम मे सन्धिकार्य का निषेध

करते हुए अविराम सन्धि का विधान मानकर 'न' सूत्र को अधिकार सूत्र बताया है। अच् सन्धि के आदि मे सबसे पहले अयादि सन्धि का विधान किया है। पश्चात् १।१।७३ द्वारा यण् सन्धि का निरूपण किया है। यण् सन्धि के विधान के प्रसग मे शाकटायन मे 'ह्रस्वो वाऽपदे' १।१।७४ सूत्र है, इसके द्वारा दधी+अत्र=दधिअत्र, दध्यत्र, नदी+एषा=नदिएषा=नद्येषा रूप सिद्ध होते हैं। शाकटायन का यह विधान बिलकुल नवीन है। पाणिनीय तन्त्र मे ह्रस्व विधान का नियम नही है। ज्ञात होता है कि शाकटायन के समय मे भाषा का प्रवाह पाणिनि की अपेक्षा बहुत आगे बढ गया है।

प्रकृतिभाव सन्धि को शाकटायन ने निषेध सन्धि कहा है। इस प्रकरण मे केवल चार ही सूत्र आए हैं। यद्यपि पाणिनि की अपेक्षा इसमे कोई मौलिकता या नवीनता नही है, फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि शाकटायन ने बहुत थोडे मे अधिक कार्य कर दिखलाया है। शाकटायन मे स्वर सन्धि के अन्तर्गत द्वित्व सन्धि को भी रखा गया है और इसका अनुशासन ६ सूत्रो मे किया है। यह अनुशासन पाणिनि के समान है, किन्तु इसका प्रभाव उत्तरकालीन वैयाकरण हेम पर अधिक पडा है।

सम्राट् शब्द की सिद्धि शाकटायन ने 'सम्राट्' १।१।१३ सूत्र द्वारा की है। वृत्ति मे 'समोमकारो निपात्यते क्लीवन्ते राजि परे' लिखा है। इससे स्पष्ट है कि उन्होंने मकार को निपातन से ही ग्रहण कर लिया है। यद्यपि शाकटायन मे इस सूत्र से पूर्व वैकल्पिक अनुस्वार का अनुशासन विद्यमान है, तो भी उन्होंने अनुस्वाराभाव का जिक्र नही किया है। हमे ऐसा लगता है कि निपातन कह देने से ही शाकटायन ने इसलिए सन्तोष कर लिया कि निपातन का अर्थ ही है, अन्य विकार्य स्थितियो का अभाव। अत उन्होंने हेम की तरह अनुस्वाराभाव कहने की आवश्यकता नही समझी और उनके टीकाकारो ने इस पर प्रकाश डाला।

शब्दसाधुत्व मे शाकटायन का दृष्टिकोण पाणिनि के ही समान है। इन्होंने एक-एक शब्द को लेकर सातो विभक्तियो मे उनके रूपो की साधनिका उपस्थित की है।

स्त्री-प्रत्यय प्रकरण मे शाकटायन ने स्त्री प्रत्ययान्त शब्दो का साधुत्व छोड दिया है। जैसे दीर्घपुच्छी, दीर्घपुच्छा, कबरपुच्छी, मणिपुच्छी, विषपुच्छी, उलूकपुच्छी, अश्वक्रीति, मनसाक्रीति प्रभृति प्रयोगो का शाकटायन मे अभाव है। इस कमी की पूर्ति हेमचन्द्र ने २।४।४१, २।४।४२, २।४।४३ और २।४।४५ सूत्रो के प्रणयन द्वारा की है। शाकटायन मे कारक सामान्य और कर्त्ता, कर्मादि की परिभाषाए नही आयी है। इसमे विभक्ति विधायक सूत्रो का सीधे ढग से ही कथन किया गया है। अत शाब्दिक अनुशासन की दृष्टि से यह प्रकरण उतना महत्त्वपूर्ण नही है जितना पाणिनि का है।

शाकटायन मे समास प्रकरण आरम्भ करते ही बहुव्रीहि समास विधायक सूत्र का निर्देश किया गया है। पश्चात् कुछ तद्धित प्रत्यय आ गये हैं, जिनका उपयोग

प्राय वहुव्रीहि समास मे होता है। जैसे न, दुस्, सु, इनसे परे प्रजा शब्दान्त वहुव्रीहि से अम् प्रत्यय, न, दुन् तथा अल्प शब्द से परे मेधा शब्दान्त वहुव्रीहि से अम् प्रत्यय; जाति शब्दान्त वहुव्रीहि से छ प्रत्यय एव धर्म शब्दान्त वहुव्रीहि से अम् प्रत्यय होता है। इसके पश्चात् वहुव्रीहि समास मे पुवद्भाव, ह्रस्व प्रभृति अनुशासनो का नियम है। सुगन्धि, पूतगन्धि, सुरभिगन्धि, घृतगन्धि आदि सामासिक प्रयोगो के साधुत्व के लिए इत् प्रत्यय का विधान किया है। वहुव्रीहि समास समाप्त करते ही अव्ययीभाव समास का प्रकरण आरम्भ हो जाता है तथा युद्ध-वाच्य मे ग्रहण और प्रहरण अर्थ मे केशाकेशि और दण्डादण्डि को अव्ययीभाव समास माना है। यत शाकटायन के अनुसार अव्ययीभाव समास के प्रधान दो भेद हैं अन्य पदार्थ प्रधान और उत्तर पदार्थ प्रधान। अत 'केशांश्च केशाश्च परस्परस्य ग्रहणम् यस्मिन् युद्धे' इस प्रकार के साध्य प्रयोग विग्रह वाक्य मे अन्य वाक्य प्रधान अव्ययीभाव समास है। पाणिनि ने जिन प्रयोगो को वहुव्रीहि समास मे गिनाया है, उनमे से कतिपय शाकटायन मे अव्ययीभाव समास मे परिगणित किये गये हैं।

शाकटायन का तद्धित, कृदन्त और तिङन्त प्रकरण भी प्राय पाणिनि के अनुसार है। परन्तु इन प्रकरणो मे प्रत्यय विधान और प्रत्ययो के अर्थ अपनी मौलिकता समेटे हुए हैं। कुशल अनुशासक ने उस शिल्पी का कार्य किया है, जो पुराने उपादानो को लेकर भी भवन का नये ढग से निर्माण करता है।

शाकटायन शब्दानुशासन की सात टीकाए अब तक उपलब्ध हैं। विवरण निम्न प्रकार है।

१. अमोघवृत्ति यह राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष के नाम पर लिखी गई है। स्वय सूत्रकर्त्ता ही इस वृत्ति के रचयिता हैं। यह सबसे बडी वृत्ति है।

२. शाकटायनन्यास यह अमोघवृत्ति पर प्रभाचन्द्र कृत न्यास है। इस ग्रन्थ के केवल दो अध्याय उपलब्ध हैं।

३. चिन्तामणि टीका (लघीयसी वृत्ति) यक्ष वर्मा ने अमोघवृत्ति को सक्षिप्त कर यह टीका लिखी है। व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से यह टीका अत्यन्त उपयोगी है।

४. मणिप्रकाशिका अजितसेन ने चिन्तामणि के अर्थ को व्यक्त करने के लिए इस टीका का निर्माण किया है। अनुशासन की दृष्टि से यह टीका भी अध्येताओ के लिए उपयोगी है।

५ प्रक्रिया संग्रह अभयचन्द्र ने सिद्धान्त कौमुदी के ढग की यह टीका लिखी है। जो पाणिनीय तन्त्र के लिए भट्टोजि दीक्षित ने कार्य किया है, वैसा ही यह कार्य है।

६ शाकटायन टीका वादिपर्वत वज्र-भावसेन त्रैवेद्य ने इस टीका को

रचना की है। यही भावसेन कातन्त्र की रूपमाला टीका के कर्त्ता भी हैं। इनका एक 'विश्वतत्व प्रकाश' नामक ग्रन्थ भी उपलब्ध है।

७. **रूपसिद्धि** पाणिनि सूत्रो पर लघुसिद्धान्त कौमुदी का निर्माण इसलिए हुआ कि जिज्ञासुओ को सक्षेप मे पाणिनीय शब्दानुशासन का बोध बिना किसी क्लेश के हो सके। इस बात को ध्यान मे रखकर दयापाल मुनि ने इस टीका की रचना की है। यह लघु सिद्धान्त कौमुदी के समान उपयोगी है। दयापाल के गुरु का नाम मतिसागर था। टीकाकार पार्श्वनाथ चरित और न्यायविनिश्चय के कर्त्ता वादिराज सूरि के सधर्मा थे। पार्श्वनाथ चरित की रचना शकसवत् ६४७ मे हुई है। अत टीकाकार का समय भी उपर्युक्त ही है।"

हेमशब्दानुशासन

आचार्य हेम का व्यक्तित्व जितना गौरवास्पद है, उतना ही प्रेरक भी। इनमे एक साथ ही वैयाकरण, आलकारिक, दार्शनिक, साहित्यकार, इतिहासकार, पुराणकार, कोषकार, छन्द अनुशासक और महान युग-कवि का अन्यतम समवाय हुआ है। हेम के इन विभिन्न रूपों मे उनका कौन-सा रूप सशक्त है, यह निश्चय करना कठिन है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि वैयाकरण हेम अपने क्षेत्र मे अद्वितीय है।

हेम के पूर्व पाणिनि, चान्द्र, पूज्यपाद, शाकटायन और भोजदेव आदि कितने ही वैयाकरण हो चुके हैं। इन्होंने अपने समय मे उपलब्ध समस्त शब्दार्थ का अध्ययन कर एक सर्वांगपूर्ण, उपयोगी एव सरल व्याकरण की रचना कर सस्कृत और प्राकृत दोनो ही भाषाओ को पूर्णतया अनुशासित किया है। तत्कालीन प्रचलित अपभ्रंश भाषा का अनुशासन लिखकर हेम ने इस भाषा को तो अमर बना ही दिया है, किन्तु अपभ्रंश के प्राचीन दोहो को उदाहरण के रूप मे उपस्थित कर लुप्त होते हुए महत्त्वपूर्ण साहित्य के नमूनो की रक्षा भी की है। वास्तविकता यह है कि शब्दानुशासक हेम का व्यक्तित्व अद्भुत है। इन्होंने धातु और प्रातिपदिक प्रकृति और प्रत्यय, समास और वाक्य, कृत और तद्धित, अपव्यय और उपसर्ग प्रभृति का निरूपण, विवेचन एव विश्लेषण किया है।

शब्दानुशासन के क्षेत्र मे हेमचन्द्र ने पाणिनि, भट्टोजि दीक्षित और भट्टिकाचार्य अकेले ही सम्पन्न किया है। इन्होंने सूत्रवृत्ति के साथ प्रक्रिया और उदाहरण भी लिखे हैं। सस्कृत शब्दानुशासन सात अध्यायो मे और प्राकृत शब्दानुशासन एक अध्याय मे इस प्रकार कुल आठ अध्यायो मे अपने अष्टाध्यायी शब्दानुशासन को समाप्त किया है।

सस्कृत शब्दनुशासन के उदाहरण सस्कृत द्व्याश्रय काव्य मे और प्राकृत शब्दानुशासन के उदाहरण प्राकृत द्व्याश्रय काव्य मे लिखे हैं।

संस्कृत शब्दानुशासन के प्रथम अध्याय मे २४१ सूत्र, द्वितीय मे ४६०, तृतीय मे ५२१, चतुर्थ मे ४८१, पचम मे ४६८, षष्ठ मे ६९२ और सप्तम मे ६७३ सूत्र हैं। कुल सूत्र सख्या ३५६६ है। प्रथम अध्याय के प्रथम पाद मे सज्ञाओं का विवेचन किया है। इसमे स्वर, ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, नामी, समान, सध्यक्षर, अनुस्वार, विसर्ग, व्यजन, धुट्, वर्ग, अघोष, घोषवत्व, अन्तस्थ, शिट्, स्व, प्रथमादि, विभक्ति, पद, वाक्य, नाम, अव्यय और संख्यावत् इन २४ का प्रतिपादन किया है। 'शिष्टायस्य द्वितीयो वा', १।३।५९ द्वारा ख्षीरम्, क्षीरम् तथा अप्सरा, अप्सरा जैसे शब्दों की सिद्धि प्रदर्शित की है। हिन्दी का खीर शब्द हेमचन्द्र के ख्षीरम् के बहुत नजदीक है।

हेम ने इस प्रकरण मे व्यजन और विसर्ग इन दोनो सधियो का सम्मिलित रूप मे विवेचन किया है। इसके कुछ सूत्र व्यजन सधि के हैं तथा कुछ विसर्ग के और आगे बढने पर विसर्ग सधि के सूत्रो के पश्चात् पुन व्यजन संधि के सूत्रो पर लौट आते है और अन्त मे पुन विसर्ग सधि की बातें बतलाने लगते हैं। सामान्य रूप से देखने पर यह एक गडबडझाला दिखलाई पडेगा, पर वास्तविकता यह है कि हेमचन्द्र ने व्यजन सधि के समान ही विसर्ग सधि को भी व्यजन सधि ही माना है, अत दोनो का एकजातीय स्वरूप है। दूसरी बात यह है कि प्राय देखा जाता है कि व्यजन सधि के प्रसग मे आवश्यकतानुसार ही विसर्ग सन्धि के कार्य का समावेश हो जाया करता है। हेम विसर्ग को 'र्' और 'स्' का प्रतिनिधि ही मानते हैं। प्रथम अध्याय के चतुर्थपाद मे कतिपय स्वरान्त और व्यजनात शब्दो का भी नियमन किया गया है।

द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद मे अवशेष शब्द रूपो की चर्चा, द्वितीय पाद मे कारक प्रकरण, तृतीय पाद मे षत्व-णत्व विधान और चतुर्थ पाद मे स्त्री प्रत्यय प्रकरण हैं। तृतीय अध्याय के प्रथम और द्वितीय पाद मे समास प्रकरण तथा तृतीय और चतुर्थपाद मे आख्यात प्रकरण आया है। चतुर्थ अध्याय के चारो पादो मे भी आख्यात प्रकरण का ही नियमन किया गया है। पचम अध्याय के चारो पादो मे कृदन्त और षष्ठ तथा सप्तम अध्याय मे तद्धित प्रकरण सन्निविष्ट हैं।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि हेम ने अपने पूर्ववर्ती समस्त व्याकरणशास्त्र का अध्ययन कर अपने शब्दानुशासन को सर्वांगपूर्ण और अद्वितीय बनाने का श्लाघनीय प्रयास किया है। अब यह विचार कर लेना भी आवश्यक है कि हेम मे अन्य व्याकरणों की अपेक्षा क्या वैशिष्ट्य है।

सर्वप्रथम पाणिनि और हेम की तुलना करने से ज्ञात होता है कि हेम ने पाणिनि से बहुत कुछ लिया है, पर इस अवदान को मौलिक और नवीन रूप मे ही उन्होंने प्रस्तुत किया है। विचार करने से अवगत होता है कि संस्कृत के शब्दानुशासको ने विभिन्न प्रकार मे अपनी-अपनी सज्ञाओं के सांकेतिक रूप दिये हैं। यत्र-

तत्र एकता होने पर भी विभिन्नता प्रचुर मात्रा मे विद्यमान है। यही तो कारण है कि जितने विशिष्ट वैयाकरण हुए, उनकी रचनाए अलग-अलग व्याकरण के रूप मे अभिहित हुई। विवेचन शैली की विभिन्नता के कारण एक ही सस्कृत भाषा मे व्याकरण के कई तन्त्र प्रसिद्ध हुए।

हेमचन्द्र की सर्वत्र व्यावहारिक प्रवृत्ति है। इन्होने स्वर तथा व्यजन विधान सज्ञाओ का विवेचन करने के अनन्तर विभक्ति, पद, नाम और वाक्य सज्ञाओ का बहुत ही वैज्ञानिक निरूपण किया है। पाणिनीय व्याकरण मे इस प्रकार के विवेचन का ऐकान्तिक अभाव है। पाणिनि तो वाक्य की परिभाषा देना ही भूल गए है। परवर्ती वैयाकरण कात्यायन ने सभालने का प्रयत्न अवश्य किया है, पर इन्होने वाक्य की जो परिभाषा 'एकतिङ् वाक्यम्' दी है, वह भी अधूरी ही रह गई है। बाद के पाणिनीय तन्त्रकारो ने इसे व्यवस्थित करना चाहा है, किन्तु वे भी 'एकतिङ् वाक्यम्' के दायरे से दूर नही जा सके हैं, फलत उनकी वाक्य-परिभाषा सीधा स्वरूप लेकर उपस्थित नही हो सकी है और उसकी अपूर्णता ज्यो की त्यो बनी रही है। किन्तु हेम ने वाक्य की बहुत स्पष्ट परिभाषा दी है 'सविशेषण-माख्यात वाक्यम्' १।१।२६। 'त्याद्यन्त पदमाख्यात साक्षात्पारम्पर्येण वा यान्याख्यातविशेषणानि तैं प्रयुज्यमानैरप्रयुज्यमानैर्वा सहित प्रयुज्यमाना प्रयुज्य-मान वा आख्यात वाक्यसज्ञ भवति।' अर्थात् मूलसूत्र मे सविशेषण आख्यात की वाक्यसज्ञा बतलाई गई है। यहा आख्यात के विशेषण का अर्थ है अव्यय, कारक, सज्ञा, विशेषण और क्रियाविशेषणो का साक्षात् या परम्परया रहना। इस सूत्र के वृत्त्यश से स्पष्ट है कि प्रयुज्यमान अथवा अप्रज्युमान विशेषणो के साथ प्रयुज्य-मान अथवा अप्रयुज्यमान आख्यात की ही वाक्य मे प्रधानता रहती है। यहा विशेषण शब्द से केवल सज्ञाविशेषण को ही ग्रहण नही किया गया है, अपितु साधारणत अप्रधान अर्थ मे इसे ग्रहण किया है। वैयाकरणो का यह सिद्धान्त भी है कि वाक्य मे आख्यात का अर्थ ही प्रधान होता है? हेम ने अपनी वाक्य-परिभाषा का सम्बन्ध 'पदायुग्विभक्त्येक वाक्ये वस्नसौ बहुत्वे' २।१।२१ सूत्र से भी माना है। अत पाणिनीय तन्त्रकारो की अपेक्षा हेम की वाक्य-परिभाषा अधिक तर्कसगत है।

हेम ने सात सूत्रो मे अव्यय सज्ञा का निरूपण किया है। इस निरूपण मे सबसे बडी विशेषता यह है कि निपात सज्ञा को अव्यय सज्ञा मे ही विलीन कर लिया है। इन्होने चादि को निपात न मानकर सीधा अव्यय मान लिया है। यह सक्षिप्तीकरण का एक लघुतम प्रयास है। इत् प्रत्यय और सख्यावत् सज्ञाओ का विवेचन भी पूर्ण है। हेम ने अनुनासिक का अर्थ व्युत्पत्तिगत मान लिया है, अत इसके लिए पृथक् सूत्र बनाने की आवश्यकता नही समझी है। सज्ञा प्रकरण की हेम की सज्ञाए शब्दानुसारी हैं, किन्तु आगे वाली कारकीय सज्ञाए अर्थानुसारी

है। पाणिनि के समान हेम की सज्ञाओं का तात्पर्य भी अधिक से अधिक शब्दावली को अपने अनुशासन द्वारा समेटना मालूम पड़ता है। अत हेम ने पाणिनि और जैनेन्द्र की अपेक्षा कम सज्ञाओं का प्रयोग करके भी कार्य चला लिया है। इस सत्य से कोई इनकार नही कर सकता कि हेम ने पाणिनीय व्याकरण का अवलोकन कर भी उनकी सज्ञाओं को ग्रहण नही किया है। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत सज्ञाए पाणिनि ने भी लिखी हैं, किन्तु हेम ने इन सज्ञाओं मे स्पष्टता और सहजबोध-गम्यता लाने के लिए एक, द्वि और त्रि मात्रिक को क्रमश ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत कह दिया है। यद्यपि पाणिनि के 'ऊकालोऽज्ह्रस्वदीर्घप्लुत' १।२।२६ सूत्र मे हेम का उक्त भाव अकित है, किन्तु हेम ने एकमात्रिक, द्विमात्रिक और त्रिमात्रिक कहकर सर्वसाधारण के लिए स्पष्टीकरण कर दिया है।

हेम और पाणिनि की सज्ञाओं मे एक मौलिक अन्तर यह है कि हेम प्रत्याहारो के झमेले मे नहीं पडे हैं, इनकी सज्ञाओं मे प्रत्याहारो का बिल्कुल अभाव है। वर्णमाला के वर्णों को लेकर ही हेम ने सज्ञा विधान किया है। पाणिनि ने प्रत्याहारो द्वारा सज्ञाओं का निरूपण किया है, जिससे प्रत्याहार क्रम को स्मरण किये बिना सज्ञाओं का अर्थबोध नहीं हो सकता है। अत हेम का सविधान पाणिनि और जैनेन्द्र की अपेक्षा सरल एव स्पष्ट है।

सन्धि प्रकरण मे भी हेम ने लाघव को कायम रखने की पूरी चेष्टा की है। गुण सन्धि मे ऋ के स्थान पर अर् और लृ के स्थान पर अल् किया है। पाणिनि को इसी कार्य की सिद्धि के लिए पृथक् 'उरणरपर' १।१।५ सूत्र मे लिखना पडा है। हेम ने इस एक सूत्र की बचत कर ली है। पाणिनि ने 'एडिपर रूपम्' ६।१।६४ सूत्र द्वारा पहले अ हो और बाद मे ए हो तो पर रूप करने का अनुशासन किया है। हेम ने 'वोष्ठौतौ समासे' १।२।१७ द्वारा लुक् का नियमन किया है। अत पाणिनि की अपेक्षा हेम मे लाघव है। हेम ने यह प्रक्रिया शाकटायन से अपनायी है।

पाणिनि ने ७।१।५७ के द्वारा जस् के स्थान पर 'शी' होने का विधान किया है हेम ने १।४।६ द्वारा सीधे जस् के स्थान पर 'ई' कर दिया है। इसका कारण यह है कि पाणिनि के यहा यदि केवल 'ई' का नियमन होता, तो यह जस् के अतिम वर्ण स् को भी होने लगता, अतएव उन्होंने शकार अनुबन्ध को लगाना आवश्यक समझा और समस्त जस् के स्थान पर शी का विधान किया। हेम के यहा इस तरह का कुछ भी झमेला नही है। इनके यहा जस् के स्थान पर किया गया 'ई' का नियमन समस्त जस् के स्थान पर होता है। अत यहा हेम की लाघव दृष्टि है। हेम ने पाणिनि की तरह सर्वादि की सर्वनाम सज्ञा नहीं की, किन्तु सर्वादि कहकर ही काम चलाया है। जहा पाणिनि ने सर्वनाम को रोककर सर्वनाम प्रयुक्त कार्य को रोका है, वहा हेम ने सर्वादि को सर्वादि ही नही मानकर काम चलाया है। यह

भी हेम की लाघव दृष्टि का सूचक है। पाणिनि ने 'आम्' को 'साम' बनाने के लिए सुट् का आगम किया है पर हेम ने १।४।१५ सूत्र द्वारा आम् को सीधे साम् बनाने का अनुशासन किया है।

अजन्त स्त्रीलिंग लतायै, लतया और लतायां की सिद्धि के लिए पाणिनि ने बहुत द्रविड प्राणायाम किया है। उन्होंने ७।३।११३ सूत्र से याट् किया है, पुन वृद्धि की, तब लतायै बनाया तथा दीर्घ करने पर लताया और लतायाम् का साधुत्व सिद्ध किया। पर हेम ने १।४।७ द्वारा सीधे यै, याट् और याम् प्रत्यय जोडकर उक्त रूपो का सहज साधुत्व दिखलाया है। हेम की यह प्रक्रिया सरल और लाघवसूचक है। मुनि शब्द की 'औ' विभक्ति को पाणिनि ने पूर्व सवर्ण दीर्घ किया है। हेम ने १।४।२१ सूत्र द्वारा इकार के बाद औ हो तो दीर्घ इकार और उकार के बाद औ हो तो दीर्घ ऊकार का अनुशासन किया है। हेम की यह प्रक्रिया भी शब्दशास्त्र के विद्वानो के लिए अधिक रुचिकर और आनन्ददायक है। मुनौ प्रयोग मे पाणिनि ने ७।३।११९ के द्वारा इ को उ और डी को औ किया है तथा वृद्धि कर देने पर मुनौ की सिद्धि की है। किन्तु हेम ने १।४।२५ सूत्र के द्वारा डी को डौ किया है, जिससे यहा ड् का अनुबन्ध होने से मुनि शब्द का इकार स्वय ही हट गया है। अतएव मुनि शब्द के नकार मे रहने वाले इकार के स्थान पर हेम को अकार करने की आवश्यकता प्रतीत नही हुई।

हेम ने कारक प्रकरण आरम्भ करते ही कारक की परिभाषा दी है जो इनकी अपनी विशेषता है। पाणिनीय तन्त्र मे क्रिया विशेषण को कर्म बनाने का कोई नियम नही है। बाद के वैयाकरणो और नैयायिको ने 'क्रियाविशेषणाना कार्यत्व' का सिद्धान्त स्वीकार किया है। हेम ने २।२।४१ सूत्र मे उक्त सिद्धान्त को अपने तन्त्र मे सगृहीत कर लिया है। पाणिनि ने २।३।१६ सूत्र द्वारा अल शब्द के योग मे चतुर्थी का विधान किया है, किन्तु हेम ने शक्त्यर्थ सभी शब्दो के योग मे चतुर्थी का नियमन किया है, इससे अधिक स्पष्टता आ गयी है। पाणिनि के उक्त नियम को व्यावहारिक बनाने के लिए अल शब्द को पर्याप्तार्थक मानना पडता है अन्यथा 'अल महीपाल तव श्रमेण' इत्यादि वाक्य व्यवहृत हो जाएगे। हेम ने शक्त्यर्थ और पर्याप्तार्थिक शब्दो के साधुत्व को पृथक् कर दिया है, जिससे किसी भी प्रकार का विरोध नही आता है।

उपर्युक्त सक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि हेम मे पाणिनि जैनेन्द्र और शाकटायन की अपेक्षा अधिक लाघव और स्पष्टता है, पर यह भी हमें नही भूलना चाहिए कि हेम ने उक्त तीनो व्याकरणो से प्रचुर सामग्री ग्रहण की है। पूज्यपाद और पाणिनि की अपेक्षा हेम ने शाकटायन से बहुत कुछ ग्रहण किया है। जैनेन्द्र के 'सिद्धिरनेकान्तात्' का प्रभाव 'सिद्धि स्याद्वात्' १।१।२ पर स्पष्ट है। हेम ने तद्धित और कृदन्त प्रकरण मे जैनेन्द्र के सूत्र ज्यो के त्यो अपनाये है।

शाकटायन व्याकरण की शैली का प्रभाव तो हेम पर सर्वाधिक है। यहाँ एक उदाहरण देकर उक्त कथन का स्पष्टीकरण किया जाता है। पाणिनि ने 'पारमध्ये-षष्ठ्यावा' २।१।१८, पूज्यपाद ने 'पारे मध्येतयावा' १।३।१५ और शाकटायन ने 'पारेमध्येऽन्त षष्ठ्या वा' २।१।९ सूत्र लिखा है। हेम ने उक्त सूत्र के स्थान पर 'पारेमध्येऽग्रेन्त षष्ठ्या वा' सूत्र लिखा है। उपर्युक्त प्रसिद्ध वैयाकरणों के सूत्र की हेम के सूत्र के साथ तुलना करने पर अवगत होता है कि हेम ने शाकटायन का सर्वाधिक अनुकरण किया है।

शाकटायन के 'ननूपूजार्थध्वजचित्ते' ३।३।३४ का अमोघवृत्ति सहित हेम ने 'न नृप पूजार्थध्वजचित्रे' ७।१।१०९ में शब्दश अनुकरण किया है। यद्यपि हेम ने अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणो से बहुत कुछ लिया है तो भी अपनी मौलिक प्रतिभा द्वारा शब्दानुशासन मे अनेक नवीनताएं लाने का उनका प्रयास प्रशस्य है।

हेम शब्दानुशासन का अष्टम अध्याय प्राकृत भाषा का अनुशासन करता है। इसमे ४ पाद और कुल १११९ सूत्र हैं। प्रथम पाद मे स्वर और व्यजन विकार द्वितीय मे सयुक्त व्यजन विकार, तृतीय मे सर्वनाम, कारक, कृदन्त एव चतुर्थपाद मे धात्वादेश, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची तथा अपभ्रंश का अनुशासन वर्णित है। प्राकृत भाषा की जानकारी के लिए इससे बडा और नवीन-पूर्ण व्याकरण और कोई नही है। पाणिनि ने जिस प्रकार वैदिक सस्कृत और लौकिक सस्कृत भाषा का अनुशासन किया, उसी प्रकार हेम ने लौकिक सस्कृत तथा उसकी निकटवर्ती प्राकृत का नियमन उपस्थित किया। भाषा के तत्त्वो की जानकारी हेम की अद्भुत है। हेमशब्दानुशासन इतना पूर्ण है कि इस व्याकरण के अकेले अध्ययन से ही लोकप्रचलित सभी पुरातन भारतीय भाषाओं की यथेष्ट जानकारी हो सकती है। यह गुजरात का व्याकरण कहलाता है। हेमशब्दानुशासन पर निम्न टीकाएं उपलब्ध हैं

नाम	कर्त्ता	संवत्
लघुन्यास	हेमचन्द्र के शिष्य रामचन्द्र गणि	हेमचन्द्र कालीन
लघुन्यास	धर्मघोष	,,
न्यासोद्धार	कनकप्रभ	,,
हेमलघुवृत्ति	काकाल कायस्थ	हेमचन्द्र के समकालीन
हैमबृहद्वृत्तिढुंढिका	सौभाग्यसागर	१५९१
हैमढुंढिकावृत्ति	उदय सौभाग्य	,,
हैमलघुवृत्तिढुंढिका	मुनिशेखर	,,
हैमअवचूरि	धनचन्द्र	,,

नाम	कर्त्ता	सवत्
प्राकृत दीपिका	द्वितीय हरप्रभ	१५६१
प्राकृत अवचूरि	हरिप्रभ सूरि	"
हैम चतुर्थपादवृत्ति	हृदय सौभाग्य	"
हैम व्याकरण दीपिका	जिनसागर	"
हैम व्याकरण अवचूरि	रत्नशेखर	"
हैम दुर्गपद प्रबोध	ज्ञानविमल शिष्यवल्लभ	१६६१
हैमकारक सुच्चय	श्री प्रभसूरि	१२८०
हैमवृत्ति	"	"

हैम व्याकरण से सम्बद्ध अन्य ग्रन्थ

लिंगानुशासन वृत्ति	जयानन्द	
धातुपाठ (स्वरवर्णानुक्रम)	पुण्यसुन्दर	
क्रियारत्न समुच्चय	गुणरत्न	१४६६
हैमविभ्रमसूत्र	गुणचन्द्र	
हैमविभ्रम वृत्ति	जिनप्रभ	
हैम लघुन्यास प्रशस्ति अवचूरि	उदयचन्द्र	
न्यायमजूषान्यास	हेमहस	
न्यायमजूषा	"	१५१५
स्यादि शब्द समुच्चय	अमरचन्द्र	
हैमकौमुदी	मेघविजय	१७५८
शब्दचन्द्रिका	"	१७६१
हैमप्रक्रिया	महेन्द्र सुतवीरसी	
हैमलघुप्रक्रिया	विनय विजय-तपागच्छ के आचार्य	
भिक्खुव्याकरण	अधुनातन	
काल कौमुदी	अधुनातन	

इन प्रसिद्ध तीन महाव्याकरणो के अतिरिक्त कातत्र, यशोभद्र कृत जैन-व्याकरण, आर्य व्रजस्वामी कृत जैन व्याकरण, भूतवली जैन व्याकरण, श्रीदत्त कृत जैन व्याकरण, प्रभाचद्र कृत जैन व्याकरण एव सिहनदी कृत जैन व्याकरण के नामो की सूचना मिलती है।[१६]

कातत्र के मूल सूत्रो के रचयिता के सबध मे विवाद है,[१७] पर इतना सत्य है कि कातत्र रूपमाला के रचयिता भावसेन त्रैवेद्य[१८] है। यह व्याकरण साहित्य के

महान् विद्वान् थे। कातन्त्र का प्रचार प्राचीन काल में बहुत था। संस्कृत भाषा को सरलता के साथ सीखने में यह व्याकरण बहुत सहायक है। कातंत्र में संज्ञाओं का कोई स्वतंत्र प्रकरण नहीं है, सन्धि-प्रकरण के पहले पाद में प्राय: सभी प्रमुख संज्ञाओं का उल्लेख कर दिया गया है। इस व्याकरण की 'सिद्धो वर्ण समाम्नाय:' यह प्रथम सूत्रीय घोषणा अत्यंत गंभीर है। इस सूत्र द्वारा वर्णों की नित्यता स्वीकार की गई है। इसमें प्रत्याहार का झमेला नहीं है। संधि, शब्द, विसर्गत्यर्थ, स्त्री-प्रत्यय, समास, तिङन्त, कृदंत और तद्धित सभी प्रकरण इस व्याकरण में हैं। कातंत्र के तिङन्त प्रकरण में कालवाची क्रियाओं का नामकरण, वर्तमाना, परोक्षा, सप्तमी, पंचमी, ह्यस्तनी, अद्यतनी, आशी, श्वस्तनी, भविष्यति और क्रियातिपत्ति के रूप में किया गया है। जैनेन्द्र और शाकटायन में लकारों का निरूपण है, किंतु हेमचंद्र ने अपने शब्दानुशासन में कातन्त्र सम्मत कालवाची क्रियाओं को स्थान दिया है। कातन्त्र व्याकरण के पठन-पाठन का प्रचार जैन-सम्प्रदाय में बहुत अधिक रहा है। इसकी एक प्रमुख विशेषता विराम में अनुस्वार का होना भी है। स्वर्गीय पं० पन्नालाल बाकलीवाल ने इसी व्याकरण के आधार पर 'बालबोध' नामक अति सरल व्याकरण लिखा है। कातन्त्र पर सकलकीर्ति द्वितीय कृत कातन्त्र रूपमाला लघुवृत्ति, दुर्गसिंह कृत कातन्त्र व्याकरण की वृत्ति और रविवर्माचार्य कृत कातन्त्र व्याकरण की वृत्ति उपलब्ध हैं। वर्द्धमान कवि की 'कातन्त्र विस्तार' नाम की टीका भी उपलब्ध है।[11] इस टीका में सूत्रों की व्याख्या के साथ अनेक नवीन उदाहरण भी सम्मिलित किए गए हैं। इसमें कई उदाहरण काशिका वृत्ति के हैं। कातन्त्र के रचयिता का नाम सर्ववर्मा होने से विद्वान् इनके जैन होने में सन्देह करते हैं। परन्तु इनके प्रथम सूत्र का 'सिद्ध' पद से प्रारम्भ होना, इनके अधिकांश टीकाकारों का जैन होना और जैन समाज में इस व्याकरण का विशेष प्रचार होना आदि तथ्य इनके जैन होने की प्रतीति उत्पन्न कराये बिना नहीं रहते। इस व्याकरण के विशेष अध्ययन से यह बात और भी पुष्ट होती है।

फुटकर स्रोतों में प्राप्त सूचना के आधार पर निम्न जैन व्याकरण ग्रंथों की जानकारी और भी प्राप्त होती है।

पांडव पुराण की प्रशस्ति से अवगत होता है कि १२२४ सूत्र प्रमाण 'चिंतामणि' नाम का शब्दानुशासन आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा था। वह तीन अध्यायों में विभक्त था तथा प्रत्येक अध्याय में चार पाद थे। इस ग्रंथ पर द्वितीय समन्तभद्र ने 'चिंतामणि' व्याकरण-टिप्पण भी लिखा है। ग्रन्थ-प्रमाण के अनुसार यह व्याकरण उपयोगी है। यह प्राकृत भाषा का अनुशासन करता है।

कर्नाटक भाषा का व्याकरण संस्कृत भाषा में अकलंक देवभट्ट ने लिखा है। इस व्याकरण का नाम 'शब्दानुशासन' है। कन्नड भाषा और साहित्य के विद्वानों में इस ग्रंथ का बड़ा सम्मान है। आज भी यह व्याकरण अपनी उपयोगिता के

कारण लोकप्रिय है। जैनाचार्यों ने कन्नड का व्याकरण कन्नड भाषा मे भी लिखा है। कन्नड साहित्य और कन्नड व्याकरण को समृद्धशाली बनाने का श्रेय जैनाचार्यों को ही है।

भावसेन का मनोरमा व्याकरण, केशवराज का शब्दमणि व्याकरण, तपागच्छ के आचार्य राजविजयसूरि के शिष्य दानविजय का शब्द-भूषण, मलयगिरि का शब्दानुशासन, दुर्गसिंह का शब्दानुशासन, तपागच्छ के आचार्य विजयनन्दि के शिष्य हेमहस विजय का 'शब्दार्थक चन्द्रिका' व्याकरण प्रभृति जैन व्याकरण साहित्य की अमूल्य निधिया हैं।

पूर्णतलियागच्छ के आचार्य देवनन्द की सिद्ध सारस्वत टीका तथा खरतर गच्छीय हेमचन्द्र उपाध्याय के शिष्य सहजकीर्ति का सिद्ध शब्दार्णव, पुण्यसुन्दर का स्वरवर्णानुक्रम धातुपाठ, धनरत्न के शिष्य नयसुन्दर का रूपरत्नमाला, कल्याण-सागर सूरि का लिंग-निर्णय, शवरस्वामी का लिंगानुशासन, दुर्गसिंह का लिंगानु-शासन तथा जयनन्दसूरि का लिंगानुशासनोद्धार भी व्याकरण-सबधी ग्रन्थ है। अर्हनन्दी के शिष्य त्रिविक्रम का प्राकृत शब्दानुशासन भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसका आधार हेमचन्द्र का प्राकृत शब्दानुशासन ही है।

इन व्याकरण-ग्रथो के अतिरिक्त जैनाचार्यों ने सारस्वत व्याकरण पर कई टीकाए लिखी हैं। कुछ विद्वान् तो अजितसेन के शिष्य नरेन्द्रसेन को ही इस व्याकरण का रचयिता मानते हैं। युधिष्ठिर मीमासक ने भी अपने व्याकरण साहित्य के इतिहास मे इस ओर सकेत किया है। हमे लगता है कि इसी कारण इस पर अनेक टीकाए जैनाचार्यों द्वारा निर्मित हुई हैं। नागपुरीय तपागच्छ के आचार्य चन्द्र-कीर्त्ति की स० १६६४ मे लिखी गई इस व्याकरण की प्रसिद्ध टीका है।

जैन व्याकरण-साहित्य की उपलब्धिया

१ शब्द की अनेकांतात्मकता अनेक धर्मात्मक होने के कारण स्याद्वाद के द्वारा शब्दो की सिद्धि पर जोर दिया है। जैनेतर वैयाकरण शब्द मे वाच्य-वाचक सबध को मानकर भी दोनो को स्वतन्त्र मानते है। वाचक के रूप मे परिवर्तन हो जाने पर भी वाच्य के रूप मे कोई परिवर्तन नही मानते। पर जैन शाब्दिको का मत है कि वाचक मे लिंग, सख्या आदि का जो परिवर्तन होता है, वह स्वतन्त्र नही है, किंतु अनन्त धर्मात्मक बाह्य वस्तु के अधीन है अर्थात् जिन धर्मो से विशिष्ट वाचक का प्रयोग किया जाता है, वे सब धर्म-वाच्य मे रहते हैं।

२ वैदिक शब्दो का अनुशासन करने वाले पाणिनीय व्याकरण के पजे से छुडाकर लौकिक भाषा के स्वरूप-निर्धारण मे अधिक-से-अधिक योगदान देने वाले शब्दानुशासनो का निर्माण कर गतिशील भाषा को स्थिर या मृत न बनाकर उसकी गतिशीलता मे सहायक है।

३ पाणिनीय तन्त्रों का मन्थन कर सारभूत रत्नों को उपस्थित किया, जिससे अध्येताओं के समय और श्रम की बचत हुई।

४ उदाहरणों में उन ऐतिहासिक प्रयोगों और स्थानों के नामों को सुरक्षित रखा, जिनमें आज भी देश के सांस्कृतिक इतिहास के निर्माण में पर्याप्त सहायता मिलती है तथा इतिहास की अनेक गुत्थियां सुलझ सकती हैं।

५ उन साम्प्रदायिक शब्दों का साधुत्व प्रतिपादन किया, जिनकी अवहेलना अन्य सम्प्रदाय वाले वैयाकरण करते आ रहे थे।

६ उदाहरणों में जैन तीर्थंकरों, जैन राजाओं, जैन महापुरुषों और जैन-ग्रंथकारों के नाम सन्निविष्ट किये तथा उक्त शब्दों की व्युत्पत्तियां बतलायीं।

७ शब्दों में स्वाभाविक रूप से अनन्त शक्तियां स्वीकार कीं, फलतः एक-शेष का त्यागकर अनेक शेष का निरूपण किया। यतः जैनेतर वैयाकरणों के अनुसार एक शब्द एक ही व्यक्ति का कथन करता है। अतः बहुत-से व्यक्तियों का बोध करना हो तो बहुत-से शब्दों का प्रयोग करके 'सरूपाणामेक शेष एक विभक्तौ' १।२।६४ सूत्र के अनुसार एक शेष किया जाता है। बहुवचन में एक रूप के शेष रहने पर बहुवचन बोधक प्रत्यय लगाकर बहुवचन शब्द बना लिये जाते हैं। अतएव व्यक्ति और जाति के स्वतन्त्र रूप से पृथक् होने के कारण एक शेष आवश्यक है।

जैन वैयाकरण शब्द को अनेक धर्मात्मक मानते हैं, अतः एक ही शब्द परिस्थिति विशेष में विशेषण, विशेष्य, पुंल्लिंग, स्त्रीलिंग, कर्त्ता, कर्म, करण आदि रूपों में परिवर्तित होता रहता है। इसी कारण शब्द अनन्त-धर्मात्मक वस्तु का वाचक है। उसका वाच्य न केवल व्यक्ति है और न जाति, किंतु जाति व्यक्त्यात्मक या सामान्य विशेषात्मक वस्तु ही वाच्य है। अतः एक शेष मानने की आवश्यकता नहीं। अतः शब्द स्वभाव से ही एक, दो या बहुत व्यक्तियों का कथन करता है।

८ जैन शब्दानुशासनों के पंचांगपूर्ण होने के कारण अनुशासन में लाघव और स्पष्टता।

९ वर्णित विषय के क्रम-विवेचन की मौलिकता।

१० विकारों के उत्सर्ग और अपवाद मार्गों का निरूपण।

११ विषय-विवेचन में वैज्ञानिकता और मौलिकता का सन्निवेश।

१२ ग्रन्थ-शैली की महनीयता।

१३ संस्कृत-भाषा में जैन शब्दानुशासनों का प्रणयन उस समय हुआ, जब पाणिनीय व्याकरण का सांगोपांग विवेचन हो चुका था। इतना ही नहीं, बल्कि उसके आधार पर कात्यायन तथा पतंजलि-जैसे विशिष्ट वैयाकरणों ने सैद्धांतिक गवेषणाएं प्रस्तुत कर दी थीं। इस प्रकार जैन वैयाकरणों के समक्ष पाणिनि की उपलब्धियां और अभाव पूर्तियां भी वर्तमान थीं। फलतः जैन आचार्यों ने उन

सारी सामग्रियों का उपयोग कर अपने शब्दानुशासनों को पूर्ण एवं समयानुकूल बनाया।

१४. पाणिनीय तन्त्रकारों ने शब्दों का अनुशासन करते समय प्रत्ययों, आदेशों तथा आगम आदि में जो अनुबन्ध लगाये हैं, उनका सम्बन्ध वैदिक स्वर प्रक्रिया के साथ भी जुटाए रखा है जिसके कारण श्रेण्य सस्कृत भाषा सम्बन्धी अनुशासन को समझने में क्लेश आ जाता है। जैन वैयाकरणों ने उन्हीं अनुबन्धों को ग्रहीत किया है, जिनका प्रयोजन तत्काल सिद्ध होता है। अत स्पष्ट है कि पाणिनीय तन्त्र मे भले ही साथ-ही-साथ वैदिक भाषा का भी अनुशासन होता गया, किंतु श्रेण्य सस्कृत का सुबोध अनुशासन जैन वैयाकरणों द्वारा ही हुआ।

१५ जैनाचार्यों ने समयानुसारिणी अनुशासन व्यवस्था को अपनाया, फलत उनके नियमों में सरलता, सक्षिप्तता और वैज्ञानिकता विद्यमान है।

१६ सस्कृत भाषा के अनुशासन के साथ प्राकृत भाषा का अनुशासक भी लिखा गया।

१७ वाक्य-विचार, रूप-विचार, सम्बन्ध तत्त्व और अर्थ तत्त्व का विश्लेषण, ध्वनितत्त्व, ध्वनि-परिवर्तन के कारण, वर्णागम, वर्णलोप, वर्ण-विपर्यय, अपिश्रुति, स्वरभक्ति समीकरण एव विषमीकरण सम्बन्धी भाषा-विज्ञान के नियमों का प्रतिपादन।

१८ शब्द के कथचित् नित्यत्व और कथचित् अनित्यत्व की मौलिक उद्भावनाए।

१९, भाषा के विशाल और विराट् भडार का दर्शन।

२० पुरातन और नूतन नियमों का समन्वय।

२१ प्राचीन गणपाठ, शिक्षासूत्र, परिभाषाओं एव सूत्रपाठ की परम्पराओं का सरक्षण।

सदर्भ-तालिका

१ वोपदेव द्वारा विरचित मुग्धबोध।

२ प्रेमी अभिनन्दन ग्रथ के अन्तर्गत 'पाइय साहित्य का सिंहावलोकन' शीर्षक निबन्ध, पृ० ४१६ तथा 'पाइय भाषाओ अने साहित्य', पृ० ५५।

३ यशस्तिलक चम्पू की श्रुतसागर सूरि टीका में 'प्राकृत-व्याकरणाद्यनेक-शास्त्र रचना चचुना' यह उल्लेख आया है तथा षट्पाहुड की सस्कृत टीका मे प्राकृत सूत्रार्थ उद्धृत किये हैं।

४ देखें जैनेन्द्र महावृत्ति की डॉ० वसुदेवशरण अग्रवाल द्वारा लिखित भूमिका, पृ० ७।

५. देखें जैन साहित्य और इतिहास के अन्तर्गत 'देवनन्दि का जैनेन्द्र व्याकरण' शीर्षक निबन्ध, पृ० २७।

६ उपर्युक्त ग्रथ पृ० २८-३०।

७ जैनेन्द्र महावृत्ति का 'जैनेन्द्र शब्दानुशासन और उसके निबन्ध', पृ० ४३, ४४ तथा 'स्ट्रक्चर ऑफ दि अष्टाध्यायी', भूमिका पृ० १३।

८. जैनेन्द्र महावृत्ति प्रस्तावना भाग, पृ० ४७-४८।

९ सूत्रस्तम्भसमुद्धृत प्रविलसन् न्यासोरुरत्नक्षिति, श्रीमद्वृत्तिक पाट सपुटयुत भाष्योऽथ शय्यातलम्। टीका मालमिहारुरुक्षुरचित जैनेन्द्र शब्दागमं, प्रासाद पृथु पचवस्तुकमिद सोपानमारोहतात् ॥ अन्तिम पद्य।

१० श्री पूज्यपादममल गुणनन्दिदेव सोमानव्रतिपपूजितपादयुग्मम्।
सिद्ध समुन्नतपद वृषभ जिनेन्द्र सच्छब्दलक्षण मह विनमामि वीरम् ॥
(मगलाचरण चिन्त चन्द्रिका) तथा नन्दि की प्रशसा चुरादि धातुपाठ के अन्त मे 'शब्दब्रह्मा स जीयाद्गुणनिधि गुणनन्दिव्रतीशस्सुसौख्य.' शब्द ब्रह्मा विशेषण देकर की गई है।

११ सिस्टम ऑफ सस्कृत ग्रामर पैराग्राफ ३०।

१२. विशेष जानकारी के लिए देखें जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १६५-१६६।

१३-१४ शाकटायनीय सूत्र के अन्तिम पद्य।

१५ हितैषिणा यस्य नृणामुदात्तवाचा निबद्धा हित-रूपसिद्धि।
वन्द्यो दयापाल मुनि स वाचा सिद्धस्सताम्मूर्द्धनि य प्रभावै. ॥
— श्रवणबेलगोल का ५४ वा शिलालेख।

१६ देखें पं० गुरुपद हालदार कृत 'व्याकरण दर्शनेर इतिहास' पृ० ४४८।

१७ अकारादिह नीमान, वर्णाम्नाय वितन्वता।
ऋषभेणार्हताद्येन स्वनामाख्यातमादित ॥
यत्रार्हपदमदर्माद् वर्णाम्नाय. प्रतिष्ठित.।
तस्मै कौमारशब्दानुशासनाय नमोनम ॥
ब्राह्मा कुमार्या प्रथम सरस्वत्याप्यधिनिष्ठितम्।
अर्ह पद नस्मरन्त्या तत् कौमारमधीयते ॥
कुमार्या अपि भारत्या अगन्यासेप्यय क्रम।
अकारादिह पर्यन्तस्तत कौमारमित्यद ॥
कातन्त्र रूपमाला के अन्तिम श्लोक

१८ भावसेन त्रिविद्येन वादिपर्वतवज्रिना।
कृताया रूपमालाया कृदन्त. पर्यपूर्यत ॥
मन्दबुद्धि प्रबोधार्थी, भावसेनमुनीश्वर।
कातन्त्ररूपमालाख्या, वृत्ति व्यरश्चत्सुधीः ॥

रूपमाला के अन्तिम पद्य।

१९ देखें प्रशस्ति सग्रह, पृ० १९९-२००।

जैन आयुर्वेद साहित्य : एक मूल्यांकन

•

राजेन्द्रप्रकाश डॉ० भटनागर

भारतीय सस्कृति मे चिकित्सा का कार्य अत्यत महत्त्वपूर्ण और प्रतिष्ठित माना गया है, क्योकि प्रसिद्ध आयुर्वेदीय ग्रंथ 'चरक सहिता' मे लिखा है "न हि जीवितद्वानाद्धि दानमन्यद्विशिष्यते" (च० चि० अ० १, पा० ४, श्लो० ६१)। अर्थात् जीवनदान से बढकर अन्य कोई दान नही है। चिकित्सा से कही धर्म, कही अर्थ (धन), कही मैत्री, कही यश और कहीं कार्य का अभ्यास ही प्राप्त होता है, अत चिकित्सा कभी निष्फल नही होती।

"क्वचिद्धर्म क्वचिदर्थ क्वचिन्मैत्री क्वचिद्यश ।
कर्माभ्यास क्वचिच्चैव चिकित्सा नास्ति निष्फला ॥"

अतएव प्रत्येक धर्म के आचार्यों और उपदेशको ने चिकित्सा द्वारा लोक-प्रभाव स्थापित करना उपयुक्त समझा। बौद्धधर्म के प्रवर्तक भगवान् बुद्ध को 'भैषज्यगुरु' का विशेषण प्राप्त था। इसी भाति, जैन आचार्यो ने भी चिकित्साकार्य को धार्मिक शिक्षा और नित्यनैमित्यिक कार्यों के साथ प्रधानता प्रदान की। धर्म के साधनभूत शरीर को स्वस्थ रखना और रोगी होने पर रोगमुक्त करना आवश्यक है। अद्यावधि प्रचलित 'उपाश्रय' (उपासरा) प्रणाली मे जहा जैन यति-मुनि सामान्य विद्याओ की शिक्षा धर्माचरण का उपदेश और परम्पराओ का मार्गदर्शन करते रहे हैं, वही वे उपाश्रयो को चिकित्सा केद्रो के रूप मे समाज मे प्रतिष्ठापित कराने मे भी सफल हुए थे।

इस प्रकार सामान्यतया वैद्यकविद्या को सीखना और नि.शुल्क समाज की सेवा करना जैन यति-मुनियो के दैनिक जीवन का अग बन गया था, जिसका सफलतापूर्वक निर्वाह भी उन्होंने एलोपैथिक चिकित्सा-प्रणाली के प्रचार-प्रसार पर्यन्त यथावत् किया है, परतु इस नवीन चिकित्सा-प्रणाली के प्रसार से उनके इस लोकहितकर कार्य का प्राय लोप होता जा रहा है।

यही कारण रहा कि जैन आचार्यों और यति-मुनियो द्वारा अनेक वैद्यक ग्रथो

का प्रणयन होता रहा है। यह निश्चित है कि जैन विद्वानो द्वारा वैद्यक कर्म अगी-कार किये जाने पर चिकित्सा मे निम्न दो प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित हुए

१ अहिंसावादी जैनो ने शवच्छेदन प्रणाली और शल्यचिकित्सा को हिंसक कार्य मानकर चिकित्सा-कार्य से उन्हे अप्रचलित कर दिया। परिणामस्वरूप हमारा शारीर सवधी ज्ञान शनै -शनै क्षीण होता गया और शल्यचिकित्सा का ह्रास हो गया। उनका यह पूर्णनिषेध भारतीय शल्यचिकित्सा की अवनति का एक महत्त्व-पूर्ण कारण वना।

२ जहा एक ओर जैन विद्वानो ने शल्यचिकित्सा का निषेध किया, वहा दूसरी ओर उन्होने रसयोगो (पारद से निर्मित व धातुयुक्त व भस्मे) और सिद्धयोगो का वाहुल्येन उपयोग करना प्रारभ किया। एस समय ऐसा आया जव सव रोगो की चिकित्सा सिद्धयोगो द्वारा ही की जाने लगी। जैसा कि आजकल ऐलोपैथिक चिकित्सा मे सव रोगो के लिए पेटेण्टयोग प्रयुक्त किये जा रहे हैं। नवीन सिद्धयोग और रसयोग भी प्रचलित हुए।

३ भारतीय दृष्टिकोण के आधार पर रोग-निदान के लिए नाडी-परीक्षा, मूत्र-परीक्षा आदि को भी जैन वैद्यो ने प्रश्रय दिया। यह उनके द्वारा इन विषयो पर निर्मित अनेक ग्रथो से ज्ञात होता है।

४ औषधि-चिकित्सा मे मास और मासरस के योग जैन वैद्यो द्वारा निषिद्ध कर दिये गये। मद्यो (सुराओ) का प्रयोग भी वर्जित हो गया। मधु (शहद) का प्रयोग भी अहिंसात्मक धारणा के कारण उपयुक्त नही माना गया। 'कल्याण-कारक' नामक जैन-वैद्यक ग्रंथ मे तो मास के निषेध की युक्ति-युक्त विवेचना की गई है।

५ इस प्रकार केवल वानस्पतिक और खनिज द्रव्यो से निर्मित योगो का जैन-आयुर्वेदज्ञो द्वारा चिकित्सा-कार्य मे विशेष रूप से प्रचलन किया गया। यह आज भी सामान्य चिकित्सा जगत् मे व्यवहार मे परिलक्षित होता है।

६ सिद्धयोग चिकित्सा (स्वानुभूत विशिष्ट योगो द्वारा चिकित्सा) प्रचलित होने से जैन वैद्यक मे त्रिदोषवाद और पचभूतवाद के गभीर तत्त्वो को समझने और उनका रोगो से व चिकित्सा से सवध स्थापित करने की महान् और गूढ आयुर्वेद-प्रणाली का ह्रास होता गया और केवल लाक्षणिक चिकित्सा ही अधिक विकसित होती गई।

७ जैन वैद्यक ग्रथ अधिकाश मे प्रादेशिक भाषाओ मे रचित उपलब्ध होते हैं, फिर भी, सस्कृत मे विरचित जैन वैद्यक ग्रथो की सख्या न्यून नही है। अनेक जैन वैद्यो के चिकित्सा और योगो से सवधित 'गुटके' (परम्परागत नुसखो के सग्रह, जिन्हे 'आम्नाय ग्रथ' कहते हैं) भी मिलते हैं, जिनका अनुभूत प्रयोगावली के रूप मे अवश्य ही वहुत महत्त्व है।

जैनाचार्यों ने स्वानुभूत एव प्रायोगिक प्रत्यक्षीकृत प्रयोगो और साधनो द्वारा रोग-मुक्ति के उपाय बताये हैं। शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए परीक्षणोपरात सफल सिद्ध हुए प्रयोगो व उपायो को उन्होंने लिपिबद्ध कर दिया। जैन धर्म के श्वेतावर और दिगबर दोनो ही सप्रदायो के आचार्यों ने इस कार्य मे महान् योगदान किया है।

८ जैनाचार्यो ने अपने धार्मिक सिद्धातानुसार ही मुख्य रूप से चिकित्सा-शास्त्र का प्रतिपादन किया है। जैसे, रात्रि-भोजन-निषेध, मद्य-मधु-मास का वर्जन आदि। अहिसा का आपत्काल मे भी पूर्ण विचार रखा है। इसका यही एकमात्र कारण है कि, मनुष्य जीवन का अतिम लक्ष्य पारमार्थिक स्वास्थ्य प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करना है।

९ शरीर को स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट और निरोग रखकर न केवल ऐहिक भोग (इन्द्रियसुख) भोगना ही अतिम लक्ष्य नही है, अपितु शारीरिक स्वास्थ्य के माध्यम से आत्मिक स्वास्थ्य व सुख प्राप्त करना ही जैनाचार्यों का प्रधान उद्देश्य था। इसके लिए उन्होंने भक्ष्याभक्ष्य, सेव्यासेव्य आदि पदार्थों का उपदेश दिया है।

जैन विद्वानो द्वारा मुख्यतया निम्न सतलो पर वैद्यक ग्रथो का प्रणयन हुआ।

१ जैन यति-मुनियो द्वारा ऐच्छिक रूप से ग्रथ-प्रणयन।

२ जैन यति-मुनियो द्वारा किसी राजा अथवा समाज के प्रतिष्ठित और धनी श्रेष्ठी पुरुष की प्रेरणा या आज्ञा से ग्रथ-प्रणयन।

३ स्वतत्र जैन विद्वानो और वैद्यो द्वारा ग्रंथ-प्रणयन।

जैन-वैद्यक ग्रथो के अपने सर्वेक्षण से मैं जिस निष्कर्ष पर पहुंचा हू, उसके निम्न तीन पहलू हैं

१ जैन विद्वानो द्वारा निर्मित वैद्यक साहित्य अधिकाश मे मध्ययुग (ई० सन् सातवी शती से उन्नीसवी शती तक) मे निर्मित हुआ है।

२ उपलब्ध सपूर्ण वैद्यक साहित्य से तुलना करें तो जैनो द्वारा निर्मित साहित्य उसके एक तृतीयाश से भी अधिक है।

३ अधिकाश जैन वैद्यक ग्रथो का प्रणयन पश्चिमी भारत के क्षेत्रो, जैसे पजाब, राजस्थान, गुजरात, कच्छ, सौराष्ट्र और कर्णाटक मे हुआ है। कुछ माने मे, राजस्थान को इस सदर्भ मे अग्रणी होने का गौरव व श्रेय प्राप्त है। राजस्थान मे निर्मित अनेक जैन-वैद्यक ग्रथो, जैसे वैद्यवल्लभ (हस्तिरुचि कृत), योगचितामणि (हर्षकीर्तिसूरि कृत) आदि का वैद्य जगत् मे बाहुल्येन प्रचार-प्रसार रहा है।

सांस्कृतिक दृष्टि से जैन विद्वानो और यति-मुनियो द्वारा चिकित्सा-कार्य और चिकित्सा-ग्रथ प्रणयन द्वारा तथा अनेक उदारमना जैन श्रेष्ठियो द्वारा विभिन्न स्थानो पर धर्मार्थ (नि शुल्क) चिकित्सालय व औषधशालाए या पुण्यशालाए

स्थापित कर भारतीय समाज को सहयोग प्राप्त होता रहा है। निश्चित ही, यह देन महत्त्वपूर्ण कही जा सकती है।

जैन-आयुर्वेद 'प्राणावाय'

जैन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित आयुर्वेद या चिकित्साशास्त्र को 'प्राणावाय' कहते हैं। जैन तीर्थंकरो की वाणी को विषयानुसार स्थूल रूप से वारह भागो मे वाटा गया है, इन्हे जैन आगम मे 'द्वादशाग' कहते हैं। इनमे अतिम अग 'दृष्टिवाद' कहलाता है। दृष्टिवाद के पाच भेद हैं पूर्व मत, सूत्र, प्रथमानुयोग, परिकर्म और चूलिका। पूर्व के पुन चौदह प्रकार हैं। इनमे वारहवें पूर्व का नाम 'प्राणावाय' है। कायचिकित्सा आदि आठ अगो मे सपूर्ण आयुर्वेद का प्रतिपादन, भूत-शाति के उपाय, विषचिकित्सा और प्राण-अपान आदि वायुओ के शरीर धारण करने की दृष्टि से कर्म के विभाजन का जिसमे वर्णन हो, उसे 'प्राणावाय' कहते हैं।"

"कायचिकित्साद्यष्टाग आयुर्वेद भूतिकर्मजागुलिप्रक्रम ।
प्राणापानिविभागोऽपि यत्र विस्तरेण वर्णितस्तत् प्राणावायम् ॥"
(तत्त्वार्थराजवार्तिक अ० १, सू० २०)

इस पूर्व मे मनुष्य के आभ्यतर-मानसिक और आध्यात्मिक तथा वाह्य शारीरिक स्वास्थ्य के उपायो जैसे यम-नियम, आहर-विहार और औषधियो का विवेचन है। साथ ही दैविक, भौतिक, आधिभौतिक, जनपदध्वसी रोगो की चिकित्सा विस्तार से विचार किया गया है।

'प्राणावाय' की परम्परा

दिगवराचार्य उग्रादित्य ने अपने प्रसिद्ध वैद्यक ग्रथ 'कल्याणकारक' के प्रथम परिच्छेद के प्रारभिक भाग मे 'प्राणावाय' के इस भूलोक पर अवतरण और परपरा का वर्णन किया है। भूलोक मे मनुष्यो को रोगो से पीडित देखकर भरत चक्रवर्ती आदि मुख्य जनो ने आदिनाथ के समवसरण मे उपस्थित होकर रोगरूपी दुख से छुटकारा पाने के उपाय पूछे। तव भगवान आदिनाथ ने पुरुष, रोग, औषधि और काल इस प्रकार समस्त वैद्यक ज्ञान को चार भागो मे वाटते हुए, इन चारो वस्तुओ 'वस्तुचतुष्टय' के लक्षण, भेद-प्रभेद आदि सपूर्ण विषय को सक्षेप से वर्णन किया। इस प्रकार इस ज्ञान को प्रथम गणधरो और प्रति गणधरो ने प्राप्त किया, उनसे श्रुतिकेवलियो ने और उनसे, वाद मे, अन्य मुनियो ने क्रमश प्राप्त किया।

इसी परपरा का निर्वाह करते हुए उग्रादित्य ने 'कल्याणकारक' नामक ग्रथ की रचना की।

'प्राणावाय' साहित्य

'प्राणावाय' संबंधी प्राचीन साहित्य वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। जो कुछ ग्रंथ मिलते हैं, वे बहुत बाद के हैं और उनमें प्राणावाय संज्ञक आगमांग का वर्णन नहीं मिलता। केवल एक ग्रंथ उपलब्ध है, जो दक्षिण (कर्णाटक) में प्राप्त हुआ है, उसमें 'प्राणावाय' की परंपरा निर्दिष्ट है। वह ग्रंथ भी बहुत प्राचीन (ई० आठवीं शती) है। उसका नाम 'कल्याणकारक' है। वह संस्कृत पद्यों में रचा गया है और रचनाकार का नाम आचार्य उग्रादित्य है।

उग्रादित्य ने कल्याणकारक के लिए आधारभूत कतिपय ग्रंथों और उनके ग्रंथकारों का नामतः परिगणन कराया है। परन्तु ये सभी ग्रंथ अब अनुपलब्ध हैं। वास्तव में ये बहुत प्राचीन थे और प्राणावाय के मुख्य प्रतिपादक थे। ऐसा प्रतीत होता है कि आयुर्वेद के आठ अंगों पर उस समय प्राणावाय-परंपरा के अंतर्गत पृथक्-पृथक् अंग की विशिष्ट कृतियां निर्मित हो चुकी थीं। जैसे, उग्रादित्य के अनुसार—"पूज्यपाद ने शालाक्य संबंधी, पात्र स्वामी ने शल्यतंत्र पर, सिद्धसेन ने विष और उग्र ग्रह शमन-विधि पर, दशरथ गुरु ने कायचिकित्सा पर, मेघनाद ने बाल-रोगों पर और सिंहनाद ने रसायन व बलवर्धक द्रव्यों (वाजीकरण) पर ग्रंथ-रचना की थी।"[1]

आयुर्वेद में भी इसी प्रकार पृथक्-पृथक् अंग पर विभिन्न तंत्रग्रंथों के प्रणयन का उल्लेख मिलता है, जो उपर्युक्त प्राणावाय-साहित्य परंपरा के समान ही था।

बाद में समंतभद्र ने आठों अंगों की विषय सामग्री को एकत्र और सुनिबद्ध कर अष्टांग आयुर्वेद संबंधी किसी महान् ग्रंथ की रचना की। यही प्राणावाय के अध्ययन-अध्यापन के लिए मध्ययुग में एक मुख्य स्रोत बना रहा हो, क्योंकि उग्रादित्य ने अपने गुरु श्री नंदी से इसी का अध्ययन कर इसी के आधार पर संक्षेप से 'कल्याणकारक' नामक ग्रंथ की रचना की थी। समंतभद्र की वह महत्त्वपूर्ण रचना अब अनुपलब्ध है।[2]

आयुर्वेद में भी समंतभद्र जैसा ही कार्य वाग्भट ने 'अष्टांगसंग्रह' और 'अष्टांगहृदय' नामक ग्रंथों की रचना करके किया था। वाग्भट ने आठ अंगों के विभिन्न

१ "शालाक्यं पूज्यपादप्रकटितमधिकं शल्यतंत्रं च पात्रस्वामिप्रोक्तं विषोग्रग्रहशमनविधिः सिद्धसेनैः प्रसिद्धैः। काये या सा चिकित्सा दशरथगुरुभिर्मेघनादैः शिशूनां वैद्यं वृष्यं च दिव्यामृतमपि कथितं सिंहनादैर्मुनीन्द्रैः ॥"

(क० का०, प० २०, श्लोक ८५)

२ "अष्टाङ्गमप्यखिलमत्र समन्तभद्रैः प्रोक्तं सविस्तरमथो विभवैः विशेषात्।
संक्षेपतो निगदितं तदिहात्मशक्त्या कल्याणकारकमशेषपदार्थयुक्तम् ॥"

(क० का०, प० २०, श्लो० ८६)

तंत्रग्रथो से उपयोगी सामग्री एकत्रित कर अष्टांगपरक इन दो ग्रथो की रचना की थी।

'प्राणावाय' की परम्परा उग्रादित्य के वाद किस प्रकार चलती रही, यह अव ज्ञात नही है। क्योकि वाद के किसी ग्रथ मे प्राणावाय की परम्परा का दिग्दर्शन मात्र भी नही मिलता। फिर भी वैद्यक सवधी ग्रथ-रचना प्रचुर मात्रा मे होती है और जैन विद्वानो व यति-मुनियो ने इसमे अपूर्व योगदान किया। फिर भी इसका उद्देश्य चिकित्सा-कार्य था, न कि प्राणावाय साहित्य का समुपवृहण करना। इन ग्रथो मे प्रतिपादित विषय आयुर्वेद को सर्वसामान्य व प्रचलित सिद्धात और चिकित्सा प्रयोग ही है। प्राणावाय सवधी जो वैशिष्ट्य और भिन्नता 'कल्याण-कारक' मे देखने को मिलती है, वह इन परवर्ती जैन-वैद्यक-ग्रथो मे परिलक्षित नही होती। अत इन्हे 'प्राणावाय' की मपूर्ति करने से ग्रथ नही कहा जा सकता।

जैन वैद्यक-ग्रथ

जैसाकि मैंने ऊपर सकेत किया है, जैन 'प्राणावाय' सवधी साहित्य वहुत प्राचीनकाल से ही निर्मित होने लग गया था। सभवत ईसवीय प्रथम शताब्दी या उससे कुछ समय पूर्व से ही इस तथ्य के सकेत मिलते हैं। परतु उत्तरी भारत से इन ग्रथो का सर्वथा लोप हो गया और दक्षिण मे वे प्रचलित रहे। इसके मुख्य कारण यही हो सकते है कि उत्तरी भारत को वाह्य विदेशी आक्रमणो से अनेक वार निरतर पदाक्रात होना पडा और हिंसा व क्रोध की अग्नि मे अनेक ग्रथरत्न भस्मीभूत कर डाले गये, प्राचीन वैज्ञानिक और साहित्यिक परम्पराओ का लोप हो गया तथा अनेक विद्वानो को या तो हिमालय के दुर्गम व वीहड क्षेत्रो मे अथवा दक्षिण के सुदूर प्रातो मे शरण लेनी पड़ी। अत वे अपना साहित्य, विज्ञान और कला के मूलाधारो को भी अपने साथ ले गये। जो छोड गये, वे नष्ट हो गये। इस विनाश की शृखला मे स्वाभाविक है कि प्राणावाय सवधी विद्वानो, उनके ग्रथो और परम्पराओ को दक्षिण मे आश्रय प्राप्त करना पडा। यही कारण है कि प्राचीनतम जैन वैद्यक-साहित्य दक्षिण मे मिलता है और वहा प्राणावाय की परम्परा पर्याप्त समय तक निरतर रहने के सकेत भी प्राप्त होते हैं जवकि उत्तरी भारत मे यह लुप्त हो गई थी।

उत्तरी भारतीय क्षेत्रो से जैन 'प्राणावाय' के हटने का एक कारण यह भी हो सकता है कि शैवो और शाक्तो के वढते प्रभाव मे मद्य-मास के प्रयोग को खूव प्रचारित किया, जिसका 'प्राणावाय' मे निषेध है। साथ ही, जैनो को भी वहा से पश्चिमी, और सुदूर दक्षिणी क्षेत्रो मे हटना पडा। अस्तु।

प्राचीन सदर्भो के आधार पर ज्ञात होता है कि प्राणावाय के समतभद्र (ई० दूसरी शती) और पूज्यपाद (पाचवी शती) आदि प्रतिष्ठित आचार्य थे। परतु इनके

ग्रंथ अप्राप्य हैं। समतभद्र के अष्टांग विषयक ग्रंथ का उग्रादित्य ने उल्लेख किया है। पूज्यपाद का वैद्यक-ग्रंथ संभवत 'पूज्यपादीय' कहलाता था। कल्याणकारक व वसवराजीय मे पूज्यपाद के अनेक योगों का उल्लेख है। आठवी शती के अंतिम चरण मे उग्रादित्य ने वेंगी के पूर्वी चालुक्य राजा विष्णुवर्धन चतुर्थ (ई० ७६४ से ७९९) के शासनकाल मे 'रामगिरि' (विजगापटम जिले के अतर्गत रामतीर्थ नामक पर्वतीय स्थान) मे रहते हुए 'कल्याणकारक' की रचना की थी। यही पर उग्रादित्य के गुरु श्रीनदी को राजा द्वारा सम्मान व आश्रय प्राप्त था। इस काल मे रामगिरि एक प्रसिद्ध जैन तीर्थ (जो पहले बौद्ध तीर्थ था) बन चुका था। विष्णुवर्धन की मृत्यु के बाद चालुकों के पतनकाल मे उग्रादित्य को प्रतापी राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम (ई० ८१५ से ८७७) की राजसभा मे उपस्थित होना पड़ा। यहीं उन्होंने मास-भक्षण-निषेध पर विस्तृत व्याख्यान दिया। बाद मे, इस विवेचन को 'हिताहित' अध्याय के नाम से कल्याणकारक के परिशिष्ट के रूप मे उग्रादित्य ने सम्मिलित कर दिया है। यहा अमोघवर्ष को 'नृपतुग' कहा गया है, जो उसकी एक प्रधान उपाधि थी और वह केवल इसी नाम से प्रसिद्ध था। यह सम्राट् भी दिगवर जैनानुयायी था। 'कल्याणकारक' अपनी श्रेणी का एक उच्चकोटि का ग्रंथ है। इसमे स्वास्थ्य-रक्षा के उपाय बताते हुए चिकित्सा के आठों अगो का विस्तार से विश्लेषण किया गया है। प्राणावाय-परपरा का यही एकमात्र उपलब्ध ग्रथ है। अत इसका बहुत महत्त्व है। इसमे मास, मद्य और मधु का कही प्रयोग नही दिया गया है। सभी योग वानस्पतिक और खनिज हैं। निदान और चिकित्सा की इसकी विशिष्ट शैली है, जो अन्य आयुर्वेदीय ग्रंथो मे प्राय देखने को नही मिलती।

इसी परपरा मे गुप्तदेवमुनि ने 'मेरुतुग' ग्रथ की रचना की थी। अमृतनदी ने जैन पारिभाषिक वैद्यक शब्दो का एक वैद्यक निघटु रचा था, जिसमे २२ हजार शब्द हैं, जिनका जैन सिद्धांतानुसार पारिभाषिक अर्थ दिया है। परवर्ती काल मे देशीय भाषाओं मे भी ग्रथ रचे गये। कन्नड के ग्रथ प्रसिद्ध हैं जैसे चालुक्य राजा कीर्तिवर्मा ने ११२५ ई० मे कन्नड़ भाषा मे पशु-चिकित्सा पर 'गोवैद्यक', जगद्दल सामन्त सोमनाथ ने ११५० ई० मे पूज्यपाद के ग्रथ का 'कर्नाटक कल्याणकारक' नाम से कन्नडी अनुवाद, अभिनवचंद्र ने १४०० ई० मे 'अश्ववैद्यक' कन्नडी भाषा मे लिखे। विजयनगर के हिन्दु साम्राज्य के अतर्गत भी अनेक जैन वैद्यक-ग्रथ रचे गये थे। हरिहरराज बुक्क के समय में वि० सं० १४१६ (१३६० ई०) मे मगराज नामक कानडी कवि ने 'खगेंद्रमणिदर्पण' नामक ग्रथ की रचना की थी। इसमे स्थावरविषों और उनकी चिकित्सा का वर्णन किया गया है। ई० १५०० मे श्रीधरदेव ने 'वैद्यामृत' की, १५०० ई० बाचरस ने 'अश्ववैद्य' की और १६२७ ई० मे मैसूरनरेश चामराज के आदेश से पद्मणपडित

(पद्मरस) ने 'हयरत्नसमुच्चय' की रचना की थी।

उत्तरी भारत में अवश्य ही जैन वैद्यक के विद्वानों की परपरा बहुत प्राचीन रही होगी, परतु उनके ग्रथ अनुपलब्ध हैं। सर्वप्रथम हमे मालवा के प० आशाधर, जो मूलत माडलगढ (जिला भीलवाडा, राजस्थान) के निवासी थे और ११९३ ई० मे अजमेर राज्य पर मुसलमानो का अधिकार हो जाने से धारानगरी मे जाकर रहने लगे थे, ने 'अष्टागहृदय' पर 'उद्योत' या 'अष्टागहृदयोद्योतिनी' नामक सस्कृत टीका लिखी थी। अब वह अप्राप्य है। आशाधर बघेरवालवशीय जैन वैश्य थे। उन्होने यह टीका १२४० ई० के लगभग लिखी थी।

गुणाकरसूरि ने १२३९ ई० (वि० स० १२९६) मे नागार्जुनकृत 'आश्चर्य-योगमाला' पर सस्कृत मे 'वृत्ति' लिखी थी।

इनके पूर्व पादलिप्ताचार्य और नागार्जुन गुजरात के सौराष्ट्र क्षेत्र मे हो चुके थे। उनका निवास-स्थान 'ढकगिरि' माना जाता है। ये दोनो ही तीसरी-चौथी शताब्दी मे जीवित थे और रसविद्या के प्रमुख आचार्य माने जाते हैं।

हमे किसी प्राकृत या अपभ्रश मे लिखे हुए वैद्यक ग्रथ का पता नही चला है। परवर्ती अपभ्रश और राजस्थानी, प्राचीन हिन्दी, व्रज, गुजराती और कन्नड भाषा मे अवश्य ग्रथ रचे गये थे। यह साहित्य ई० १६वी शती से पूर्व का उपलब्ध नही होता। प्रादेशीय भाषा के ग्रथ प्राय मौलिक, भाषानुवाद, टीका और गुटको के रूप मे गद्य-सग्रह के रूप मे मिलते हैं। १६वी शती के बाद कुछ सस्कृत रचनाए भी निर्मित हुईं। परतु ये अधिकाश सग्रह-ग्रथ हैं। वि० स० १६६६ से पूर्व नाग-पुरीय तपागच्छीय चद्रकीर्ति सूरि के शिष्य **हर्षकीर्तिसूरि** ने **'योगचितामणि'** (अन्य नाम 'वैद्यकसारोद्धार', 'वैद्यकसारसग्रह') की रचना की थी। रा० प्रा० वि० प्र० जोधपुर ने इसकी वि० १६६६ की लिपिकालवाली एक प्रति मैंने देखी है। अत इसका रचनाकाल इससे पूर्व का होना ज्ञात होता है। इसमे पाक, चूर्ण, गुटी, क्वाथ, घृत, तैल और मिश्रक अध्यायो के अतर्गत योगो का सग्रह किया गया है। इसमे फिरग, चोपचीनी, पारद और अफीम का उल्लेख है। अत जॉली ने भी इसका यही काल माना है। **हसराजकृत** 'भिषक्चक्रचित्तोत्सव' (हसराजनिदानम्) रोगो के निदान सबधी ग्रथ है। यह भी १७वी शती की रचना है।

वि० स० १७२६ मे तपागच्छीय **हस्तिरुचिगणि** (उदयरुचिगणि के शिष्य) ने 'वैद्यवैल्लभ' नामक ग्रथ की रचना की थी। इसमे सक्षेप मे रोगो के निदान-लक्षण के साथ चिकित्सा का भी वर्णन हुआ है। इसमे ज्वर, स्त्री-रोग, कासक्षयादि रोग, धातु रोग, अतिसारादि रोग, कुष्ठादि रोग, शिरःकर्णाक्षि रोग के प्रतिकार और स्तभन पर मुरासाहि गुटिका आदि ये आठ अध्याय हैं। यह ग्रथ वैद्य-समाज मे बहुत लोकप्रिय रहा है। स० १७२९ मे मेघभट्ट नामक विद्वान् ने इस पर सस्कृत टीका लिखी थी। इसका पद्यानुमय राजस्थानी अनुवाद भी हुआ है।

राजस्थान और गुजरात की वैद्य परंपराओं में हर्षकीर्ति के 'योगचितामणि' और हस्तिरुचि के 'वैद्यवल्लभ' का सर्वाधिक प्रचार-प्रसार रहा है। वि० स० १७०६ में महेंद्र जैन (कृष्ण वैद्य का पुत्र) ने धन्वन्तरिनिघंटु के आधार पर 'द्रव्यावली-समुच्चय' ग्रंथ रचा। खरतगच्छीय विनयमेरुगणि (यह वाचक सुमतिसुमेरु के भ्रातृपाठक थे और मानमुनि के गुरु थे) ने 'विद्वन्मुखमडनसारसग्रह' नामक चिकित्सा ग्रंथ वि० १८वीं शती के प्रथम चरण में लिखा था। इसी प्रकार इसी शती में बीकानेर-निवासी तथा धर्मशील के शिष्य रामलाल उपाध्याय ने 'राम-निदानम्' या 'रामऋद्धिसार' नामक निदान सबधी ग्रंथ लिखा था। वि० १८वीं शती के अंतिम चरण में खरतरगच्छीय दीपकचद्र वाचक ने जयपुर के महाराजा जयसिंह के काल में जयपुर में ही स० १७९२ में 'पथ्यलघननिर्णय' (पथ्यापथ्य-निर्णय, लघनपथ्यविचार, लघनपथ्यनिर्णय) नामक ग्रंथ की रचना की थी। इसमें रोगों में किये जाने वाले लघन (अनाहार) और पथ्यापथ्य का विस्तार से विचार किया गया है। इस ग्रथ को पुन वि० स० १८८५ में शकर नामक विप्र ने सशोधित किया था। गुजरात के कवि विश्राम ने वि० स० १८३९ में 'व्याधिनिग्रह' और स० १८४२ में 'अनुपानमजरी' नामक ग्रथों की सस्कृत में रचना की थी। प्रथम ग्रथ में व्याधियों (रोगों) के उपचारार्थ सक्षिप्त योगों व प्रयोगों का तथा द्वितीय ग्रथ में धातु, उपधातु स्थावरविष, जगमविष के शाति के उपाय, धातु-उपधातु मारणविधि और रोगों के विविध अनुपान बताये गये हैं। ये दोनों ही ग्रथ बहुत उपयोगी हैं और इनका प्रकाशन आवश्यक है। कवि विश्राम के गुरु का नाम जीव और निवासस्थान अजार (कच्छ) था। यह आगमगच्छ गच्छ के यति थे।

इन सस्कृत ग्रंथों के अतिरिक्त राजस्थानी, गुजराती और व्रज व प्राचीन हिंदी में भी अनेक ग्रथ मिलते हैं। नयनसुख (केसराज का पुत्र श्रावक) ने वैद्यमनोत्सव (वि० स० १६४९ चिकित्सा सबधी ग्रथ), नर्बुदाचार्य या नर्मदाचार्य ने 'कोककला चौपई' (स० १६५६, कामशास्त्र विषयक ग्रथ); लक्ष्मीकुशल ने 'वैद्यकसाररत्नप्रकाश चौपई' (स० १६९४), नयनशेखर ने 'योगरत्नाकर चौपई' (स० १७३६); खरतरगच्छीययति रामचंद्र ने 'रामविनोद' (सं० १७२० तथा 'वैद्यविनोद' (स० १७२६); जिनसमुद्र सूरि ने 'वैद्यचितामणि' या 'वैद्यक-सारोद्धार' या 'समुद्रसिद्धात' या 'समुद्रप्रकाशसिद्धात' (स० १७३०-४० के लगभग), धर्मसी (धर्मवर्द्धन या धर्मसिंह) ने स० १७४० में 'डभक्रिया'; लक्ष्मीवल्लभ ने कालज्ञान (शभुनाथकृत सस्कृत के कालज्ञान का पद्यमय भाषानुवाद, स० १७४१) और मूत्रपरीक्षा (स० १७४५ के लगभग), मुनि मान ने 'कविविनोद' (सं० १७४५) और कविप्रमोद (स० १७४६), साहिब ने 'सग्रहणी-विचार चौपई' (स० १६७५), पीतांबर ने 'आयुर्वेदसारसग्रह' (स० १७५९),

जोगीदास (दासकवि) ने बीकानेर में 'वैद्यकसार' (सं० १७६२), समरथ ने 'रसमंजरी भाषाटीका' (सं० १७५५), दीपकचंद्र वाचक ने 'बालतंत्र भाषा वचनिका' (सं० १७६० के लगभग), चैनसुखयति ने बोपदेव की 'शतश्लोकी भाषाटीका' (सं० १८२०), मलूकचंद ने 'तिब्ब सहाबी' नामक यूनानी चिकित्सा-ग्रंथ का पद्यमय भाषानुवाद 'वैद्यहुलास' (उन्नीसवीं शती), ज्ञानसार ने कामशास्त्र पर 'कामोद्दीपन ग्रंथ' (सं० १८५६), लक्ष्मीचंद्र ने 'लक्ष्मीप्रकाश' (सं० १९३७) नामक ग्रंथों की रचना की थी।

पंजाब में भी मेघमुनि ने सं० १८१८ में निदानचिकित्सा विषयक 'मेघविनोद' की और गंगाराम ने सं० १८७८ में महाराजा रणजीतसिंह के काल में रोगनिदान संबंधी 'गंगपति निदान' नामक ग्रंथों का प्रणयन किया था। ये दोनों ही ग्रंथ प्राचीन हिंदी में दोहा, चौपाई आदि छंदों में लिखे हुए हैं।

जैन विद्वानों द्वारा विरचित वैद्यक ग्रंथों के इस सर्वेक्षण से उनके एतत्संबंधी साहित्य की विपुलता का सहज ही आभास मिल जाता है। वास्तव में इन ग्रंथों की उपयोगिता और व्यावहारिकता को ध्यान में रखते हुए उनके प्रकाशन की नितांत आवश्यकता है। इस निबंध के लेखक ने इनमें से कुछ ग्रंथों की प्रकाशनार्थ तैयार प्रतिलिपियां व टिप्पणियां भी तैयार कर ली हैं। भविष्य में उनके क्रमशः प्रकाशन का विचार है। आशा है, मेरे इस लघु विज्ञापन पर ध्यानाकर्षण करते हुए अन्य विद्वान् भी इस ओर आकृष्ट होंगे।

आचार्य हेमचन्द्र और उनका काव्यानुशासन

डॉ० मूलचन्द्र पाठक

आचार्य हेमचद्र सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी एक युगप्रवर्त्तक महापुरुष थे। जैन धर्म और जैन विद्याओ के तो वे एक महान् आचार्य व प्रकाड पडित थे ही, ब्राह्मणो के कहे जाने वाले शास्त्रो व विद्याओ मे भी वे पारगत थे। अगाध, व्यापक व सर्वतोगामी पाडित्य के साथ-साथ वे उच्चकोटि के कवि भी थे। उनका द्वयाश्रय काव्य उनके सहृदयत्व व शास्त्रीय वैदुष्य का मणिकाचन योग प्रस्तुत करता है। उद्भट विद्वान् व सहृदय कवि होने के साथ ही आचार्य हेमचन्द्र एक उदारमना सन्त, प्रगतिशील समाजसुधारक, उत्साही धर्मप्रचारक एव प्रभावशाली उपदेशक भी थे। गुजरात प्रात मे जैन धर्म के प्रचार-प्रसार मे उनका योगदान किसी भी अन्य आचार्य से अधिक रहा। गुजरात के तत्कालीन शासक सिद्धराज जयसिंह व कुमारपाल उनका अत्यधिक सम्मान करते थे। यहा तक कि कुमारपाल उनके व्यक्तिगत सपर्क व उपदेशो के प्रभाव से जैन धर्म का अनुयायी हो गया था। गुजरात के समकालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक व सास्कृतिक जीवन पर हेमचन्द्र का वडा गहरा प्रभाव पडा। उन्होने गुजरात मे विद्यानुशीलन, शास्त्राभ्यास व साहित्य-साधना का एक उच्चस्तरीय वातावरण वनाने मे अपूर्व योगदान किया। उनके पहले का गुजरात पाडित्य व साहित्यसर्जना के क्षेत्र मे भारत के इतर प्रातो से पिछडा हुआ था। हेमचद्र ने अपने युग मे प्रचलित प्राय सभी प्रधान शास्त्रो का मथन कर स्वय विविध विषयो पर सरल व सुवोध शैली मे अनेक विश्वकोषात्मक ग्रथो की रचना की तथा विद्वान् व कर्मठ शिष्यो की मडली तैयार करके गुजरात मे सस्कृत-साहित्य विशेष रूप से शास्त्रो के अध्ययन-अध्यापन व प्रणयन की एक सशक्त परपरा का सूत्रपात किया।

सौभाग्य से इस महान् आचार्य, सन्त, साहित्यप्रणेता व धर्मोपदेशक की जीवन विषयक सामग्री अनेक समकालीन व परवर्ती ग्रथो मे सुलभ है। इन ग्रथो मे सोमप्रभसूरिरचित कुमारपालप्रतिवोध (सवत् १२४१), प्रभाचद्रसूरिकृत प्रभावक-

चरित (सं० १२७८), मेरुतुंगकृत 'प्रबंधचिन्तामणि (स० १३६२), राजशेखर-कृत 'प्रबन्धकोश' (स० १४०५), जिनमडनकृत 'कुमारपालप्रतिबोध (स० १४६२), यशपालरचित मोहराजपराजय नाटक (१३वी शताब्दी का पूर्वार्द्ध) एव पुरातन प्रबंधसग्रह आदि विशेप रूप से उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त स्वय हेमचद्र का द्वयाश्रयकाव्य, सिद्धहेमप्रशस्ति तथा त्रिषष्टिशलाकापुरुप मे अन्तर्भूत 'महावीर चरित' आदि भी उनके जीवन पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् व्यूहलर ने उक्त स्रोतो मे से अनेक का उपयोग करते हुए हेमचन्द्र के जीवन व कृतित्व पर एक विस्तृत निवन्ध लिखा है।

आचार्य हेमचन्द्र का जन्म विक्रम सवत् ११४५ (१०८८ ई०) मे गुजरात प्रांत के अन्तर्गत 'धधुका' नामक ग्राम के एक वैश्यपरिवार मे हुआ। उनके पिता का नाम चच्च अथवा चाचिग तथा माता का नाम पाहिणी था। हेमचन्द्र का वचपन का नाम 'चगदेव' था। पूर्णतलगच्छ के श्री देवचन्द्रसूरि के प्रभाव से चगदेव आठ वर्प की अवस्था मे श्रमण-धर्म मे दीक्षित हुए। २२ वर्प की आयु (११०९ ई०) मे आचार्य सूचक 'सूरि' पद प्राप्त होने पर वे हेमचन्द्र नाम से प्रसिद्ध हुए।

हेमचन्द्र के जीवनकाल मे सिद्धराज जयसिंह (१०९३-११४३ ई०) तथा महाराज कुमारपाल (११४३-११७४ ई०) गुजरात के शासक थे। सिद्धराज के साथ आचार्य का प्रथम परिचय सभवत ११३६ ई० मे हुआ जबकि सिद्धराज की मालवा-विजय के उपलक्ष्य मे आयोजित एक समारोह मे हेमचद्र ने उनकी प्रशस्ति मे एक सुन्दर श्लोक सुनाया।[1] धीरे-धीरे दोनो का परिचय प्रगाढ मैत्री व पारस्परिक समादर मे विकसित हुआ। सिद्धराज के अनुरोध पर हेमचन्द्र ने 'सिद्धहेम शब्दानुशासन' नामक संस्कृत व्याकरण-ग्रथ की रचना की। सिद्धराज के पश्चात् कुमारपाल गुजरात के शासक वने। उनके शासनकाल मे हेमचन्द्र के सम्मान और प्रभाव मे और वृद्धि हुई। कुमारपाल के अनुरोध पर हेमचन्द्र ने योगशास्त्र आदि ग्रथो की रचना की। लगभग पचास वर्षों तक गुजरात के धार्मिक, सामाजिक, साहित्यिक व राजनीतिक जीवन पर छाये रहकर सन् ११७३ ई० मे ८४ वर्प की आयु मे, महाराज कुमारपाल की मृत्यु के कुछ ही पूर्व, आचार्य हेमचन्द्र दिवगत हुए।

हेमचन्द्रप्रणीत साहित्य परिमाण मे विशाल व विपयवस्तु की दृष्टि से विविधता-सम्पन्न है तथा उनकी 'कलिकालसर्वज्ञ' उपाधि को चरितार्थ करता है। निम्नलिखित ग्रथ प्रामाणिकरूप से हेमचन्द्ररचित माने जाते हैं (१) सिद्धहेम-शब्दानुशासन, (२) योगशास्त्र, (३) कुमारपाल चरित या द्वयाश्रय काव्य, (४) छन्दोऽनुशासन, (५) काव्यानुशासन, (६) कोपग्रथ अभिधानचितामणि, अनेकार्थ-शब्दसग्रह, निघटु तथा देशीनाममाला, (७) त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, (८) वीतरागस्तुति (९) द्वात्रिंशिका तथा (१०) प्रमाण मीमासा। इनमे से अनेक पर

हेमचन्द्र ने संक्षिप्त या विस्तृत वृत्तिया व टीकाएं भी लिखी है। यह समग्र वाङ्मय उनकी बहुमुखी प्रज्ञा एवं सर्वग्राहिणी विद्वत्ता का ज्वलन्त प्रमाण है।

'काव्यानुशासन' आचार्य हेमचन्द्र की अलकारशास्त्रविषयक एकमात्र कृति है। जैन आचार्यों ने अलकारशास्त्र पर जो ग्रंथ लिखे हैं उनमे यह कृति प्रमुख कही जा सकती है। यह अलकारशास्त्र के इतिहास के उस युग की देन है जब रस, अलकार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि विभिन्न सिद्धातो का पूर्ण विकास व विवेचन हो चुका था तथा स्वतत्र व मौलिक काव्य-चितन की परपरा लगभग समाप्त हो चुकी थी। आनदवर्धन ने ध्वनिसिद्धात के रूप मे काव्य का एक ऐसा सर्वांगीण सिद्धात प्रस्तुत किया था जिसमे अलंकार, गुण, दोष, रीति, रस आदि विभिन्न तत्त्व काव्य की एक सपूर्ण अवधारणा मे परस्पर अंगागिभाव से सतुलित व समन्वित हो गये थे। यद्यपि कुन्तक व महिमभट्ट ने आनदवर्धन के उक्त प्रयास को चुनौती दी थी पर ध्वनिवादी काव्य-दृष्टि इतने व्यापक, गभीर व सुदृढ चितन पर आधारित थी कि यह चुनौती निरर्थक ही सिद्ध हुई। मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' मे ध्वनि के रहे-सहे विरोध को भी अपने अकाट्य तर्कों द्वारा इस तरह निरस्त कर दिया कि फिर आगे उसे सिर उठाने का साहस नही हुआ। ध्वनिवाद की इस अकाट्य स्थापना व सर्वमान्यता का एक परिणाम यह हुआ कि अलकारशास्त्र के क्षेत्र मे मौलिक चितन व स्वतत्र उद्भावनाओ का युग समाप्त-सा हो गया तथा आलकारिको का एकमात्र कार्य यह रह गया कि वे ध्वनिवाद की समन्वयवादी दृष्टि के अनुसार काव्य के स्वरूप व विभिन्न तत्त्वो का एकत्र परिचय देने वाले सग्रह ग्रंथ या पाठ्यपुस्तको का प्रणयन करें। इस दिशा मे सर्वप्रथम प्रयास मम्मट (११वी सदी का उत्तरार्द्ध) ने किया तथा उन्हे इस कार्य मे इतनी सफलता मिली कि अलकारशास्त्र के परवर्ती लेखको ने उनके द्वारा प्रदर्शित सरणि के अनुगमन मे ही अपनी कृतार्थता मानी। यहा तक कि मम्मट के विरोध का बीडा उठाकर चलनेवाले विश्वनाथ को भी अन्तत उन्ही के चरण-चिह्नो पर चलना पडा। कुछ लेखको ने अलकारशास्त्र के प्राचीन सम्प्रदायो के अनुगमन का प्रयत्न किया पर उनकी सख्या नगण्य ही रही। सामान्य प्रवृत्ति काव्य की ध्वनिवादी सकल्पना को स्वीकार करने की ही रही। आचार्य हेमचन्द्र का काव्यानुशासन अलंकारशास्त्र के उपसहारकाल की इसी सामान्यप्रवृत्ति का परिचायक है। निश्चय ही उनका ध्येय किसी नूतन काव्यसिद्धात का प्रतिपादन नही था। उनके समक्ष अलकारशास्त्र की एक समृद्ध व प्रौढ परपरा थी जिसमे मौलिक योगदान के लिए बहुत कम अवकाश रह गया था। उनका उद्देश्य तो अलकारशास्त्र की उक्त परपरा को जो बहुत-कुछ रूढिबद्ध व स्थिर हो चुकी थी, सरल व सुग्राह्य शैली मे पुनर्निबद्ध कर इस विषय के प्रारंभिक व प्रौढ उभयविध अध्येताओ की सहायता करना था। इसमे सदेह नहीं कि यह कार्य उन्होंने बडी योग्यता व कुशलता के साथ किया।

'काव्यानुशासन' आठ अध्यायो मे विभक्त है जिनमे काव्य के सभी मान्य तत्त्वो व भेद-प्रभेदो का विवेचन कर दिया गया है। मूलग्रथ मे तीन प्रकार के अश है सूत्र, वृत्ति और उदाहरण। सूत्रो की कुल सख्या २०८ है जिनका अध्यायवार वितरण इस प्रकार है प्रथम अध्याय मे २५, द्वितीय मे ५९, तृतीय मे १०, चतुर्थ मे ९, पचम मे ९, षष्ठ मे ३१, सप्तम मे ५२ और अष्टम मे १३। इन सूत्रो की व्याख्या 'अलकारचूडामणि' नामक एक स्वोपज्ञ कृति मे की गई है। वृत्ति मे ही उदाहरण दिये गए है जिनकी सख्या ८०७ है। सूत्र व वृत्ति दोनो पर हेमचन्द्र ने 'विवेक' नाम की एक विस्तृत टीका भी प्रस्तुत की है।[२] 'विवेक' मे ग्रथकार ने विषय के प्रौढ विद्यार्थियो की आवश्यकताओ को ध्यान मे रखते हुए प्रतिपाद्य विषय से सबद्ध प्रभूत सामग्री अन्य ग्रथो से सकलित की है। अन्य ग्रथकारो के मत प्राय मूल रूप मे उद्धृत किये गए हैं। इसमे लगभग ८८५ उद्धरणो व उदाहरणो का समावेश है। वृत्ति व विवेक दोनो मे मिलाकर हेमचन्द्र ने लगभग ५० ग्रथकारो व ८१ ग्रथो का नामत उल्लेख किया है। अन्य बहुत से सदर्भ ग्रथ या ग्रथकार के नामोल्लेख के बिना ही दिए गए हैं। अलकारशास्त्र व साहित्य के इतिहास की दृष्टि से इस विपुल सामग्री का महत्त्व असदिग्ध है।

'काव्यानुशासन' मे प्रतिपादित विषयो का सक्षिप्त परिचय इस प्रकार है

प्रथम अध्याय मगलाचरण के पश्चात् हेमचन्द्र कहते हैं कि 'शब्दानुशासन' मे हमने वाणी के साधुत्व का विवेचन किया और अब 'काव्यानुशासन' मे उसी के काव्यत्व की उचित रीति से शिक्षा दी जा रही है

शब्दानुशासनेऽस्माभि साध्व्यो वाचो विवेचिता ।
तासामिदानी काव्यत्व यथावदनुशिष्यते ॥१ २

तृतीय सूत्र मे काव्य के प्रयोजनो को निम्न शब्दो मे प्रस्तुत किया गया है

काव्यमानन्दाय यशसे कान्तातुल्यतयोपदेशाय च। १.३

अर्थात् काव्य का प्रयोजन आनन्द, यश और कान्ता के समान उपदेश प्रदान करना है।

आचार्य हेमचन्द्र ने प्रतिभा को ही काव्य का एकमात्र हेतु स्वीकार किया है। उनके अनुसार व्युत्पत्ति व अभ्यास प्रतिभा के सस्कारक मात्र हैं, काव्य के साक्षात् कारण नही

प्रतिभास्य हेतु । व्युत्पत्त्यभ्यासाभ्या सस्कार्या। १.४,७

अतएव न तौ काव्यस्य साक्षात्कारण प्रतिभोपकारिणौ तुभवत ।
दृश्येते हि प्रतिभाहीनस्य विफलौ व्युत्पत्त्यभ्यासौ।—१.७ की वृत्ति। हेमचन्द्र ने काव्य का निम्न लक्षण दिया है

अदोषौ सगुणौ सालकारौ च शब्दार्थौ काव्यम्। १ ११

मम्मट के काव्यलक्षण से इसका भेद मुख्यत 'सालकारौ' पद से प्रकट हो रहा

है। 'च' द्वारा कहीं-कहीं निरलंकार शब्दार्थ में भी काव्य की स्थिति स्वीकार की गई है।

हेमचन्द्र ध्वनिवाद के अनुयायी हैं, अत उन्होंने काव्यलक्षण में प्रयुक्त गुण, दोष व अलकार के स्वरूप का निरूपण रसध्वनिवादी दृष्टिकोण से किया है, जैसे—रसस्योत्कर्षापकर्षहेतू गुणदोषो, भक्त्या शब्दार्थयो (१ १२) अगाश्रिता अलकारा (१ १३)

इसी अध्याय में ग्रंथकार ने चतुर्विध शब्द मुख्य, गौण, लक्षक व व्यजक, उनके द्वारा प्रतिपादित मुख्यार्थ, गौणार्थ, लक्ष्यार्थ व व्यग्यार्थ एव अभिधा, गौणी, लक्षणा व व्यजकत्व नामक चतुर्विध शब्दशक्तियो के स्वरूप का विवेचन किया है। व्यग्यार्थ के त्रिविध रूप-वस्तु, अलकार व रस, वाच्यार्थ से व्यग्यार्थ की भिन्नता, अर्थव्यजकत्व के प्रकारो, शब्दशक्तिमूल व अर्थशक्तिमूल व्यग्यार्थ के भेद-प्रभेदो तथा रसादि व्यग्यार्थ के विविध रूपो का निरूपण भी इसी अध्याय में किया गया है।

द्वितीय अध्याय इसमे सर्वप्रथम अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद के अनुसार रस का लक्षण किया गया है जो इस प्रकार है

विभावानुभावव्यभिचारिभिरभिव्यक्त स्थायी भावो रस । २ १

इस सूत्र की वृत्ति में हेमचन्द्र ने मम्मट के रसविवेचन की शब्दावली का नि सकोच उपयोग किया है तथा 'विवेक' में अभिनवगुप्त की अभिनवभारती से भट्टलोल्लट आदि के मतो को अविकल रूप मे उद्धृत किया है। रस-स्वरूप के निरूपण के पश्चात् इस अध्याय में शान्तरस सहित नवरसो के स्थायीभाव, विभाव, अनुभाव व सचारी भावो का विस्तार से विवरण दिया गया है। अनन्तर ३३ सचारी भावो व ८ सात्त्विक भावो का परिचय देकर ग्रथकार ने रसाभास व भावाभास के स्वरूप पर प्रकाश डाला है। अध्याय के अन्त में काव्य के भेदो उत्तम, मध्यम व अधम का निरूपण किया गया है। उल्लेखनीय है कि हेमचन्द्र ने मध्यम काव्य के तीन ही भेद माने हैं (१) असत्प्राधान्य, (२) सदिग्धप्राधान्य तथा (३) तुल्यप्राधान्य, जबकि मम्मट ने उसके आठ भेदो का विवेचन किया है।

तृतीय अध्याय इसमे क्रमश रस तथा शब्द व अर्थ से सबधित दोषो का वर्णन किया गया है। इस अध्याय की 'अलकारचूडामणि' व 'विवेक' में काव्य दोषो के उदाहरणो का बहुत बडी सख्या मे सग्रह मिलता है।

चतुर्थ अध्याय इसमे काव्यगुणो का विवेचन किया गया है। मम्मट के समान हेमचन्द्र भी माधुर्य, ओजस् व प्रसाद इन तीन ही गुणो को स्वीकार करते हैं। प्रस्तुत अध्याय में इन गुणो का स्वरूप बतलाते हुए उनकी व्यजक विशिष्ट वर्णयोजना पर प्रकाश डाला गया है। विवेचन का अधिकाश मम्मट के काव्य-प्रकाश पर आधारित है। इस अध्याय से सबधित 'विवेक' मे भारत, मगल, दडी,

वामन आदि अनेक आचार्यों के गुण-सबधी विचारो का विस्तृत संकलन किया गया है।

पंचम अध्याय : इसमे छह शब्दालकारो का भेद-प्रभेद सहित निरूपण किया गया है। ये अलकार हैं अनुप्रास, यमक, चित्र, श्लेप, वक्रोक्ति व पुनरुक्त-वदाभास।

षष्ठ अध्याय इसमे सकर सहित २९ अर्थालकार वर्णित हैं। हेमचन्द्र ने अर्थालकारो की सख्या को काफी न्यून कर दिया है। मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के दशम उल्लास मे ६१ अलकारो का वर्णन किया था, पर हेमचन्द्र ने उनमे से अनेक महत्त्वहीन व चमत्कारशून्य अलकारो को या तो छोड दिया है या इन्ही २९ अलकारो में उनका अन्तर्भाव कर लिया है। उदाहरणार्थ, उनके मतानुसार ससृष्टि का सकरालकार मे अन्तर्भाव है। दीपक की परिभाषा उन्होंने ऐसी दी है कि तुल्ययोगिता का भी उसी मे अन्तर्भाव हो जाता है। परावृत्ति नामक अलकार मे मम्मटोक्त परिवृत्ति व पर्याय दोनो अन्तर्भूत हैं। अनन्वय और उपमेयोपमा को उन्होंने उपमा का ही भेद माना है तथा निदर्शना के अतर्गत प्रतिवस्तूपमा व दृष्टान्त का अन्तर्भाव कर लिया है। स्वभावोक्ति व अप्रस्तुतप्रशसा को हेमचन्द्र ने क्रमश जाति और अन्योक्ति नामो से अभिहित किया है।

हेमचन्द्र द्वारा वर्णित २९ अलकार ये है उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, निदर्शना, दीपक, अन्योक्ति, पर्यायोक्ति, अतिशयोक्ति, आक्षेप, विरोध, सहोक्ति, समासोक्ति, जाति, व्याजस्तुति, श्लेप, व्यतिरेक, अर्थान्तरन्यास, ससदेह, अपह्नुति, परावृत्ति, अनुमान, स्मृति, भ्राति, विषम, सम, समुच्चय, परिसख्या, कारणमाला और सकर।

काव्यानुशासन के सूत्र व वृत्तिभाग मे इन्ही २९ अलकारो का विवेचन किया गया है, पर 'विवेक' मे अन्य आचार्यों द्वारा निरूपित इतर अलकारो की भी यत्र-तत्र चर्चा आयी है। हेमचन्द्र ने उनका या तो इन २९ अलकारो मे ही अन्तर्भाव किया है या उनका अलकार न होना सिद्ध किया है।

इस प्रकार उक्त छह अध्यायो मे हेमचन्द्र ने काव्य के उन तत्वो का विवेचन समाप्त कर लिया है जिनका मम्मट ने काव्यप्रकाश के १० उल्लासो मे प्रतिपादन किया था।

सप्तम अध्याय इस अध्याय का विषय 'नायकनायिका-भेद' है। नायक, प्रतिनायक, नायक के गुण, नायक के चार प्रकार व उनकी विशेषताए, विविध प्रकार की नायिकाए, अवस्थानुसार नायिकाओ के भेद आदि विषयो की इसमे चर्चा की गई है। हेमचन्द्र ने इस अध्याय के लिखने मे दशरूपक, नाट्यशास्त्र व अभिनवभारती का उपयोग किया है।

अष्टम अध्याय : इसमें प्रबन्धात्मक काव्य के विभिन्न रूपो का वर्णन किया

गया है। सर्वप्रथम प्रबन्ध के दो भेद किये गए हैं श्रव्य और प्रेक्ष्य। प्रेक्ष्य के भी दो भेद हैं—पाठ्य और गेय। पाठ्य के १२ भेद बताये गए हैं –नाटक, प्रकरण, नाटिका, समवकार, ईहामृग, डिम, व्यायोग, उत्सृष्टिकाक, प्रहसन, भाण, वीथी व सट्टक। इनके अतिरिक्त कोहल द्वारा वर्णित त्रोटक आदि की गणना भी पाठ्य के अन्तर्गत की गई है। गेय प्रेक्ष्य के निम्नलिखित १२ भेद बतलाए गये हैं डोम्बिका, भाण, प्रस्थान, शिगक, भाणिका, प्रेरण, रामाक्रीड, हल्लीसक, रासक, श्रीगदित और रागकाव्य। गेय के कुछ अन्य भेदो शपा, छलित, द्विपदी आदि का भी उल्लेख मिलता है। 'अलकारचूडामणि' मे किसी अज्ञात ग्रंथ मे इन सबके लक्षण उद्धृत किये गये है।

हेमचन्द्र के अनुसार श्रव्य काव्य के पाच भेद हैं महाकाव्य, आख्यायिका, कथा, चपू और अनिबद्ध। महाकाव्य पद्यबद्ध होता है तथा उसकी रचना सस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश व ग्राम्य भाषाओ मे से किसी मे की जाती है। उसकी कथावस्तु सर्ग, आश्वास, सधि, अवस्कध या कबन्ध मे विभक्त रहती है। उसमे पच सधियो की सुन्दर योजना तथा शब्द व अर्थ के चारुत्व का समावेश आवश्यक है।

कथा और आख्यायिका का भेद भामह के अनुसार बतलाया गया है। कथा के अनेक रूपो व उनकी प्रतिनिधि कृतियो का निर्देश भी किया गया है, जैसे (१) उपाख्यान (नलोपाख्यान), (२) आख्यान (गोविन्द), (३) निदर्शन (पचतत्र), (४) प्रवह्लिका (चेटक), (५) मथल्लिका (गोरोचन व अनगवती), (६) मणिकुल्या (मत्स्यहसित), (७) परिकथा (शूद्रक कथा), (८) खण्डकथा (इन्दुमती), (९) सकलकथा (समरादित्य), (१०) उपकथा और (११) बृहत्कथा (नरवाहनदत्त चरित)[1]। इनमे से अधिकाश कृतिया अनुपलब्ध हैं।

इस अध्याय के अत मे हेमचन्द्र ने चम्पू और अनिबद्ध काव्यो का वर्णन किया है। अनिबद्ध के अन्तर्गत मुक्तक, सदानितक, विशेषक, कलापक, कुलक व कोष आदि भेद बतलाए गए हैं।

इस प्रकार आचार्य हेमचन्द्र ने काव्यशास्त्र के समस्त विषयो का आठ अध्यायो के कलेवर मे वर्णन कर दिया है। सस्कृत अलकारशास्त्र मे विषयगत समग्रता की दृष्टि से काव्यानुशासन की तुलना यदि कोई ग्रथ कर सकता है तो एकमात्र विश्वनाथ का 'साहित्यदर्पण' ही जो काव्यानुशासन के लगभग २०० वर्ष बाद लिखा गया।

आचार्य हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' की रचना मे अनेक स्रोतो से गृहीत सामग्री का उपयोग किया है जिससे यह एक सग्रहात्मक ग्रथ बन गया है। भरत, दण्डी, वामन, आनन्दवर्धन, राजशेखर, अभिनवगुप्त, भोज, मम्मट आदि अनेक आचार्यों के मतो का उन्होंने 'काव्यानुशासन' के सूत्रो एव वृत्ति व विवेक मे शब्दश

या अपनी भाषा मे अनूदित करके उद्धृत किया है। यही कारण है कि 'काव्यानुशासन' मे 'ध्वन्यालोक' या 'वक्रोक्तिजीवित' की-सी मौलिकता तथा स्वतत्र व नूतन उद्भावनाओ के दर्शन नही होते। मम्मट के समान समन्वय का विराट् व प्रौढ प्रयास भी हेमचन्द्र ने नही किया। उनकी कृति मे विभिन्न काव्य-तत्त्वो के समन्वय का जो रूप दिखाई देता है उसके लिए वे मम्मट के ऋणी है। काव्यानुशासन के प्राय प्रत्येक पृष्ठ मे पूर्व आचार्यो के विचारो व पदावली की प्रतिध्वनि सुनी जा सकती है। इसीलिए काव्यशास्त्र के कतिपय आधुनिक विद्वानो ने काव्यानुशासन को मौलिकता-शून्य तथा प्राचीन कृतियो का उच्छिष्ट तक कह दिया है। श्री पी० वी० काणे ने अपने ग्रथ 'हिस्ट्री ऑफ सस्कृत पोएटिक्स' मे काव्यनुशासन के विषय मे यह मन्तव्य प्रकट किया है

"काव्यानुशासन एक सग्रह-ग्रंथ मात्र है, इसमे मौलिकता का शायद ही कही दर्शन हो। इसमे काव्यमीमासा, काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक तथा लोचन से प्रचुर सामग्री ली गई है।"[४]

डा० सुशीलकुमार दे ने भी अपने ग्रथ 'हिस्ट्री आफ सस्कृत पोएटिक्स' मे काव्यानुशासन की मौलिकता के विषय मे प्राय ऐसे ही विचार प्रकट किये हैं। उनके मतानुसार "पूर्ववर्ती ग्रथो पर हेमचन्द्र की निर्भरता इतनी अधिक है कि अनेक अवसरो पर वह दासवत् अनुकरण या साहित्यिक चौर्य की कोटि मे पहुच जाती है।"[५]

यद्यपि हेमचन्द्र मे मौलिक प्रतिभा की कमी है पर यह कहना कि काव्यानुशासन अलंकारशास्त्र की पूर्व कृतियो का उच्छिष्ट मात्र है, समीचीन नही है। काव्यानुशासन के अनेक स्थलो पर उन्होने अपनी स्वतत्र विचारणा व विवेचना का परिचय दिया है। कुछ विन्दु जिन पर उन्होंने पूर्व आचार्यों से अपनी असहमति या स्वतत्र मति व्यक्त की है, ये हैं

१ हेमचन्द्र ने मम्मट द्वारा स्वीकृत काव्य-प्रयोजनो मे से अर्थ-प्राप्ति, व्यवहार-ज्ञान तथा अशिव-क्षति को अगीकार नही किया। उनके अनुसार काव्य से धन की प्राप्ति अनेकातिक है, व्यहार-ज्ञान अन्य शास्त्रो से भी हो सकता है तथा अनर्थ-निवारण (शिवेत्तरक्षति) प्रकारान्तर से भी शक्य है।[६]

२ काव्य-हेतु के विषय मे भी हेमचन्द्र ने अपना विचार-स्वातन्त्र्य प्रकट किया हैं। उनके अनुसार प्रतिभा ही एकमात्र काव्य-हेतु है तथा व्युत्पत्ति व अभ्यास उसके केवल सस्कारक हैं।[७]

३ मम्मट के काव्य-लक्षण का अनुगमन करते हुए भी हेमचन्द्र ने काव्य मे अलकार की स्थिति के विषय मे अपना मतभेद प्रकट किया है। जहा मम्मट 'अनलकृती पुन. क्वापि' द्वारा स्फुट या अस्फुट रूप मे अलकारो

की सत्ता काव्य में अनिवार्य मानते हैं वहा हेमचन्द्र 'च' पद द्वारा अलकार रहित शब्दार्थों में भी कदाचित् काव्यत्व स्वीकार करते हैं।[8]

४. मम्मट के विरुद्ध हेमचन्द्र ने गौणी व लक्षणा को पृथक्-पृथक् शब्द-शक्ति माना है।[9] इस विषय में वे मीमासकों से प्रभावित प्रतीत होते हैं।

५ हेमचन्द्र मुख्यार्थबाध, तद्योग तथा प्रयोजन को ही लक्षणा का हेतु स्वीकार करते हैं, रूढि को नहीं। मम्मट आदि द्वारा निर्दिष्ट रूढि लक्षणा के स्थलो को वे अभिधा का ही विषय मानते हैं, लक्षणा का नहीं।[10]

६ मम्मट ने अर्थशक्तिमूल ध्वनि में व्यजक अर्थ के तीन रूप बताये थे स्वत सभवी, कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध और कविनिबद्धप्रौढोक्तिमात्र-सिद्ध। पर हेमचन्द्र की दृष्टि में यह भेद-व्यवस्था उचित नहीं है। उनके विचार में व्यजक अर्थ का प्रौढोक्तिनिर्मित होना ही पर्याप्त है· प्रौढोक्ति के अभाव में स्वत सभवी अर्थ भी अकिंचित्कर है। कवि-निबद्धवक्ता की प्रौढोक्ति वस्तुत कवि की ही प्रौढोक्ति है।[11]

७ मम्मट आदि ने असलक्ष्यक्रमव्यग्य या रसध्वनि के पदगत, पदैकदेशगत, वाक्यगत, प्रबन्धगत, वर्णगत व रचनागत ये छह रूप माने थे, पर हेमचन्द्र के विचार में पदैकदेश भी पद ही है अत उसे स्वतत्र प्रकार मानना ठीक नहीं। जहा तक वर्ण व रचना का प्रश्न है वे साक्षात् रूप से गुणो के व्यजक होते हैं तथा उन्ही के माध्यम से रसाभिव्यक्ति में उनकी उपयोगिता है।[12]

८ हेमचन्द्र ने किन्ही आचार्यों द्वारा स्वीकृत 'स्नेह', 'लौल्य' व 'भक्ति' रसो का खडन कर उनका परपरागत नवरसो में ही अन्तर्भाव किया है। उन्होंने स्नेह के विभिन्न रूपो की विश्राति पृथक्-पृथक् भावो या रसो में बतायी है, जैसे मित्र स्नेह की 'रति' में, लक्ष्मण आदि के भ्रातृस्नेह की 'धर्मवीर' में एव माता-पिता के प्रति बालक के स्नेह की भय में। इसी प्रकार गर्धरूप स्थायीभाव वाले 'लौल्य रस' का उन्होंने 'हास' अथवा रति में अन्तर्भाव माना है।[13]

९ हेमचन्द्र ने रसाभास व भावाभास के दो हेतु माने हैं (१) निरिन्द्रिय तिर्यगादि में रति आदि भावो का आरोप तथा (२) अनौचित्य, जैसे अन्योन्य अनुराग के अभाव में भी रत्यादि का चित्रण। यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मम्मट आदि ने रसाभास व भावाभास के द्वितीय रूप को ही माना है।[14]

१० मध्यमकाव्य के हेमचन्द्र ने तीन ही प्रकार माने हैं असत्प्राधान्य,

सन्दिग्ध-प्राधान्य और तुल्यप्राधान्य। इनमें से अंतिम दो को मम्मट ने इसी रूप में माना है। मम्मट निरूपित अन्य भेदों को हेमचन्द्र ने प्रथम प्रकार असत्प्राधान्य में अन्तर्भूत कर लिया है।[15]

११ चित्रालंकार के विवेचन में हेमचन्द्र ने इसके स्वरचित्र, व्यंजनचित्र, स्थानचित्र, गतिचित्र, मात्रादिच्युत तथा गूढ आदि भेदों[16] का सोदाहरण वर्णन किया है जिनकी चर्चा काव्यप्रकाश में नहीं मिलती।

१२ शब्दालंकार वक्रोक्ति का हेमचन्द्र ने एक ही भेद—'श्लेष वक्रोक्ति' स्वीकार किया है। उनके विचार में 'काकुवक्रोक्ति' को अलंकार की कोटि में रखना ठीक नहीं है, वह वस्तुतः गुणीभूतव्यंग्य या मध्यम काव्य का एक प्रभेद है।[17] अपने मत के समर्थन में हेमचन्द्र ने ध्वन्यालोक की निम्न कारिका उद्धृत की है

अर्थान्तरगति काक्वा या चैषा परिदृश्यते।
सा व्यंग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिममाश्रिता ॥३ ३६

१३ हेमचन्द्र ने केवल २६ अर्थालंकारों का वर्णन किया है। यह इसलिए संभव हुआ कि उन्होंने कतिपय अलंकारों के स्वरूप को व्यापकता देकर उनके कलेवर में अन्य कई अलंकारों को समेट लिया है। उदाहरणार्थ, उपमेयोपमा तथा अनन्वय का उपमा में, प्रतिवस्तूपमा व दृष्टान्त का निदर्शना में, तुल्ययोगिता का दीपक में, मीलित, सामान्य, एकावली व विशेष का अतिशयोक्ति में, प्रतीप का आक्षेप में, व्याघात, विशेषोक्ति, असंगति, विषम, अधिक व अतद्गुण का विरोध में, पर्याय व परिवृत्ति का परावृत्ति में, समाधि का समुच्चय में तथा संसृष्टि का संकर में अन्तर्भाव किया गया है।

अलंकारों के सरलीकरण व उनकी संख्या के न्यूनीकरण का यह प्रयास सराहनीय होते हुए भी सर्वत्र तर्कसम्मत नहीं हो सका है। प्रायः दो या अधिक अलंकारों के लक्षणों को किसी एक ही अलंकार में मिश्रित करके उनकी संख्या घटाई गई है। तथापि हेमचन्द्र को इस बात का श्रेय जाता है कि जहां अन्य आलंकारिकों ने अलंकार-संख्या में निरन्तर वृद्धि का मार्ग अपनाया वहां उन्होंने इस सामन्य प्रवृत्ति के विरुद्ध चलने का साहस दिखाया।

इस प्रकार यद्यपि कतिपय स्थलों पर हेमचन्द्र ने अपनी स्वतंत्र बुद्धि व मान्यताओं का परिचय दिया है पर जिन विषयों पर उन्होंने पूर्व आचार्यों से मतभेद प्रकट किया है वे इतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं कि उनकी मौलिकता को प्रतिष्ठापित कर सकें। निश्चय ही उनके ग्रंथ का अधिकतर भाग अन्य ग्रंथों से यथावत् संकलित या अनूदित सामग्री के रूप में है और इसीलिए उन्हें एक मौलिक ग्रंथकार होने का गौरव प्रदान नहीं कर सकता। पर जैसा कि हम पहले भी बता चुके हैं, हेमचन्द्र

का उद्देश्य किसी मौलिक ग्रंथ का निर्माण करना नहीं था। इस विषय में हम श्री आनंदशंकर बापूभाई ध्रुव के इस विचार से सहमत हैं कि हेमचन्द्र का मुख्य ध्येय अपनी रचनाओं द्वारा ब्राह्मणों के साहित्य में जैनों को परिचित कराना था। अत अपने ग्रंथों को अधिकाधिक प्रामाणिक बनाने के लिए उन्होंने पूर्ववर्ती ब्राह्मण ग्रंथकारों की कृतियों से सामग्री लेने में तनिक भी संकोच नहीं किया।[18] साथ ही उस पारंपरिक दाय में उन्होंने अपनी ओर से भी थोड़ा-बहुत नया जोड़ा है।

डा० एस० के० दे ने काव्यप्रकाश की तुलना में काव्यानुशासन को पाठ्य-पुस्तक के रूप में एक निम्नकोटि की कृति बताया है।[19] पर यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता। अनेक टीकाओं के होते हुए भी काव्यप्रकाश आज भी छात्रों व विद्वानों के लिए दुरूह व दुर्बोध ग्रंथ बना हुआ है।[20] दूसरी ओर काव्यानुशासन के सूत्रों, अलंकार-चूडामणि वृत्ति व 'विवेक' की प्रतिपादन शैली अपेक्षाकृत सरल व सुबोध है। हेमचन्द्र ने अलंकारों की संख्या भी कम की है जिससे उनके अलंकार-विवेचन में जटिलता व दुर्बोधता नहीं आयी है और शिक्षा ग्रंथ के रूप में उसकी उपयोगिता में भी समानान्तर वृद्धि हुई है।

वस्तुत काव्यप्रकाश की तुलना में काव्यानुशासन अपनी विषयगत समग्रता व सुगम विवेचन-शैली के कारण अलंकारशास्त्र की पाठ्यपुस्तक के रूप में अधिक उपयोगी कृति है, पर खेद की बात है कि ब्राह्मणों के विद्या केन्द्रों में जैनाचार्यों की इस सुन्दर कृति का यथोचित सम्मान नहीं हो सका, क्योंकि इसमें आनंदवर्धन के ध्वनि सिद्धांत या कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त के सदृश किसी मौलिक काव्य सिद्धांत की उद्भावना या विवेचना का यत्न नहीं किया गया। हेमचन्द्र का उद्देश्य तो अतीव नम्र व सरल था। उन्होंने शिष्यों व शिक्षार्थियों के लाभार्थ तथा विद्वानों को एक ही स्थान पर काव्यतत्वों के विषय में अधिकतम सामग्री मिल सके इस सीमित उद्देश्य से ही काव्यानुशासन की रचना की थी। दुर्भाग्य से मौलिकता के शोचनीय अभाव तथा संग्रह-प्रवृत्ति के अतिरेक के कारण उनके इस प्रयास को समुचित आदर नहीं मिल सका और अलंकारशास्त्र की परवर्ती परंपरा पर भी इनका कोई उल्लेखनीय प्रभाव नहीं पड़ा। तथापि अलंकारशास्त्र के अनेक लुप्त ग्रंथों से संकलित सामग्री के एकमात्र स्रोत तथा सुबोध शैली में रचित एक पाठ्य-ग्रंथ के रूप में काव्यानुशासन का महत्त्व असंदिग्ध है।

संदर्भ

प्रस्तुत निबन्ध में काव्यानुशासन के सभी उद्धरण व संदर्भ श्री रसिकलाल पारीख द्वारा संपादित तथा श्री महावीर जैन विद्यालय, बंबई से १९३८ में प्रकाशित संस्करण से दिये गये हैं।

१ यह श्लोक निम्नलिखित था—

भूमि कामगवि ! स्वगोमयरसैरासिञ्च रत्नाकरा

मुक्तास्वस्तिकमातनुष्वमुडुप ! त्व पूर्णकुम्भीमव ।

धृत्वा कल्पतरो दलानि सरलैर्दिग्वारणास्तोरणा—

न्याधत्त स्वकरै विजित्य जगती नन्वेति सिद्धाधिप ॥

२ ग्रथकार ने 'विवेक' के उद्देश्य को निम्न श्लोक मे स्पष्ट किया है—

विवरीतु क्वचिद् दृब्ध नव सदर्मितु क्वचित् ।

काव्यानुशासनस्याय विवेक प्रवितन्यते ॥

काव्यानुशासन, अध्याय १, पृ० १

३ काव्यानुशासन के अनुसार कथा के इन विभिन्न रूपो का स्वरूप इस प्रकार है—

(क) उपाख्यान— किसी प्रवन्ध के मध्य मे अन्य के प्रवोधन के लिए कही गयी कथा, जैसे नलोपख्यान ।

(ख) आख्यान— एक ही ग्रथिक द्वारा अभिनय, पाठ एव गायन के साथ कही गई कथा, जैसे गोविन्दाख्यान

(ग) निदर्शन— पक्षियो या पक्षिभिन्न प्राणियो के कार्यों से कर्तव्य अकर्तव्य का ज्ञान कराने वाली कथा, जैसे पचतत्र, कुट्टनीमत आदि ।

(घ) प्रविह्लिका जिस कथा मे प्रधान के विषय मे दो व्यक्तियो का विवाद हो तथा जिसका अर्धभाग प्राकृत मे रचित हो, जैसे चेटक आदि ।

(ङ) मन्थल्लिका पैशाची व महाराष्ट्री भाषा मे रचित क्षुद्र कथा जैसे गोरोचना, अनगवती । अथवा जिस कथा मे पुरोहित, अमात्य, तापस आदि की असफलता का उपहास किया गया हो ।

(च) मणिकुल्या—जिस कथा मे वस्तु पहले न लक्षित हो अपितु वाद मे प्रकट हो, जैसे मत्स्यहसित ।

(छ) परिकथा— धर्म आदि पुरुषार्थों मे से किसी एक विषय मे नाना प्रकार से कहे गये अनन्त वृत्तान्तो व वर्णनो से युक्त कथा, जैसे शूद्रक कथा आदि ।

(च) खण्डकथा— अन्य ग्रथो मे प्रसिद्ध इतिवृत्त का जिस कथा मे मध्य या उपान्त भाग से वर्णन किया गया हो, जैसे इन्दुमति ।

(ज) सकलकथा कथा जिसमे फलप्राप्तिपर्यन्त समस्त वृत्तात वर्णित हो, जैसे समरादित्य ।

(ञ) उपकथा— किसी प्रसिद्ध कथा मे से एक ही चरित्र का वर्णन करने वाली कथा ।

(ट) वृहत्कथा— लम्भो से अकित तथा अद्भुत अर्थ वाली कथा जैसे नरवाहनदत्त का चरित ।

४ द्रष्टव्य पृ० २८८-८६ (तृतीय सशोधित सस्करण, दिल्ली, १६६१)

५ द्रष्टव्य पृ० १८६ की पादटिप्पणी (द्वितीय सशोधित सस्करण, कलकत्ता, १६६१)

६ धनमनैकान्तिकम्, व्यवहारकौशल शास्त्रेभ्योऽप्यनर्थनिवारण प्रकारान्तरेणापीति न काव्यप्रयोजनतयास्माभिरुक्तम् ।—काव्यानुशासन, १ ३ की वृत्ति

७ द्रष्टव्य वही, १ ७ व वृत्ति, पृ० ५

८ चकारो निरलकारयोरपि शब्दार्थयो क्वचित्काव्यत्वख्यापनार्थं ।

वही १ ११ की वृत्ति, पृ० ३३

९ मुख्याद्यास्तच्छक्तय ॥ वही, १.२०

मुख्यागौणीलक्षणाव्यंजकत्वरूपा शब्दयो व्यापारा मुख्यादीना शब्दानाम् ।

वही, १.२० की वृत्ति, पृ० ५८

हेमचन्द्र ने गौण व लक्ष्य अर्थों का अन्तर इस प्रकार बताया है

इह च यत्र वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरमुपचर्यते स गौणोऽर्थो यत्र तु न तथा स लक्ष्य इति विवेक ।

वही, १.१८ की वृत्ति, पृ० ४६

१० कुशलद्विरेफद्विकादन्यतु साक्षात्संकेतविषयत्वान्मुख्य एवेति न रूढि लक्ष्यार्थस्य हेतुवेनास्माभिरुक्ता ।

वही, १.१८ की वृत्ति, पृ० ४६

११ इह च अयं स्वत संभवी, कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर, च विनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो वेति भेदकथन न न्याय्यम्प्रौढोक्तिनिर्मितत्वमात्रेणैव नाथ्यसिद्धे । प्रौढोक्तिमन्तरेण स्वतसंभविनोऽप्यकिंचित्करत्वात् । कविप्रौढोक्तिरेव च कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिरिति किं प्रपचेन ।

वही, १.२४ की वृत्ति, पृ० ७२-७३

१२ पदैकदेशोऽपि पदम् । वर्णरचनायास्तु साक्षान्माधुर्यादिगुणव्यंजकत्वमेव । तद्द्वारेण तु रसे उपयोग इति गुणप्रकरण एव वक्ष्येते इतीह न नोक्ते ।

वही, १.२५ की वृत्ति, पृ० ८४-८७

१३ द्रष्टव्य वही, २.२७ की वृत्ति, पृ० १०६

१४ निरिन्द्रियेषु तिर्यगादिषु चारोपाद् रसभावाभासौ ।

वही, २.५४, पृ० १४७

अनौचित्याच्च । —वही, २.५५, पृ० १४९

१५ द्रष्टव्य, वही, २.५७ की वृत्ति, पृ० १५२-५५

१६ स्वरव्यंजनस्थानगत्याकारनियमच्युतगूढादि चित्रम् ।

वही, ५.४ पृ० २०७,

चित्रालंकार-विवेचन में हेमचन्द्र ने संभवत दण्डी से प्रेरणा ग्रहण की है। द्रष्टव्य काव्यादर्श, ३.८३-९५

१७ काकुवक्रोक्तिस्त्वलंकारत्वेन न वाच्या । पाठधर्मत्वात् । तथा च अभिप्रायवान् पाठधर्म काकु सा कथमलंकारीस्यादिति यायावरीय । गुणीभूतव्यंग्यप्रभेद एव चायम् । शब्दस्पृष्टत्वेनार्थान्तरप्रतीतिहेतुत्वात ।

वही, ५.७ की वृत्ति, पृ० ३३३

१८ द्रष्टव्य 'काव्यानुशासन' का श्रीध्रुव द्वारा लिखित आमुख, पृ० १२

१९ द हिस्ट्री आफ संस्कृत पोएटिक्स, पृ० १८९-९०

२० काव्यप्रकाश की क्लिष्टता के विषय में यह कथन प्रसिद्ध है—

काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे, टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गम ।

भट्टारक सकलकीर्ति का संस्कृत चरित-काव्य को योगदान

•

डॉ० विहारीलाल जैन

दिगम्बर जैनसम्प्रदाय मे भट्टारको का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पन्द्रहवी शताब्दी से सत्रहवी शताब्दी तक का काल भट्टारको का स्वर्ण-युग है। भ० सकलकीर्ति का स्थितिकाल लगभग सन् १३८६ ई० से सन् १४४२ ई० तक है।[1] ये गुजरात मे अणहिलपुर पट्टण के निवासी थे। किन्तु इनकी शिक्षा-दीक्षा राजस्थान मे चित्तौड के पास नैणवा ग्राम मे गुरु पद्मनंदि के सान्निध्य मे सम्पन्न हुई। ये एक योग्य गुरु के सुयोग्य शिष्य थे। साहित्य-साधना इनके जीवन का प्रमुख उद्देश्य था। यही कारण है कि इतने अल्प समय मे इन्होंने निम्नलिखित सस्कृत एव हिन्दी (राजस्थानी) रचनाए की

सस्कृत रचनाए

१ आदिपुराण, २. पुराणसारसग्रह, ३ शातिनाथचरित, ४ मल्लिनाथचरित, ५ नेमिजिनचरित, ६ पार्श्वनाथपुराण, ७ वर्द्धमानचरित, ८ धन्यकुमारचरित, ६ सुदर्शनचरित, १० सुकुमालचरित, ११ यशोधरचरित, १२ श्रीपालचरित, १३ जबूस्वामीचरित, १४ प्रश्नोत्तर-श्रावकाचार, १५ मूलाचारप्रदीप, १६ सिद्धातसारदीपक, १७ तत्वार्थसार, १८ कर्म-विपार्क, १६ सुभापितावली, २० अष्टाह्निकापूजा, २१. सोलहकारणपूजा, २२ गणवरवलयपूजा, २३ पचपरमेष्ठीपूजा, २४ परमात्मराजस्तोत्र, २५ व्रतकथाकोप।

१ हरपी सुणीय सुवाणी पालई अन्य ऊअरि सुपर।
चोउद तिताली प्रमाणि पूरइ दिन पुत्र जनमीउ॥

—सकलकीतिरास, वस्तु २, पद्य १४

एव जैन ग्रथ प्रशस्तिसग्रह, परमानद शास्त्री, प्रस्तावना, पृ० ११

हिन्दी (राजस्थानी) रचनाएं

१ आराधना प्रतिबोधसार, २ मुक्तावलीगीत, ३ णमोकारफलगीत, ४ सोलहकारणरास, ५ सारसीखामणिरास, ६ शांतिनाथफागु।

उक्त संस्कृत रचनाओं का अध्ययन-सौकर्य की दृष्टि से निम्नलिखित वर्गीकरण किया जा सकता है

(क) पौराणिक या चरितात्मक काव्य।

(ख) आचारशास्त्रीय ग्रंथ।

(ग) जैन-सिद्धान्त, तत्त्वचर्चा एवं दर्शन संबंधी ग्रंथ।

(घ) विविध काव्य सुभाषित, स्तोत्र एवं कथाकाव्य।

प्रस्तुत निबंध में कवि के संस्कृत चरित-काव्यों का साहित्यिक मूल्यांकन ही प्रस्तुत किया है।

(क) पौराणिक या चरितात्मक काव्य

जैन-पुराण या चरितकाव्य से अभिप्राय उन ६३ शलाका पुरुषों (२४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ९ नारायण, ९ प्रतिनारायण, ९ बलदेव) के जीवन-चरित का वर्णन है जो इतिहासातीत युग में हुए हैं। इन महापुरुषों के चरितकाव्यों को दिगम्बर सम्प्रदाय में चरित्र एवं पुराण दोनों ही शब्दों से अभिहित किया जाता है। आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में 'पुराण' शब्द की व्याख्या में एक व्यापक अर्थ का समावेश किया है।[1] आचार्य सकलकीर्ति ने भी उत्तर आदिपुराण के आधार पर आदिपुराण की रचना की जिसका दूसरा नाम वृषभनाथचरित्र भी है। वे पुराण के स्थान पर चरित शब्द को उपयुक्त समझते हैं अतः ग्रंथारम्भ में इसका संकेत इस प्रकार करते हैं

"यच्चरित्रं पुरा प्रोक्तं महामतिविशारदैः।
मया बालेन तत्प्रोक्तुं कथं शक्यं प्रियं सताम्॥"

आदिपुराण, सर्ग १, श्लोक ३१

"तज्ज्ञानं तच्चरित्रं च तत्काव्यं तद्धितं वचः।
श्रोतव्यं कथनीयं च चिंतनीयं मुमुक्षुभिः॥

वही, सर्ग १, श्लो० ३५

उद्देश्य

जैन-पुराणों का उद्देश्य केवल शलाकापुरुषों का जीवन-वर्णन ही नहीं है अपितु कथा के व्याज से जैन धर्म के गंभीर तत्त्वों को व्यावहारिक धरातल पर प्रतिष्ठित

१ आचार्य जिनसेन, आदिपुराण, पर्व २, श्लोक ९६-१५४

करना भी है। सम्भवत इसीलिए जैन-कवियो ने लौकिक कथाओं को श्रामणिक साचे मे ढाल दिया। आ० सकलकीर्ति ने अपने चरितकाव्य के अध्ययन के उद्देश्य के सबध मे आदिपुराण मे निम्न विचारोद्गार प्रकट किए हैं

"येन श्रुतेन सम्याना रागद्वेषादयोऽखिला दोषा नश्यतिमोहेन सार्द्ध
ज्ञानादयो गुणा ॥
सवेगाद्याश्च वर्द्धते जायते भावनारुचि दानपूजातपोध्यानव्रतादि-
मोक्षवर्त्मसु ॥"

आदिपुराण, सर्ग १, श्लोक ३३-३४

उक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि आचार्य की दृष्टि मे काव्य का प्रयोजन धर्म तत्त्व का प्रतिपादन करना है। क्योकि इससे पुण्यास्रव होता है। काव्य का धर्मतत्त्व ही समष्टि का मगल करने वाला होता है। अत काव्य के साथ धर्म का सबध अत्यत घनिष्ठ होना चाहिए। विना धर्म-तत्त्व के काव्य मे सौंदर्य नही आ सकता और उसके अभाव मे शिवत्व का भी अभाव हो जाता है। अत काव्य मे धर्म रूप तत्त्व का सपुट दिए विना उसके 'सत्य शिव सुन्दरम्' की कल्पना आकाश-पुष्प की भाति निराधार है। वस्तुत धर्म कथा ही काव्य का प्राण है जो स्वर्मुक्ति प्रदान करती है।[1] इसके विपरीत कुकथा होती है, जिसके श्रवण से राग उत्पन्न होता है एव विरक्ति के भाव नष्ट हो जाते हैं। फलत आर्त्त एव रौद्र-ध्यान से व्यक्ति नाना पापो का बध करता है।[2] उसका चित्त पाप-प्रवाह-पूर मे डूबकर पथ-भ्रष्ट हो जाता है। यही बात अन्यत्र भी कही गयी है

"चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी वहति कल्याणाय, वहति पापायच।"

कथानक

आ० सकलकीर्ति ने अपने चरितकाव्यो का कथानक जैन-परपरा मे अतिप्रसिद्ध तीर्थंकरो एव महापुरुषो के चरित से सबद्ध किया है। उन्होंने पुराणसारसग्रह मे सभी तीर्थंकरो एव शलाका-पुरुषो के चरित का सार सगृहीत कर दिया है। यह ग्रथ एक प्रकार से समस्त जैन-महापुरुषो के जीवन-चरित के ज्ञान के लिए गाइड का काम करता है। उनके भगवान् ऋषभदेव, शातिनाथ, मल्लिनाथ, नेमिजिन, पार्श्वनाथ और वर्द्धमान इन छह तीर्थंकरो के तथा धन्यकुमार, सुदर्शन, सुकुमाल, यशोधर, श्रीपाल और जबू—इन छह महापुरुषो के स्वतत्र चरितकाव्य सस्कृत-साहित्य की श्रीवृद्धि मे पर्याप्त योगदान दे रहे हैं। किन्तु दुर्भाग्य से अभी तक शातिनाथपुराण, वर्द्धमानचरित, धन्यकुमारचरित एव सुकुमालचरित के अति-

१ यस्याव्रजन्ति निर्वाण यतमस्तपसा बलात्। नाककेचिच्च साज्ञेयाकथा स्वर्मुक्तिदायिनी।"
—भ० सकलकीर्ति, आदिपुराण, सर्ग १, श्लोक ५६

२ वही, सर्ग १, श्लोक ६५-६७।

रिक्त शेष सभी चरितकाव्य अप्रकाशित हैं। प्रकाशित काव्यों में भी मूल (संस्कृत) का पता नहीं और जो मूलयुक्त काव्य प्रकाशित भी हुए थे तो आज अप्राप्य हैं, मात्र हिंदी अनुवाद भी सुलभ नहीं। जैन-कवियों के साथ यह अन्याय सुधी सहृदयों के लिए चिंता का विषय है।

विषय-सामग्री

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, सकलकीर्ति के काव्यों में महापुरुषों की संवेग उत्पन्न करने वाली धर्म-कथाओं का प्ररूपण है जिनमें धार्मिक तत्त्वों का समावेश भरपूर है। किंतु इन तत्त्वों के महत्त्व को सिद्ध करने वाली अन्यान्य कथाओं, लोक-विश्वासों, कथानक-रूढियों आदि का निरूपण कर काव्य में सरसता एवं जिज्ञासा का मणिकांचन योग हुआ है। संक्षेप में इनका किंचित् विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

जैन धर्म

जीव कर्म-मलों से युक्त होता है। सोना भी खान में धूल तथा कांचनत्व से युक्त होता है। किंतु उसे साफ करने पर उसका कांचन स्वरूप उद्भासित हो जाता है। ठीक उसी प्रकार जीवन के अधर्मरूप कर्म-मैल को दूर कर धर्मरूप जीवत्व को उद्भासित करना ही जैन-धर्म का प्रधान कार्य है। जीव मुख्यतः हिंसा, असत्य, स्तेय, परिग्रह और अब्रह्मचर्य रूप अधर्म से ग्रस्त है जिसे दूर किए बिना मुक्ति या मोक्ष अथवा शाश्वत सुख की उपलब्धि संभव नहीं। इन पंचविध मैल के आंशिक परित्याग को अणुव्रत कहते हैं जिनका पालन गृहस्थ के लिए आवश्यक है। इन व्रतों के गुणों की वृद्धि जिनसे होती है उन्हें गुणव्रत कहते हैं। ये संख्या में तीन हैं दिग्व्रत, देशव्रत और अनर्थदण्ड। गुणव्रतों के अतिरिक्त चार शिक्षाव्रतों का भी गृहस्थ के जीवन में बहुत अधिक महत्त्व बतलाया गया है। क्योंकि इनसे गृहस्थ के धार्मिक जीवन का शिक्षण व अभ्यास होता है। ये संख्या में चार बतलाए गए हैं सामायिक, पोषधोपवास, भोगोपभोग परिमाण तथा अतिथिसंविभाग।[1] इसी प्रकार यति (श्रमण) धर्म का विवेचन करते हुए कवि ने उसे मुक्तिप्रद कहा है

> "सम्यग्दर्शनसंशुद्धो धर्मः स्वर्गसुखप्रदः।
> क्रमान्मुक्तिप्रदश्चैकादश सत्प्रतिमायुतः।
> महाव्रतसमित्यादिगुप्तित्रितयभूषितः॥
> यतिधर्मोऽस्ति निष्पापो मुक्तिदानैकपंडितः॥[2]

१ भ० सकलकीर्ति, शांतिनाथचरित, अधि० २, श्लोक ४४-४५।

२ वही, अधि० २, श्लोक ४६-४७।

अत्याचार का विस्तृत एव सूक्ष्म विवेचन उनके मूलाचार-प्रदीप मे हुआ है।

जैन दर्शन

दर्शन का अर्थ है दृष्टि विशेष अर्थात् विचार या चिंतन। जैन दर्शन के विचार या चिंतन का सार स्याद्वाद है। स्याद्वाद को समझने के पूर्व तत्त्वज्ञान आवश्यक है। ये तत्त्व है

"जीवाजीवास्रुवा वध सवरो निर्जरा मोक्षः।
इति सप्तैव तत्त्वानि प्रोक्तानि श्री जिनेशिना।।"

भ० सकलकीर्ति, मल्लिनाथपुराण, परिच्छेद ७, श्लोक २२

जीव चैतन्य लक्षण है। अजीव मे चैतन्य का अभाव होता है। अजीव तत्त्व पाच प्रकार का होता है पुद्गल (Matter), धर्म, अधर्म, आकाश और काल। पुण्य और पाप के आगमद्वार को आस्रव कहते हैं। आत्मा मे कर्म परमाणुओ के प्रवेश को वध कहते हैं। पुण्यपापागमद्वारभूत आस्रव को रोक देना सवर कहलाता है। कर्मों के एक भाग का क्षय निर्जरा एव कृत्स्न कर्मों के क्षय को मोक्ष कहते हैं। इन सवका विस्तृत विवेचन सकलकीर्ति के ग्रथो मे यत्र-तत्र उपलब्ध होता है।[1]

भावपक्ष

कवि की चेतना का सवध रागात्मक होता है। उसकी अत सलिला काव्य-रूप मे प्रवाहित होकर अनेक भव्य-जीवो के कर्म-मलो का प्रक्षालन कर देती है। काव्यात्मा का शाश्वत प्रदीप प्रत्येक अध्येता का मार्गदर्शन करता है। शारीरिक वुभुक्षा की शाति तो भोजनादि से हो जाती है किंतु हृदय की भूख-भाव-पदार्थों के साध्यवसायित होने पर ही वुझती है। सत्काव्य सहृदय का सात्विक भोजन है। सात्विक भाव सत्कवि का सच्चा लक्षण है। जितना वडा महाकवि होता है वह समष्टि के साथ उतना ही एकरस हो जाता है। सकलकीर्ति ऐसे ही महाकवि थे जिनकी अतश्चेतना चराचर सृष्टि के मगल की उत्कट अभिलाषा से तरगायित थी। फलत अनेक लोक-मगलकारी काव्यो की सृष्टि हुई।

इनके समस्त काव्यो मे शात रस विराजमान है। यह शातरस की पुण्य सलिला इस कलि-युग की घोर अशाति को वहा ले जाने मे सुतरा समर्थ है। आवश्यकता है इसके रस-पान करने की। एक वार चसका लग जाए तो आजीवन उसका अमिट प्रभाव पडे विना नहीं रह सकता। इसीलिए कवि ने केवल काव्य-सृजन मे अपने जीवन की इतिश्री नही समझी, अन्यान्य काव्यो के अध्ययन, प्रचार-प्रसार एव सरक्षण के भी अनेक उपाय किए।

१ दे० शातिनाथपुराण, परिच्छेद ८।

सकलकीर्ति के सभी काव्यों में करुणा, दया, त्याग, प्रेम, शांति एवं लोक-मंगल का आदर्श सन्निहित है। उनके काव्यों में अर्थ और काम रूप पुरुषार्थद्वय का भी यथा-स्थान विवेचन किया गया है किन्तु अर्थ और काम धर्म से नियमित होने चाहिए। दूसरे शब्दों में धर्म से अनुप्राणित अर्थ और काम का उपभोग लोक-मंगलकारी होता है। अपरिग्रहवाद एवं ब्रह्मचर्य-अणुव्रत इसी बात के द्योतक हैं। वस्तुतः धर्म ही हेयोपादेय का ज्ञान कराता है। अतः काव्य में इसका प्राधान्य नितांत आवश्यक है। वक्रोक्तिजीवितकार[1], काव्यप्रकाशकार[2] आदि साहित्यशास्त्रियों ने भी काव्य में धर्म-पुरुषार्थ की आवश्यकता पर बल दिया है।

कवि ने अनेक सुन्दर पात्रों की सृष्टि की है। ये पात्र यथार्थ से आदर्श की ओर प्रयाण करने वाले हैं। कुछ खल-पात्र भी अपनी वैयक्तिक विशेषताएं लेकर काव्य-रंगमंच पर आ धमकते हैं। इस प्रकार सारे काव्यगुणों एवं दुर्गुणों के संघर्ष को बतलाकर गुणों की दुर्गुणों पर विजय का सिंहनाद करते प्रतीत होते हैं। राजपुर के राजा मारिदत्त दाता, भोक्ता, कला-मर्मज्ञ एवं चक्रवर्ती सम्राट् हैं

"दाता भोक्ता कलायुक्तो लक्षणान्वितनविग्रह ।
वहुसपत्परीवारो धीर - सामंत - सेवित ॥"

भ० सकलकीर्ति, यशोधरचरित, सर्ग १, श्लोक ३०

इसी प्रकार अवन्ती के राजा कीर्त्यौघ का निर्मल चरित्र भी अनुकरणीय है

"त्यागीभोगीव्रती दक्षो नीतिमार्गविशारद ।
दृगादिसद्गुणोपेतो जिनभक्तो दयार्द्रधी ॥"

वही, सर्ग २, श्लोक २४

किन्तु दुष्ट भैरवानंद समस्त दुर्गुणों एवं आडम्बरों की साक्षात्मूर्ति है

धर्मविवेकादिहीनस्तादृक्जनान्वितः ।
स्वेच्छाचारयुतो दुष्ट सदाक्षसुखलोलुप. ॥
जटाजूटशिरोदण्डकरश्चर्मास्थिभस्मभि ।
भूपितो याति रौद्रात्मा विषयासक्तधी शठ ॥
कापालिको दयाहीनो भैरवानंदनामभाक् ।
आडम्बरयुतस्तस्मिन् पुरे यातिग आगत ॥

वही, सर्ग १, श्लोक ३१, ३२, ३४

प्रकृतिचित्रण से काव्य का बहुत घनिष्ठ संबंध होता है। कोई भी कवि प्रकृति की प्रेरणा के बिना काव्य-निर्माण नहीं कर सकता। प्रकृति का मनुष्य की अंत.-

१ धर्मादिसाधनोपाय सुकुमारक्रमोदित । काव्यबन्धो भिजातानां हृदयाह्लादकारक ॥
वक्रोक्तिजीवितम्

२ 'काव्य शिवेतरक्षतये' इत्यादि ।

प्रकृति से रागात्मक सवध होता है। कवि के काव्यो मे मानव-प्रकृति का चित्रण वहुत ही सुन्दर हुआ है। जड-प्रकृति के चित्रण का भी अभाव नही है। कही इसका भयावह तो कही सुकोमल स्वरूप का चित्रण कर कवि ने काव्य-प्रभाव की अन्विति का सफलतापूर्वक निर्वाह किया है। किंचित् दिग्दर्शन के लिए एक-एक उदाहरण प्रस्तुत किया जाता है

"अथास्ति विध्यनामागिरिस्तुगोऽतिभयकर।
माशाशिभिव्याघ्रादिभिव्याधैश्च हिंसकै ॥" इत्यादि।

वही, सर्ग ५, श्लोक २

"अथ सिप्रानदी रम्या विशालाऽमलसजला।
विशालाशाललग्नाऽस्ति सपद्मा सिकतान्विता ॥"

वही, सर्ग ५, श्लोक ४३

कलापक्ष

सकलकीर्ति का सस्कृत-भाषा पर अपूर्व अधिकार है। भाषा मे प्रवाह एव प्रभविष्णुता है। शैली कही अलकृत तो कही अनलकृत है। अलकारो का उपयोग भी विषय की स्पष्टता के लिए ही हुआ है। अत अनुप्रास को छोडकर शेष सभी शब्दालकारो का अभाव दृष्टिगत होता है। अर्थालकारो मे भी रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास आदि का प्राधान्य है। रूपक का एक उदाहरण सहृदयो के आस्वादनार्थ दिया जा रहा है

"ज्ञानजाल पर ज्ञेय पचाक्षमत्स्यवधने।
ज्ञानसिहो भवत्येव कामदतिविधातने।
ज्ञानपाशो दृढो नृणा मनोमर्कटरुधने।
ज्ञानमादित्य एवाखिलाज्ञानध्वातनाशने ॥"

मल्लिनाथपुराण, परि० १, श्लोक ७१-७२

उनका गद्य भी प्रौढ किंतु प्रासादिक शैली मे है। समस्त पदो का प्राय अभाव है। स्वाभाविक रूप से जो समास वन जाता है उसी का प्रयोग किया गया है। यथा "इति जिनप्रणीत तत्वमजानाना कर्म्मश्रृखलावृत्तास्तीव्रतर दु ख भुजाना प्राणिनो दुरन्ते संसार-कान्तारे प्रत्यह भ्रमन्ति। अतो दुःखभयभीतै शर्मकाक्षिभि. सम्यक्त्व-सयमादिभिर्मिथ्यासयमादीनाहत्य मुक्तिसाधने प्रयत्न कर्त्तव्य ।"

— उत्तरपुराण, पत्र स० २७

कही-कही शब्द चयन की अदक्षता से अनुचित अर्थ की ध्वनि भी सहृदयो को सुनाई पड जाती है जिसे भाषागत दोष कह सकते है।

यथा— "एकादा तेन सदृष्टो मार्गभ्रष्टो यतीश्वरः।
पुण्यात् सागरसेनाख्य पथि सञ्चमता वने॥"

शांति, अधि० २, श्लोक २०१

यहां 'मार्गभ्रष्ट' शब्द यद्यपि रास्ता भूले हुए यती के लिए प्रयुक्त हुआ है किन्तु इस शब्द से एक दूसरा अर्थ 'बुरे मार्ग का आचरण करने वाला' भी प्रतीत हो जाता है जो ठीक नहीं।

चरित-काव्यों के माध्यम से कवि ने जन-मानस तक जैन-धर्म एव संस्कृति के स्वरूप को हृदयगम कराने का सफल प्रयास किया है। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए संस्कृत भाषा का आश्रय लिया गया। अत भाषा के सरलतम स्वरूप को अपनाकर कवि ने जहा संस्कृत को पुन प्रतिष्ठित किया वहा चरितकाव्यों की क्षीण-धारा को पुन मधुर रस से भर दिया। धर्म, चरित्र, पुण्य, पाप, काम, वीतराग, निर्ग्रंथ, गुरुसेवा, तप, द्वेष, राग, क्रोध, मान, माया, लोभ, संगति, जिनपूजा, पात्रदान, कुपात्रदान, भावना, रात्रिभोजन, गृहत्याग, भोग, धैर्य, शोक, स्नान, देह-नैर्मल्य, व्रतभग, समाधिमरण, आशा, परिवार कर्म, महामत्र, धर्मोपदेश, एकत्वविवेक, द्यूत, सप्तव्यसन, नारी, ज्ञान, सम्यक्त्व, मिथ्यात्व आदि अनेकानेक विषयों का श्रमण संस्कृति के व्यापक परिवेश में विशद विवेचन भ० सकलकीर्ति के चरित-काव्यों की प्रमुख विशेषता है। इस क्षेत्र मे संस्कृत-साहित्य में इनका योगदान अविस्मरणीय है।

ग्रन्थों की सुरक्षा में राजस्थान के जैनों का योगदान

डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल

सारे देश मे हस्तलिखित ग्रंथो का अपूर्व सग्रह मिलता है। उत्तर से दक्षिण तक तथा पूर्व से पश्चिम तक सभी प्रातो मे हस्तलिखित ग्रथो के भडार स्थापित है। इनमे सरकारी क्षेत्रो मे पूना का भडारकर-ओरियटल इस्टीट्यूट, तजोर की सरस्वती महल लायब्रेरी, मद्रास विश्वविद्यालय की ओरियटल मेनास्क्रप्टस लायब्रेरी, कलकत्ता की वगाल एशियाटिक सोसाइटी का नाम विशेप रूप से उल्लेखनीय है। सामाजिक क्षेत्र मे अहमदावाद का एल० डी० इस्टीट्यूट, जैन सिद्धात भवन आरा, पन्नालाल सरस्वती भवन ववई, जैन शास्त्र भडार कारजा, लिम्वीडी, सूरत, आगरा, दिल्ली आदि के नाम लिये जा सकते हैं। इस प्रकार सारे देश मे इन शास्त्र भडारो की स्थापना की हुई है। जो साहित्य-सरक्षण एव सकलन का एक अनोखा उदाहरण है।

लेकिन हस्तलिखित ग्रथो के सग्रह की दृष्टि से राजस्थान का स्थान सर्वोपरि है। मुस्लिम शासनकाल मे यहा के राजा-महाराजाओ ने अपने-अपने निजी सग्रहालयो मे हजारो ग्रथो का सग्रह किया और उन्हे मुसलमानो के आक्रमण से अथवा दीमक एव सीलन से नष्ट होने से वचाया। स्वतत्रता-प्राप्ति के पश्चात् राजस्थान सरकार ने जोधपुर मे जिस प्राच्यविद्या शोध प्रतिष्ठान की स्थापना की थी उसमे एक लाख से अधिक ग्रथो का सग्रह हो चुका है जो एक अत्यधिक सराहनीय कार्य है। इसी तरह जयपुर, वीकानेर, अलवर जैसे कुछ भूतपूर्व शासको के निजी सग्रह मे भी हस्तलिखित ग्रथो का महत्वपूर्ण सग्रह है जिनमे सस्कृत ग्रथो की सर्वाधिक सख्या है। लेकिन इन सवके अतिरिक्त राजस्थान मे जैन ग्रथ भडारो की सख्या सर्वाधिक है और उनमे सगृहीत ग्रथो की सख्या तीन लाख से कम नही है।

राजस्थान मे जैन समाज पूर्ण शातिप्रिय एव प्रभावक समाज रहा। इस प्रदेश की अधिकाश रियासतें जयपुर, जोधपुर, वीकानेर, जैसलमेर, उदयपुर, वूदी, डूगरपुर, अलवर, भरतपुर, कोटा, झालावाड, सिरोही मे जैनो की घनी आवादी

रही। यही नही, शताब्दियों तक जैनो का इन स्टेट्स की शासन व्यवस्था में पूर्ण प्रभुत्व रहा तथा वे शासन के सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित रहे। और इसी कारण साहित्य-संग्रह के अतिरिक्त राजस्थान जैन पुरातत्व एव कला की दृष्टि से भी उल्लेखनीय प्रदेश रहा।

ग्रथो की सुरक्षा

ग्रथो की सुरक्षा एव सग्रह की दृष्टि से राजस्थान के जैनाचार्यो, साधुओं, यतियो एव श्रावको का प्रयास विशेष उल्लेखनीय है। प्राचीन ग्रथो की सुरक्षा एवं नये ग्रथो के सग्रह मे जितना ध्यान जैन समाज ने दिया उतना अन्य समाज नही दे सका। ग्रथो की सुरक्षा मे उन्होंने अपना पूर्ण जीवन लगा दिया और किसी भी विपत्ति अथवा सकट के समय ग्रथो की सुरक्षा को प्रमुख स्थान दिया। जैसलमेर, जयपुर, नागौर, बीकानेर, उदयपुर एव अजमेर मे जैसे महत्वपूर्ण ग्रथ भडार हैं वे सारे देश मे अद्वितीय हैं तथा जिनमे प्राचीनतम पांडुलिपियो का सग्रह है। इन शास्त्र भडारो मे ताडपत्र एव कागज पर लिखी हुई प्राचीनतम पाडुलिपियों का सग्रह मिलता है। सस्कृत भाषा के काव्य, चरित, नाटक, पुराण, कथा एव अन्य विषयो के ग्रथ ही इन भडारो मे सगृहीत नही हैं किन्तु प्राकृत तथा अपभ्रश भाषा के अधिकाश ग्रथ एव हिंदी-राजस्थानी का विशाल साहित्य इन्ही भडारो मे उपलब्ध होता है। यही नही कुछ ग्रथ तो ऐसे हैं जो इन्हीं भडारो मे उपलब्ध होते हैं, अन्यत्र नही।

लिपिकर्ता

ग्रंथ भडारो मे बडे-बड़े पडित लिपिकर्ता होते थे जो प्राय ग्रथो की प्रतिलिपियां किया करते थे। जैन भट्टारको के मुख्यालयों पर ग्रंथ-लेखन का कार्य अधिक होता था। आमेर, नागौर, अजमेर, सागवाड़ा, जयपुर, कामा आदि नगरो के नाम विशेष रूप मे उल्लेखनीय हैं। ग्रथ लिखने मे काफी परिश्रम करना पडता था। पीठ झुके हुए कमर एव गर्दन नीचे किये हुए, आखें झुकाये हुए कष्टपूर्वक ग्रंथो को लिखना पडता था। इसलिए कभी-कभी प्रतिलिपिकार ग्रथ-समाप्ति के पश्चात निम्न श्लोक लिख दिया करते थे जिससे पाठक ग्रंथ का स्वाध्याय करते समय अत्यधिक सावधानी रखे।

भग्न पृष्ठि कटि ग्रीवा वक्रदृष्टिरधोमुखम् ॥
कष्टेनलिखित शास्त्रं यत्नेन परिपालयेत् ॥१॥
बद्ध मुष्टि कटि ग्रीवा मद दृष्टिरधोमुखम ॥
कष्टेनलिखित शास्त्रं यत्नेन परि पालयेत ॥२॥

लघु दीर्घ पद हीण वजण हीण लखाणुहुई।
अजाण पणई मूढ पणह पडत हुई ते करि भणज्यो।

राजस्थान के जैन शास्त्र भडार प्राचीनतम पाडुलिपियो के लिए प्रमुख केंद्र हैं। जैसलमेर के जैन शास्त्र भडार मे सभी ग्रथ ताडपत्र पर है जिनमे सम्वत् १११७ मे लिखा हुआ ओघ नियुक्ति वृत्ति सबसे प्राचीनतम ग्रथ है।[1] इसी भडार मे उद्योतन सूरि की कृति कुवलयमाला की पाडुलिपि सन् १०८२ की उपलब्ध है।[2]

राजस्थान के जैन शास्त्र भडारो मे यद्यपि ताडपत्र एव कागज पर ही लिखे हुए तो अधिकाश ग्रंथ मिलते हैं लेकिन कुछ ग्रथ कपड़े एव ताम्रपत्र पर लिखे हुए भी मिलते हैं। जयपुर के एक शास्त्र भडार मे कपडे पर लिखे हुए प्रतिष्ठा-पाठ की प्रति उपलब्ध हुई है जो सत्रहवी शताब्दी की लिखी हुई है और अभी तक पूर्णत सुरक्षित है। इन भडारो मे कपडो पर लिखे हुए चित्र भी उपलब्ध होते हैं जिनमे चार्ट्स के द्वारा विषय का प्रतिपादन किया गया है। प्राय प्रत्येक मन्दिर मे ताम्रपत्र एव सप्तधातुपत्र भी उपलब्ध होते हैं। प्रत्येक कर्ता ग्रथो की प्रतिलिपि भी नही कर सकते थे। इनकी योग्यताए अलग होती थी।

इन भडारो मे ग्रथ-लेखक के गुणो का भी वर्णन मिलता है जिसके अनुसार इसमे निम्न गुण होने चाहिए

सर्वदेशाक्षराभिज्ञ सर्वभाषा विशारद ।
लेखक कथितो राज्ञ: सर्वाधिकरणेषु वै ।
मेधावी वाक्पटु धीरो लघुहस्तो जितेन्द्रिय:।
परशास्त्र परिज्ञाता, एव लेखक उच्येत ॥

ग्रथ लिखने मे किस-किस स्याही का प्रयोग किया जाना चाहिए इसकी भी पूरी सावधानी रखी जाती थी, जिसमे अक्षर खराब नही हो, स्याही नही फूटे तथा कागज एक-दूसरे के नही चिपके। ताड़पत्रो के लिखने मे जो स्याही काम मे ली जाती थी उसका वर्णन देखिए

सहवर-भृग त्रिफाला, कासीस लोहमेव नीली ।
समकज्जल वोलयुता, भवति मषी ताडपत्राना ॥

प्राचीनतम पाडुलिपिया

इन जैन लिपिकारो एव सन्तो के अथक परिश्रम का ही फल है कि राजस्थान के ग्रथ भडारो मे अनेक प्राचीन पाडुलिपिया उपलब्ध हैं। उनमे से कुछेक उल्लेखनीय है। महाकवि दडी के काव्यादर्श की पाडुलिपि सन् ११०४ की उपलब्ध

१ सम्वत् १११७ मगल महाश्री ॥छ॥ पहिलेन लिखित मगल महाश्री ॥छ॥
२ सम्वत् ११३६ फाल्गुन वदि १ रवि दिने लिखितमिद पुस्तकमिति ॥

है, जो इस ग्रंथ की अब तक उपलब्ध ग्रंथों में सबसे प्राचीन है।[1] जैसलमेर के ग्रन्थ भंडार में और भी ग्रंथों की प्राचीनतम पाडुलिपियां हैं जिनके नाम निम्न प्रकार हैं—अभयदेवाचार्य की विपाकसूत्र वृत्ति (सन् ११२८), जयकीर्ति सूरि का छन्दोनुशासन (सन् ११३५) अभयदेवाचार्य की भगवतीसूत्र वृत्ति (सन् ११३८) इत्यादि।

विमलसूरि द्वारा विरचित पउमचरिय की सन् ११४१ में लिखित प्राचीन पाडुलिपि भी इसी भंडार में संगृहीत है।[2] यह पाडुलिपि महाराजाधिराज श्री जयसिंह देव के शासनकाल में लिखी गयी थी। वर्द्धमानसूरि की व्याख्या सहित उपदेशपदकरण की पाडुलिपि, जिसका लेखन अजमेर में सम्वत् १२१२ में हुआ था, इसी भंडार में संगृहीत है।

चंद्रप्रभस्वामीचरित (यशोदेव सूरि) की भी प्राचीनतम पाडुलिपि इसी भंडार में सुरक्षित है, जिसका लेखनकाल सन् ११६० है तथा जो ब्राह्मणगच्छ के प० अभयकुमार द्वारा लिपिबद्ध की गयी थी।[3] इसी तरह भगवती सूत्र (संवत् १२३१), लिपिकर्ता धणचन्द्र, व्यवहारसूत्र (सम्वत् १२३६) लिपिकर्ता जिनवल्लभ, महावीरचरित (गुणचन्द्र सूरि सम्वत् १२४७) तथा भवभावनाप्रकरण (मलधारि हेमचन्द्र सूरि सम्वत १२६०) की भी प्राचीनतम प्रतियां इसी भंडार में संगृहीत हैं। ताड़पत्र के समान कागज पर उपलब्ध होने वाले ग्रंथों में भी इन भंडारों में प्राचीनतम पाडुलिपियां उपलब्ध होती हैं, जिनका संरक्षण अत्यधिक सावधानीपूर्वक किया गया है। नये मंदिरों में स्थानान्तरित होने पर भी जिनको सम्हालकर रखा गया तथा दीमक, सीलन आदि से बचाया गया। इस दृष्टि से मध्ययुग में होने वाले भट्टारकों का सर्वाधिक योगदान रहा।

जयपुर के दि० जैन तेरहपंथी बड़ा मंदिर के शास्त्र भंडार में समयसार की संवत १३२६ की पाडुलिपि है, जो दिल्ली में गयासुद्दीन बलबन के शासनकाल में लिखी गयी थी। योगिनीपुर में, जो दिल्ली का पुराना नाम था, इसकी प्रतिलिपि की गयी थी।[4]

सन् १३३४ में लिखित महाकवि पुष्पदन्त के महापुराण के द्वितीय भाग उत्तरपुराण की एक पाडुलिपि आमेर शास्त्र भंडार, जयपुर में संगृहीत है। यह

१ सम्वत् ११६१ भाद्रपदे।
२ सम्वत् ११९८ कार्तिक वदि १३ ॥छ॥ महाराजाधिराज श्री जयसिंघ विजयदेवराज्ये भृगुकच्छ समवस्थितेन लिखितेयं सिल्लणेन ॥
३ सम्वत् १२१७ चैत्र वदि ६ बुधौ ॥छ॥ ब्राह्मणगच्छे प० अभयकुमारस्य।
४ सम्वत् १३२६ चैत्र सुदी दशम्यां बुधवासरे अद्येह योगिनीपुरे समस्तराजावलि समालंकृत श्रीगयासुद्दीनराज्ये अत्रस्थित अग्रोतकपरमश्रावक जिनचरनकमल ।

पाडुलिपि भी योगिनीपुर मे मोहम्मद शाह तुगलक के शासनकाल मे लिखी गयी थी। इनकी प्रशस्ति निम्न प्रकार है

संवत्सरेस्मिन् श्री विक्रमादित्य-गताब्दा सम्वत् १३६१ वर्षे ज्येष्ठ बुदि ६ गुरुवासरे अद्येह श्री योगिनीपुरे समस्तराजावलि शिरोमुकट माणिक्य खचित नखरश्मी सुरत्ताण श्री मुहम्मद साहि नाम्नी महो विभ्रति सति अस्मिन राज्ये योगिनी पुरस्थित। ।

जैनेतर ग्रथो की सुरक्षा

यहा एक बात और विशेष ध्यान देने की है और वह यह है कि जैनाचार्यो एव श्रावको ने अपने शास्त्र भडारो मे ग्रथो की सुरक्षा मे जरा भी भेदभाव नही रखा। जिस प्रकार उन्होने जैन ग्रथो की सुरक्षा एव उनका सकलन किया उसी प्रकार जैनेतर ग्रथो की सुरक्षा एवं सकलन पर भी विशेष जोर दिया।

जैन विद्वानो ने अथक परिश्रम करके जैनेतर ग्रथो की प्रतिलिपिया या तो स्वय की अथवा अन्य विद्वानो से उनकी प्रतिलिपि करवायी। आज बहुत से तो ऐसे ग्रथ है जिनकी केवल जैन शास्त्र भडारो मे ही पाडुलिपिया मिलती है। इस दृष्टि से आमेर, जयपुर, नागोर, बीकानेर, जैसलमेर कोटा, बूदी एव अजमेर के जैन शास्त्र भडारो का अत्यधिक महत्व है। जैन विद्वानो ने जैनेतर ग्रथो की सुरक्षा ही नही की किंतु उन पर कृतिया, टीका एव भाष्य भी लिखे। उन्होने उनकी हिंदी मे टीकाए लिखी और उनके प्रचार-प्रसार मे अत्यधिक योग दिया। राजस्थान के इन जैन शास्त्र भडारो मे काव्य, कथा, व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिष, गणित विषयो पर सैकडो रचनाए उपलब्ध होती है। यही नही, स्मृति, उपनिषद एव संहिताओ का भी भडारो मे सग्रह मिलता है। जयपुर के पाटोदी के मदिर मे पाच सौ ऐसे ही ग्रथो का सग्रह किया हुआ उपलब्ध है।

मम्मट के काव्यप्रकाश की सम्वत् ११२५ की एक प्राचीनतम पाडुलिपि जैसलमेर के शास्त्र भडार मे सगृहीत है। यह प्रति शाकभरी के कुमारपाल के शासनकाल मे अणहिलपट्टन मे लिखी गयी थी। सोमेश्वर कवि की काव्यादर्श की सन् ११२६ की एक ताडपत्रीय पाडुलिपि भी यही के शास्त्र भडार मे सगृहीत है। कवि रुद्रट के काव्यालकार की इसी भडार मे सम्वत् १२०६ आषाढ वदी ५ की ताडपत्रीय पाडुलिपि उपलब्ध होती है। इस पर नमिसाधु की सस्कृत टीका है। इसी विद्वान् द्वारा लिखित टीका की एक प्रति जयपुर के आमेर शास्त्र भडार मे सगृहीत है। इसी तरह कुतक कवि का वक्रोक्तिजीवित, वामन कवि का काव्यालकार, राजशेखर कवि की काव्यमीमासा, उद्भट कवि का अलकारसग्रह आदि ग्रथो की प्राचीनतम पाडुलिपिया भी जैसलमेर, बीकानेर, जयपुर, अजमेर एव नागौर के शास्त्र-भडारो मे सगृहीत है।

कालिदास, माघ, भारवि, हर्ष, हलायुध एवं भट्टी जैसे संस्कृत के शीर्षस्थ कवियो के काव्यो की प्राचीनतम पाडुलिपिया भी राजस्थान के जैन शास्त्र भडारो मे सगृहीत हैं। यही नही इन भडारो मे कुछ काव्यो की एक से अधिक भी पाडुलिपिया हैं। किसी-किसी भडार मे तो यह सख्या २० तक भी पहुच गयी है। जैसलमेर के शास्त्र भडार मे कालिदास के रघुवश की चौदहवी शताब्दी की प्रति है। इन काव्यो पर गुणरत्न सूरि, चरित्रवर्द्धन, मल्लिनाथ, समयसुन्दर, धर्ममेरु, शातिविजय जैसे कवियो की टीकाओ का उत्तम सग्रह है। किरातार्जुनीय काव्य पर प्रकाश वर्ष की टीका की एकमात्र प्रति जयपुर के आमेर शास्त्र-भडार मे सगृहीत है। प्रकाश वर्ष ने लिखा है कि वह कश्मीर के हर्ष का सुपुत्र है।

उदयनाचार्य की किरणावली की एक प्रति टीका सहित आमेर शास्त्र भडार जयपुर मे उपलब्ध है। साख्य-सप्तति की पाडुलिपि भी इसी भडार मे सगृहीत है, जो सम्वत् १४२७ की है।[1] इसी ग्रथ की एक प्राचीन पाडुलिपि जिसमे भाष्य भी है, जैसलमेर के शास्त्र भडार मे उपलब्ध है और वह सम्वत् १२०० की ताडपत्रीय प्रति है। इसी भडार मे साख्य तत्त्व-कौमुदी (वाचस्पति मिश्र) तथा ईश्वरकृष्ण की साख्यकारिका की अन्य पाडुलिपिया भी उपलब्ध होती हैं।[2] पातजलयोग दर्शन भाष्य (वाचस्पित हर्ष मिश्र) की पाडुलिपि भी जैसलमेर के भडार मे सुरक्षित है। प्रशस्तपाद भाष्य की एक बारहवी शताब्दी की पाडुलिपि भी यही के भडार मे मिलती है।

अलकारशास्त्र के ग्रथो के अतिरिक्त कालिदास, मुरारी, विशाखदत्त एव भट्ट नारायण के सस्कृत नाटको की पाडुलिपिया भी राजस्थान के इन्ही भडारो मे उपलब्ध होती है। विशाखदत्त का मुद्राराक्षस नाटक, मुरारी कवि का अनर्घराघव, कृष्ण मिश्र का प्रबोधचन्द्रोदय नाटक, महाकवि सुबधु की वासवदत्ता आख्यायिका की ताडपत्रीय प्राचीन पाडुलिपिया जैसलमेर के भडार मे एवं कागज पर अन्य शास्त्र-भडारो मे सगृहीत हैं।

अपभ्रश साहित्य की सुरक्षा

अपभ्रश का अधिकाश साहित्य जयपुर, नागौर, अजमेर एव उदयपुर के शास्त्र-भडारो मे मिलता है। महाकवि स्वयम्भू के पउमचरिउ एव रिट्ठणेमिचरिउ की प्राचीनतम पाडुलिपिया जयपुर एव अजमेर के शास्त्र-भडारो मे सगृहीत हैं। पउमचरिउ की सस्कृत टीकायें भी इन्ही भडारो मे उपलब्ध हुई हैं। महाकवि पुष्पदन्त के महापुराण, जसहरचरिउ, णायकुमारचरिउ की प्रतिया भी इन्ही भडारो मे मिलती है। अब तक उपलब्ध पाडुलिपियो मे उत्तरपुराण की सम्वत्

१. देखिये—जैन ग्रथ भडार्स इन राजस्थान, पृ० २२०
२ वही।

१२६१ की पाडुलिपि सबसे प्राचीन है और वह जयपुर के ही एक भंडार मे संगृहीत है।[1] महाकवि नयनन्दि की सुदसणचरिउ की जितनी सख्या मे पाडुलिपिया जयपुर के शास्त्र-भडार मे सगृहीत हैं उतनी अन्यत्र कही नही मिलती। नयनन्दि ग्यारहवी शताब्दी के अपभ्रश के कवि थे। इनके एक अन्य ग्रथ सयलविहिविहाण काव्य की एकमात्र पाडुलिपि जयपुर के आमेर शास्त्र भडार मे सगृहीत है।[2] इसमे कवि ने अपने से पूर्व होने वाले कितने ही कवियो के नाम दिए हैं। इसी तरह शृगार एव वीर रस के महाकवि वीर का जम्बूसामिचरिउ भी राजस्थान मे अत्यधिक लोकप्रिय था और उनकी कितनी ही प्रतिया जयपुर एव आमेर के शास्त्र-भडारो मे उपलब्ध होती हैं। अपभ्रश मे सबसे अधिक चरितकाव्य लिखने वाले महाकवि रइधू के अधिकाश ग्रथ राजस्थान के जैन शास्त्र भडारो मे उपलब्ध हुए हैं।

अपभ्रश के अन्य कवियों मे महाकवि यश कीर्ति, पडित लखू, हरिषेण, श्रुतकीर्ति, पद्मकीर्ति, महाकवि श्रीधर, महाकवि सिंह, धनपाल, श्रीचन्द, जयमित्रहल, नरसेन, अमरकीर्ति, गणिदेवसेन, माणिक्कराज एव भगवतीदास जैसे पचासो कवियो की छोटी-बडी सैकडो रचनाए इन्ही भडारो मे सगृहीत हैं। अठारहवी शताब्दी मे होने वाले अपभ्रश के अन्तिम कवि भगवतीदास की कृति मृगाकलेखा चरित की पाडुलिपि भी आमेर शास्त्र भडार, जयपुर मे सगृहीत है। भगवतीदास हिंदी के अच्छे विद्वान थे, जिनकी बीस मे भी अधिक रचनाए उपलब्ध होती है।

राजस्थानी एव हिंदी के ग्रथ

सस्कृत, प्राकृत एव अपभ्रश के समान ही जैन ग्रथ भडारो में हिंदी एव राजस्थानी भाषा के ग्रथो की पूर्ण सुरक्षा की गयी। यही कारण है कि राजस्थान के इन ग्रथ भडारो मे हिन्दी एव राजस्थानी भाषा की दुर्लभ कृतिया उपलब्ध हुई हैं और भविष्य मे और भी होने की आशा है। हिंदी के बहुचर्चित ग्रथ पृथ्वीराज रासो की प्रतिया कोटा, बीकानेर एव चूरू के जैन भडारो मे उपलब्ध हुई हैं। इसी तरह बीसलदेवरासो की भी कितनी ही पाडुलिपिया अभयग्रथालय बीकानेर एव खरतरगच्छ जैन शास्त्र भडार कोटा मे उपलब्ध हो चुकी हैं। प्रसिद्ध राजस्थानी कृति कृष्ण-रुक्मणि वेलि पर जो टीकाए उपलब्ध हुई है वे भी प्राय सभी जैन भडारो मे सरक्षित हैं। इसी तरह बिहारी सतसई, रसिकप्रिया, जैतसीरासो, वैताल पच्चीसी, 'विल्हणचरित' चौपाई की प्रतिया राजस्थान के विभिन्न शास्त्र भडारो मे सगृहीत हैं। हिन्दी की अन्य रचनाओ मे राजसिंह कवि का जिनदत्त

१ देखिये प्रशस्ति सग्रह डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, पृ० ६२
२ वही, पृ० २८५

चरित (सम्वत् १३५४) साधारु कवि का प्रद्युम्नचरित (सम्वत् १४११) आदि ग्रथो की दुर्लभ पाडुलिपिया भी जयपुर के जैन शास्त्र भडारो मे सगृहीत है। ये दोनो ही कृतिया हिंदी के आदिकाल की कृतिया हैं, जिनके आधार पर हिंदी साहित्य के इतिहास की कितनी ही विलुप्त कडियो का पता लगाया जा सकता है। कवीर एव गोरखनाथ के अनुयायियो की रचनाए भी इन भडारो मे सगृहीत है जिनके गहन अध्ययन एव मनन की आवश्यकता है। मधुमालती कथा, सिंहासन वत्तीसी, माधवानल-प्रवधकथा की प्राचीनतम पाडुलिपिया भी राजस्थान के इन भडारो मे सगृहीत है।

वास्तव मे देखा जाए तो राजस्थान के जैन शास्त्र भडारो ने जितना हिंदी एव राजस्थानी ग्रथो को सुरक्षित रखा है उतने ग्रथो को अन्य कोई भी भंडार नही रख सके हैं। जैन कवियो की सैकडो गद्य पद्य रचनाए इनमे उपलब्ध होती है, जो काव्य, चरित, कथा, रास, वेलि, फागु, ढमाल, चौपई, दोहा, बारहखडी, विलास, गीत, सतसई, पच्चीसी, वत्तीसी, सतावीसी, पचासिका, शतक के नाम से उपलब्ध होती हैं।

तेरहवी शताब्दी से लेकर उन्नीसवी शताब्दी तक निवद्ध कृतियो का इन भडारो मे अम्बार लगा हुआ है जिनका अभी तक प्रकाशित होना तो दूर रहा, वे पूरे प्रकाश मे भी नही आ सके है। अकेले ब्रह्मजिनदास ने पचास से भी अधिक रचनायें लिखी हैं, जिनके सबध मे विद्वत् जगत अभी तक अन्धकार मे ही है। अभी हाल मे ही महाकवि दौलतराम की दो महत्त्वपूर्ण रचनाओ जीवधर स्वामी चरित एव विवेकविलास का प्रकाशन हुआ है। कवि ने १८ रचनायें लिखी है और वे एक से एक उच्चकोटि की है। दौलतराम अठारहवी शताब्दी के कवि थे और कुछ समय उदयपुर भी महाराणा जगतसिंह के दरबार मे रह चुके थे।[1]

कलात्मक कृतिया

पाडुलिपियो के अतिरिक्त इन जैन भडारो मे कलात्मक एव सचित्र कृतियो की भी सुरक्षा हुई है।[2] कल्पसूत्र की कितनी ही सचित्र पाडुलिपिया कला की उत्कृष्ट कृतिया स्वीकार की गयी हैं। कल्पसूत्र कालकाचार्य की एक ऐसी ही प्रति जैसलमेर के शास्त्र भडार मे सगृहीत है। कला-प्रेमियो ने इसे पन्द्रहवी शताब्दी की स्वीकार की है। आमेर शास्त्र भडार जयपुर मे एक आदिनाथ पुराण की सम्वत् १४६१ (सन् १४०४) की पाडुलिपि है। इसमे १६ स्वप्नो का जो चित्र

१ देखिये दौलतराम कासलीवाल—व्यक्तित्व एव कृतित्व
—डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल।
२ जैनग्रथ भडारास इन राजस्थान डॉ० के० सी० कासलीवाल।

आचार्य भद्रबाहु और हरिभद्र की अज्ञात रचनाएं

अगरचन्द नाहटा

जैन तीर्थंकरों ने प्रधानतया लोक-कल्याण का उपदेश दिया पर साथ ही तत्त्व-विज्ञान की बातें भी उनके प्रवचनों में आती रही हैं। जिनवाणी को गौतम आदि गणधरों ने सुनकर एक व्यवस्थित रूप दिया जिससे शिष्य-प्रशिष्यों को उनका पाठ दिया जा सके। इसीलिए कहा गया है कि 'अत्थंभासइअरहा, सुत्तंगुंथन्ति गणहरा निउणा।' भगवान् महावीर की वाणी को 'अर्द्धमागधी' भाषा कहा जाता है। अत. एकादशांग साहित्य अर्द्धमागधी प्राकृत में हैं। बारहवां दृष्टिवाद नामक अंग सूत्र काफी समय से विच्छेद है। उसके आधार से कुछ प्रकरण आदि ग्रंथ रचे गये वे प्राप्त हैं। १४ पूर्व नामक विशाल और विविध विषयक साहित्य इस दृष्टिवाद के अन्तर्गत ही था। दृष्टिवाद का जो विवरण समवायांग या अन्य नंदी सूत्र में मिलता है, इससे उसकी महानता और महत्त्वता भली-भांति सिद्ध होती है।

जिस दिन भगवान् महावीर का निर्वाण हुआ उसी रात्रि को उनके प्रथम गणधर 'इन्द्रभूति' गौतम को केवलज्ञान हुआ। अत पांचवें गणधर सुधर्मा स्वामी ही चतुर्विधसंघ का संचालन करने लगे। उन्होंने अपने प्रधान शिष्य जम्बू स्वामी को सम्बोधित करते हुए कहा है कि भगवान् महावीर ने मुझे अमुक अंग इस रूप में सुनाया यानी भगवान् महावीर ने मुझे जिस रूप में कहा, वही मैं तुम से कह रहा हूं। ११ अंग सूत्रों के अतिरिक्त उपांग आदि सूत्र समय-समय पर बनते रहे हैं पर उनमें केवल ४-५ सूत्रों के रचयिताओं के नाम ही हमें ज्ञात हैं, बाकी आगमों में उनके रचयिताओं का उल्लेख हमें नहीं मिलता। जंबू स्वामी अंतिम केवली थे। उन्होंने तथा उनके शिष्य प्रभव स्वामी ने कोई ग्रंथ नहीं बनाया। प्रभव के शिष्य शय्यंभवस्वामी ने दशवैकालिक सूत्र संकलित किया। उसके बाद ग्रंथकार के रूप में जो सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं, वे हैं अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी। छेद सूत्रों और कल्पसूत्र के निर्माता तो वे निर्विवाद रूप में माने जाते हैं, पर परंपरा के अनुसार १० आगमों की महत्त्वपूर्ण निर्युक्तियां भी उन्होंने ही बनायी, जिनमें से

कुछ अब प्राप्त नही है। निर्युक्ति नामक आगमों की व्याख्या सबसे पहले आचार्य भद्रबाहु ने ही की थी। वीर निर्वाण के १७० वर्ष बाद उनका स्वर्गवास हुआ।

कुछ विद्वानो की राय मे निर्युक्तिया परवर्ती द्वितीय भद्रबाहु के द्वारा रचित होनी चाहिए। पर वे कब और कौन हुए ? इस विषय मे कुछ निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। परवर्ती श्वेताम्बर ग्रथो मे एक भद्रबाहु का विवरण मिलता है, जो प्रसिद्ध ज्योतिषी वराहमिहिर के भाई थे। और उन्होने 'उवसग्गहर' स्तोत्र की रचना की है। वराहमिहिर रचित 'सहिता' ज्योतिष का प्राचीन और महत्व-पूर्ण ग्रथ है। उसमे जो रचनाकाल दिया हुआ है उसके अनुसार वराहमिहिर चौथी-पाचवी शताब्दी मे हुए थे। अत द्वितीय भद्रबाहु-परपरा के अनुसार वराहमिहिर के भाई होने से पाचवी शताब्दी के ही सिद्ध होते हैं। इन भद्रबाहु द्वारा वराहमिहर सहिता की तरह 'भद्रबाहुसहिता' नामक ग्रथ बनाने की प्रसिद्धि है।

'भद्रबाहुसहिता' प्राकृत भाषा मे रची गयी थी। यह अठारहवी शताब्दी के महान जैन विद्वान मेघविजय उपाध्याय रचित वर्ष प्रबोध-मेघमहोदय नामक ग्रथ मे उद्धृत प्राकृत गाथाओ से सिद्ध होता है। चातुर्मासि कुलक और तिथि-कुलक नामक रचना की उद्धृत गाथाए प्राकृत की ही हैं। पर मूल 'भद्रबाहु सहिता प्राकृत मे ही अभी तक पूर्ण रूप से कही प्राप्त नही हुई है। उनकी खोज की जानी चाहिए।

कुछ वर्ष पूर्व अजीमगज का एक ज्ञान-भडार कलकत्ते के जैन भवन मे आया। उसकी एक हस्तलिखित प्रति मे भद्रबाहुसहिता का अर्धकाड प्राकृत भाषा मे लिखा हुआ मिला। यह प्रति प्राचीन नही है। सवत् १८९५ की लिखी हुई है और उसमे अन्य रचनाए भी आगे-पीछे लिखी हुई हैं। अत यह सग्रह-प्रति है, जो पुरानी प्रतियो के आधार मे सकलित की गई लगती है। इसमे अर्धकाड की २० गाथाए है। उनमे से प्रारभ और अत की गाथाए नीचे दी जा रही हैं-

भद्रबाहु सहितायां अर्धकाडम्

आदि — नमिऊणतिलोअनाह पणमामि सव्वागमनिहि वीर।
वुच्छामि अग्घकाड जह कहिय जिणवरिंदेहि ॥१॥

अत — इय अग्घ कंडसार पुन्निम तिय रिक्ख सजोय।
काल पयार भणिओ जो जाणइ सव्व दसीओ ॥२०॥

इति पूर्णिमात्रिक नक्षत्र सयोगाना फलम्

मेघ विजय के मेघ महोदय से प्राप्त इन २० गाथाओ का मिलान करने से मालूम हुआ कि उनमे पाठ-भेद काफी है और उस ग्रथ मे वे एक जगह न होकर, कई स्थानो पर यथाप्रसग उद्धृत की हुई हैं।

'भद्रबाहु सहिता' नामक एक ज्योतिष ग्रथ सस्कृत मे भी प्राप्त है और वह

सिंघी जैन ग्रंथमाला से सम्वत् २००५ में प्रकाशित भी हो चुका है। इस संस्करण के किंचित् वक्तव्य में मुनि जिनविजयजी ने प्रस्तुत संस्कृत भाषा के भद्रबाहु संहिता के सम्बन्ध में लिखा है कि प्राप्त अंश २६ अध्यायों का है। इसका ग्रंथ परिमाण १५६४ श्लोकों का है। सम्वतों के उल्लेख वाली प्राप्त प्रति सम्वत् १५०४ की लिखी हुई है। दूसरी प्रति उसने कुछ पहले की है पर दोनों प्रतियां किसी ताड़पत्रीय प्रति की नकल-सी लगती हैं। अतः जिनविजयजी की राय में यह ग्रंथ करीब १००० वर्ष पुराना होना चाहिए। भद्रबाहु स्वामी ने स्वयं तो इसे नहीं रचा होगा, पर उनकी रचना के आधार से रचे जाने के कारण इस ग्रंथ का नाम 'भद्रबाहु संहिता' रख दिया प्रतीत होता है। इस ग्रंथ के प्रथम अध्याय में जो ग्रंथ की विषयसूची दी हुई है, उसके अनुसार तो इस ग्रंथ में ४० या ५० अध्याय होने चाहिए थे। अर्थात् प्राप्त २६ अध्याय वाला ग्रंथ अपूर्ण ही लगता है।

गत वर्ष भटनेर-हनुमानगढ के देवी मन्दिर से हमने बड़े ही प्रयत्नपूर्वक बड़गच्छ के प्राचीन ग्रंथ-संग्रह को प्राप्त किया तो उसमें भद्रबाहु रचित 'जन्म प्रदीप' नामक ग्रंथ की एक हस्तलिखित प्रति सम्वत् १७४४ की लिखी हुई प्राप्त हुई। इसमें १२ अध्याय हैं और अंत में भद्रबाहु संहिता का भी उल्लेख है। यह रचना अभी तक अप्रकाशित होने से इसके आदि और अन्त के श्लोक नीचे दिये जा रहे हैं

आदि प्रणिपत्य परमज्योतिस्तेजो जगतीतले तम समर्न

जन्म प्रदीप शास्त्र भावाधिप भेदतो वक्ष्ये ॥१॥

अन्त इति जिन धर्म धुरीण ख्यात श्रीभद्रबाहुआचार्य

कृतवान् जन्मविचार ज्योतिग्रन्थात् समूद्धत्य ॥१३॥

इतिश्री जैनाचार्य श्री भद्रबाहु स्वामिना विरचिते ग्रह चक्र बलाबले भुवन विचार द्वादशमोध्याय समाप्त।

इति श्रीभद्रबाहो संहिता मिथ्यात्वानदेया कदापिन् ॥

सम्वत १७४४ वर्षे फागुण वदि ३ गुरौ लिखितम मुनि रत्नसिहेन। श्रीबासणी कोट मध्ये।

यादृश पुस्तके दृष्ट, तादृश लिखितमय। यदि शुद्धमशुद्ध वा ममदोषोन दीयते ॥

बहुत खोज करने पर इस रचना की अन्य एक प्रति स्वर्गीय मुनि पुण्यविजयजी के संग्रह में होना ज्ञात हुआ है। वह प्रति भी इसी शताब्दी की है और अभी ला० द० भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद में सुरक्षित है।

आ० हरिभद्रसूरि की अज्ञात रचना

संस्कृत भाषा का प्रभाव जब बहुत बढ गया तो जैनाचार्यों को भी संस्कृत में ग्रंथ लिखना आवश्यक लगा। प्राप्त जैन संस्कृत साहित्य में संभवतः सबसे पहला ग्रंथ आचार्य उमास्वाति रचित तत्वार्थसूत्र है, जिसे दूसरी शताब्दी की रचना

माना जाता है। उनके बाद तो जीवनोपयोगी प्रत्येक विषय के ग्रथ जैनो द्वारा प्रचुर परिमाण मे रचे गये। इससे पहले की सभी जैन रचनाए प्राकृत भाषा की ही हैं।

आठवी शताब्दी के महान् जैनाचार्य हरिभद्र सूरि बहुत प्रसिद्ध ग्रथकार हैं, जिनकी रचनाओ की सख्या १४४४ बतलायी गयी है। उन्होने ही सर्वप्रथम जैन आगमो की सस्कृत टीकाए बनायी और दर्शन, न्याय, धर्म, ज्योतिष, कथा आदि अनेक विषयो की रचनाए बनायी हैं। योग सम्बन्धी आपकी रचनाए भी बडी महत्त्वपूर्ण हैं। इनकी रचनाओ की भाषा प्राकृत एव सस्कृत दोनो ही है। ये बडे समन्वयशील उदार विचार वाले विद्वान् थे। इनकी बहुत-सी रचनाए लुप्त हो गयी मालूम देती हैं। यद्यपि १४४४ की सख्या विचारणीय है, अभी तो इनकी रचनाए १०० मे भी कम सख्या मे प्राप्त हैं, जिनकी सूची प्रकाशित हो चुकी है। आपकी प्राय सभी उपलब्ध रचनाए छप भी चुकी है।

आचार्य हरिभद्र राजस्थान के ही महान् विद्वान् थे। वे चित्तौड के राजपुरोहित या पुरोहित-पुत्र बतलाये जाते है। उन्होने अपने 'धूर्तस्थान' नामक विशिष्ट और विनोद प्रधान ग्रथ की प्रशस्ति मे 'चित्तौड' का उल्लेख भी किया है। जैन याकिनी महत्तरा नामक साध्वी रत्न से आपको जैन धर्म मे दीक्षित होने की प्रेरणा मिली थी। अत आपने उनके महान् उपकार की स्मृति मे अपने ग्रथो की प्रशस्तियो मे अपने को 'याकिनी महत्तरा सूनु' बतलाया है।

श्वेताम्बर परपरा के अनुसार उनका समय छठी शताब्दी माना जाता था पर मुनि जिनविजयजी ने बडी खोजबीन के साथ इनका समय आठवी शताब्दी सिद्ध किया है। पडित सुखलालजी ने आचार्य हरिभद्र की महान देन के सम्बन्ध मे कई भाषण दिए तथा ग्रथ एव लेख लिखे है, जिनमे 'समदर्शी आचार्य हरिभद्र' नामक ग्रथ विशेष रूप मे द्रष्टव्य है।

मुनि जिनविजयजी ने चित्तौड मे 'हरिभद्र सूरि स्मृति मदिर' बनवाना प्रारभ किया था जिसे जिनदत्त सूरि सेवा सघ ने अपने हाथ मे लेकर पूरा बनवाया व गत वर्ष प्रतिष्ठा भी करवा दी है। इस हरिभद्र सूरि स्मृति मदिर मे याकिनी महत्तरा और हरिभद्र की बहुत ही सुन्दर मूर्तिया स्थापित की गई हैं। साथ ही आचार्य जिनवल्लभ सूरि, जिनदत्त सूरि आदि की मूर्तिया भी प्रतिष्ठित की गई हैं।

ऐसे महान् आचार्य की कुछ रचनाओ का उल्लेख सम्वत् १२९५ मे सुमतिगणि रचित गणधर साहर्द्ध शतक की बृहद् वृत्ति मे भी पाया जाता है। इनमे से कुछ अब अप्राप्त हो गयी है। हरिभद्र नाम के और भी कई आचार्य पीछे की शताब्दियो मे हो गये हैं और उनके भी कई ग्रथ प्राप्त हैं। पर जिन रचनाओ के अन्त मे 'याकिनी महत्तरा' के पुत्र रूप मे उल्लेख है वे तो सुप्रसिद्ध आठवी शताब्दी

के प्रथम हरिभद्र सूरि की रचना होना निश्चित हो जाता है।

गत वर्ष जो वडगच्छीय प्राचीन हस्तलिखित ग्रंथ-संग्रह को हमने अपने ग्रंथालय में विशेष प्रयत्नपूर्वक प्राप्त किया था उनमें आचार्य हरिभद्र का भी एक अज्ञात ग्रंथ भी प्राप्त हुआ। इससे हमें बड़ी ही प्रसन्नता हुई और उसी का संक्षिप्त विवरण यहां दिया जा रहा है।

इस ग्रंथ का नाम है 'उपसर्गहर स्तव प्रबंध'। १६५ संस्कृत श्लोकों वाली इस रचना की प्रति ६ पत्रों की है और सत्रहवीं शताब्दी की लिखी हुई है।

पहले जिन युगप्रधान आचार्य भद्रबाहु के उवसग्गहर स्तोत्र का उल्लेख किया गया है, उसी की व्याख्या या महात्मय की कथा के रूप में आचार्य हरिभद्र की प्रस्तुत प्राप्त रचना है। अभी तक इस रचना का कहीं भी उल्लेख किया गया, जानने में नहीं आया। अत. सर्वप्रथम इस अज्ञात और महत्त्वपूर्ण रचना का परिचय यहीं पाठकों को दिया जा रहा है। इस रचना के १०९वें श्लोक की एक पंक्ति प्रति के लेखक से लिखने में छूट गयी है अत संपादन के लिए मूल प्रति की आवश्यकता है ही।

'उवसग्गहर स्तव' भगवान् पार्श्वनाथ से सम्बन्धित प्राकृत भाषा में रची हुई पांच गाथाओं की रचना है। यद्यपि इस स्तोत्र की एक गाथा (छठी) रचयिता भद्रबाहु ने स्वयं भंडार अर्थात् गुप्त कर दी, ऐसा प्रवाद है। पर आचार्य हरिभद्र की इस रचना में तो पांच गाथाओं का ही उल्लेख है। प्रारम्भ, मध्य और अंत के कुछ श्लोक नीचे दिये जा रहे हैं

आदि

पयोधाविव सश्रीके पूरे विजय पूर्वके।
सूर वत्कमलोल्लासी नृप सूराङ्गदोऽभवत् ॥१॥
वीराङ्गद सुतस्तस्य महावीर शिरोमणि.।
सुमित्रो नाम तन्मित्र स्वदेह इव वल्लभ ॥२॥

मध्ये

पठत्व जगती स्वामिन्नुपसर्गहिर स्तवम्।
श्रीमत. पार्श्वनाथस्य सा भाणीदितिकोमरहम् ॥६७॥
उवसग्गहर पास, पास वंदामि कम्म
इत्यादि पंच गाथा यावत्
पार्श्वनाथ स्तव पाठेनोय शान्ते पावकाञ्चिपि।
उत्ततार नृपो रथ्य शीतल जल सिक्तवत् ॥६८॥

अन्त

युगप्रधान श्रीभद्रबाहु स्वामिना व्यन्तरस्तत ।
बोधितस्तेन लेप्येव कारिता प्रतिपार्हत ॥९३॥
इद च कथित स्तोत्र मुपसर्गहिराभिन्धम।
अद्यापि पञ्चतेशश्वत्प्रभावैक निबन्धम् ॥९४॥

जाकिनी धर्मपुत्रस्य श्रीहरिभद्र कृता · कथा।
उपसर्ग हरस्तोत्र व्याख्यान दय मुग्धे ॥६५॥
इतिश्री उपसर्गहरे स्तव प्रवन्ध समाप्त

आचार्य भद्रवाहु और हरिभद्र जैसे प्रसिद्ध और उल्लेखनीय ग्रंथकारो की भी वहुत-सी रचनाए अप्राप्त हो गयी हैं। कुछ का तो मध्यकालीन साहित्य मे उल्लेख भी मिलता है। किसी-किसी रचना का तो उद्धरण भी पाया जाता है। फिर भी उनकी प्रतिया प्राप्त नही होती। अभी तक वहुत से जैन ज्ञान भडार अज्ञात अवस्था मे पडे हैं। कई व्यक्तिगत आचार्यों, मुनियो आदि की देखरेख मे हैं। उनकी आज्ञा के विना उन्हे देखा नही जा सकता। ऐसे ज्ञान भडारो मे कई ऐसी प्रतिया भी मिल जाती हैं, जिनमे लिखे हुए ग्रथ अन्यत्र कही भी नही मिलते। अर्थात् कुछ रचनाओ की प्रतिलिपिया अधिक नही हुई। एक-दो ही प्रतिया वची रह गई। वे उन ग्रथ भडारो के अतिरिक्त कही मिलती नही। कई ग्रथ भडारो की विवरणात्मक सूचिया नही वनी। पुरानी ढंग की सूचिया ही मिलती हैं, जिनमे ग्रंथ का नाम और पत्र सख्या ही लिखी रहती है, रचयिता का नाम नही लिखा रहता। और एक ही नाम वाले ग्रथ कई ग्रथकारो के वनाये हुए पाये जाते हैं। अत अज्ञात ग्रथकार और उनकी रचनाओ का पता लगाना वहुत ही मुश्किल होता है।

जैन दर्शन में अहिंसा

•

डॉ० हुकुमचन्द भारिल्ल

'अहिंसा परमो धर्म' अहिंसा को परम धर्म घोषित करने वाली यह सूक्ति आज भी वहु प्रचलित है। यह तो एक स्वीकृत तथ्य है कि अहिंसा परम धर्म है, पर प्रश्न यह है कि अहिंसा क्या है? साधारण भाषा मे अहिंसा शब्द का अर्थ होता है हिंसा न करना। किंतु जब भी हिंसा-अहिंसा की चर्चा चलती है, तो हमारा ध्यान प्राय दूसरे जीवो को मारना, सताना, या उनकी रक्षा करना आदि की ओर ही जाता है। हिंसा-अहिंसा का सबध प्राय दूसरो से ही जोडा जाता है। दूसरो की हिंसा मत करो, वस यही अहिंसा है, ऐसा ही सर्वाधिक विश्वास है किंतु यह एकांगी दृष्टिकोण है। अपनी भी हिंसा होती है, इस ओर वहुत कम लोगो का ध्यान जाता है। जिनका जाता भी है तो वे भी आत्महिंसा का अर्थ केवल विष भक्षणादि द्वारा आत्मघात (आत्महत्या) ही मानते है। उसके अन्तर्तम तक पहुचने का प्रयत्न नही किया जाता है। अन्तर मे राग-द्वेष-मोह की उत्पत्ति होना भी हिंसा है यह वहुत कम लोग जानते हैं। प्रसिद्ध जैनाचार्य अमृतचद्र ने अतरग पक्ष को लक्ष्य मे रखते हुए हिंसा-अहिंसा की निम्नलिखित परिभाषाए दी हैं

"अप्रादुर्भावं खलु रागादीना भवत्यहिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिर्हिंसेति जिनागमस्य सक्षेप.॥"[1]

आत्मा मे राग-द्वेष-मोहादि भावो की उत्पत्ति होना ही हिंसा है और इन भावो का आत्मा मे उत्पन्न नहीं होना ही अहिंसा है। यही जिनागम का सार है।

उक्त श्लोक का अर्थ करते हुए आचार्यकल्प पडित टोडरमल ने लिखा है

"अपने शुद्धोपयोगरूप प्राण का घात रागादिक भावनि तैं होय है। तिसतै रागादिक भावनि का अभाव सोई अहिंसा है। आदि शब्द से द्वेष, मोह, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, शोक, जुगुप्सा, प्रमादादिक समस्त विभाव भाव जानने।"[2]

१ पुरुषार्थसिद्धयुपाय आचार्य अमृतचद्र, श्लोक ४४।
२ पुरुषार्थसिद्धयुपाय भाषाटीका, पृ० ३४

यहा एक स्वाभाविक प्रश्न यह उठता है कि क्या फिर जीवो का मरना-मारना हिंसा नही है और उनकी रक्षा करना अहिंसा नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर देने के पूर्व हमे जीवन और मरण के स्वरूप के विषय मे विचार करना होगा।

'मरणं प्रकृति शरीरिणा' की सूक्ति के अनुसार यह एक स्थापित सत्य है कि जो जन्म लेता है वह एक-न-एक दिन मरता अवश्य है। शरीरधारी अमर नही है। समय आने पर या तो वह दूसरे प्राणी द्वारा मार डाला जाता है या स्वय मर जाता है। अत यदि मृत्यु को हिंसा मानें तो कभी भी हिंसा की समाप्ति नही होगी तथा यदि मरने का नाम हिंसा हो तो जीने का नाम अहिंसा होगा। लोक मे भी यथासमय विना वाह्य कारण के होने वाली मृत्यु को हिंसा नही कहा जाता है और न सहज जीवन को अहिंसा ही। इसी प्रकार वाढ, भूकप आदि प्राकृतिक कारणो से भी हजारो प्राणी मर जाते हैं किंतु उसे भी हिंसा के अन्तर्गत नही लिया जाता है, अत मरना हिंसा और जीवन तो अहिंसा नही हुआ। जहा तक मारने और वचाने की वात है, उसके सवध मे आचार्य कुन्दकुन्द के निम्नलिखित कथनो की ओर ध्यान देना होगा।

"जो मण्णदि हिंसामि य हिंसिज्जामि य परेहि सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एतो दु विवरीदो ॥२४७॥
आउक्खयेण मरण जीवाणं जिणवरेहि पण्णत्त ।
आउ ण हरेसि तुम कह ते मरण कय तेसि ॥२४८॥
आउक्खयेण मरण जीवाणि जिणवरेहि पण्णत्त ।
आउ ण हरति तुह कह ते मरण कय तेहि ॥२४९॥
जो मण्णदि जीवेमि य जीविज्जामि य परेहि सत्तेहिं।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एतो दु विवरीदो ॥२५०॥
आऊदयेण जीवदि जीवो एव भणति सव्वण्हू ।
आउ च ण देसि तुम कह तए जीविय कय तेसि ॥२५१॥
आऊदयेण जीवदि जीवो एव भणति सव्वण्हू ।
आउ च ण दिति तुहं कह णु ते जीविय कय तेहि ॥२५२॥"[1]

जो यह मानता है कि मैं परजीवो को मारता हू और परजीव मुझे मारते हैं, वह मूढ है, अज्ञानी है और इससे विपरीत मानने वाला ज्ञानी है।

जीवो का मरण आयु कर्म के क्षय से होता है, ऐसा जिनेंद्रदेव ने कहा है। तुम परजीवो के आयुकर्म को तो हरते नही हो, फिर तुमने उनका मरण कैसे किया ?

जीवो का मरण आयुकर्म के क्षय से होता है, ऐसा जिनेंद्रदेव ने कहा है, परजीव तेरे आयुकर्म को तो हरते नही हैं तो उन्होने तेरा मरण कैसे किया ?

१. समयसार—आचार्य कुन्दकुन्द गाथा २४७-२५२

जो जीव यह मानता है कि मैं परजीवो को जिलाता (रक्षा करता) हू, और परजीव मुझे जिलाते (रक्षा करते) हैं वह मूढ है, अज्ञानी है। और इससे विपरीत मानने वाला ज्ञानी है।

जीव आयुकर्म के उदय से जीता है, ऐसा सर्वज्ञ देव ने कहा है। तुम परजीवो को आयुकर्म तो नही देते तो तुमने उनका जीवन (रक्षा) कैसे किया ?

जीव आयुकर्म के उदय से जीता है, ऐसा सर्वज्ञ देव कहते हैं। परजीव तुझे आयुकर्म तो देते नही है, तो उन्होंने तेरा जीवन (रक्षा) कैसे किया ?

उक्त कथन का निष्कर्ष देते हुए अन्त मे लिखते हैं

"जो मरइ जो य दुहिदो जायदि कम्मोदयेण सो सव्वो।
तम्हा दु मारिदो दे दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५७॥
जो ण मरदि ण य दुहिदो सो वि य कम्मोदयेण चेव खलु।
तम्हा ण मारिदोणो दुहाविदो चेदि ण हु मिच्छा ॥२५८॥"[1]

जो मरता है और जो दुखी होता है वह सब कर्मोदय से होता है। अत 'मैंने मारा, मैंने दुखी किया' ऐसा तेरा अभिप्राय क्या वास्तव मे मिथ्या नही है ? अवश्य ही मिथ्या है। और जो न मरता है और न दुखी होता है, वह भी वास्तव मे कर्मोदय से ही होता है। अत 'मैंने नही मारा, दुखी नही किया' ऐसा तेरा अभिप्राय क्या वास्तव मे मिथ्या नही है ? अवश्य ही मिथ्या है।

उक्त सम्पूर्ण कथन को आचार्य अमृतचन्द्र ने दो छन्दो मे निम्नानुसार अभिव्यक्त किया है

"सर्वं सदैव नियत भवति स्वकीय
कर्मोदयान्मरणजीवितदु.खसौख्यम् ।
अज्ञानामेतदिह यत्तु पर-परस्य
कुर्यात्पुमान्मरणजीवितदु.ख सौख्यम् ॥१६८॥
अज्ञानमेतदधिगम्य परात्परस्य
पश्यति ये मरणजीवितदु खसौख्यम्।
कर्माण्यहकृतिरसेन चिकीर्षवस्ते
मिथ्यादृशो नियतमात्महनो भवति ॥१६९॥"[2]

इस जगत् मे जीवो के जीवन-मरण, सुख-दुख, यह सब सदैव नियम से अपने द्वारा उपार्जित कर्मोदय से होते हैं। "दूसरा पुरुष इसके जीवन-मरण, दु.ख-सुख का कर्ता है" यह मानना तो अज्ञान है।

जो पुरुष पर के जीवन, मरण, सुख, दु.ख का कर्ता दूसरे को मानते हैं, अहकार

१ समयसार आचार्य कुन्दकुन्द गाथा २५७-२५८
२ समयसारकलश आचार्य अमृतचन्द्र कलश १६८-१६९

रस से कर्मोदय को करने के इच्छुक वे पुरुष नियम से मिथ्यादृष्टि हैं और अपने आत्मा का घात करने वाले हैं।

उक्त कथनों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जैनाचार्यों को यह कदापि स्वीकार्य नहीं है कि कोई व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्ति को मार या बचा सकता है, अथवा दु.खी या सुखी कर सकता है। जब कोई किसी को मार ही नहीं सकता और मरते को बचा नहीं सकता है तो फिर "मारने का नाम हिंसा और बचाने का नाम अहिंसा" यह कहना क्या अर्थ रखता है ?

द्रव्य स्वभाव से आत्मा की अमरता एव पर्याय के परिवर्तन मे स्वय के उपादान एव कर्मोदय को निमित्त स्वीकार कर लेने के बाद एक प्राणी द्वारा दूसरे प्राणी का वध और रक्षा करने की बात मे कितनी सच्चाई रह जाती है ? यह एक सोचने की बात है। अत. यह कहा जा सकता है कि न मरने का नाम हिंसा है, न मारने का। इसी प्रकार न जीने का नाम अहिंसा है, न जिलाने का।

वस्तुत हिंसा-अहिंसा का सबध परजीवो के जीवन-मरण, सुख-दु ख से न होकर आत्मा मे उत्पन्न होने वाले राग-द्वेष-मोह परिणामो से है। परजीवो के मरने-मारने का नाम हिंसा नही, वरन् मारने के भाव का नाम हिंसा है। जैन शास्त्रो मे जो परजीवो के मारने, सताने आदि को भी हिंसा कहा गया है, उसे व्यवहार हिंसा के अर्थ मे समझना चाहिए।

हिंसा के दो भेद करके भी समझाया गया है भावहिंसा और द्रव्यहिंसा। रागादि भावो के उत्पन्न होने पर आत्मा के उपयोग की शुद्धता (शुद्धोपयोग) का घात होना भावहिंसा है और रागादि भाव है निमित्त जिसमे ऐसे अपने और पराये द्रव्यप्राणो का घात होना द्रव्यहिंसा है। यदि कोई व्यक्ति राग-द्वेषादि भाव न करे तथा योग्यतम आचरण रखे किंतु सावधानी रखने पर भी यदि उसके निमित्त से परजीव का घात हो जाए तो भी हिंसा नही है। इसके विपरीत कोई जीव रागादि रूप प्रवर्ते, आत्मा मे असावधान रहे, यदि उसके निमित्त से परजीवो का घात न भी हो, तो भी वह हिंसक है। क्योकि हिंसा का मूल कारण रागादि भावरूप प्रमाद परिणति है, परजीवो का जीवन-मरण नही।

यथा

सूक्ष्मापि न खलु हिंसा परवस्तुनिबन्धना भवति पुस ।
हिंसायतननिवृत्ति. परिणामविशुद्धये तदपि कार्या ॥४६॥[1]

यद्यपि परवस्तु के कारण रचमात्र भी हिंसा नही होती है तथापि परिणामो की शुद्धि के लिए हिंसा के स्थान परिग्रहादि को छोड देना चाहिए। क्योकि जीव चाहे मरे या न मरे अयत्नाचार (अनर्गल) प्रवृत्तिवालो को तो वध होता ही है। कहा भी है

१ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय आचार्य अमृतचन्द्र, श्लोक ४६

मरदु व जियदु जीवो अयदाचारस्य णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥१२७॥[1]

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न हो सकता है कि जब मारने के भाव हिंसा है तो बचाने के भाव का नाम अहिंसा होगा ? शास्त्रो मे उसे व्यवहार से अहिंसा कहा भी है, परन्तु निश्चय मे ऐसा नही है । यही बात तो जैनदर्शन मे सूक्ष्मता से समझने की है । जैनदर्शन का कहना है कि मारने का भाव तो हिंसा है ही किंतु बचाने का भाव भी हिंसा ही है क्योकि वह भी राग भाव ही है और राग चाहे वह किसी भी प्रकार का क्यो न हो, हिंसा ही है । पूर्व मे हिंसा की परिभाषा मे राग की उत्पत्ति मात्र को हिंसा बताया ही गया है । यद्यपि बचाने का राग मारने के राग की अपेक्षा प्रशस्त है तथापि है तो राग ही । राग तो आग है । आग चाहे नीम की हो या चन्दन की जलायेगी ही । उसी प्रकार सर्व प्रकार का राग हिंसा रूप ही होता है । अहिंसा तो वीतराग परिणति का नाम है, शुभाशुभ राग का नाम नही । यद्यपि मारने के भाव से पाप का बंध होता है और बचाने के भाव से पुण्य का, तथापि होता तो बंध ही है, बंध का अभाव नहीं । धर्म तो बंध का अभाव करने वाला है अत बंध के कारण को धर्म कैसे कहा जा सकता है ? अत वीतराग भाव ही अहिंसा है, वस्तु का स्वभाव होने से वही धर्म है और मुक्ति का कारण भी वही है । बचाने के भाव को हिंसा कहने मे एक और रहस्य अन्तर्गर्भित है । वह यह है कि जब कोई जीव किसी अन्य जीव को वस्तुत मार तो सकता नही, किंतु मारने का भाव करता है तब उसका वह भाव तथ्य के विपरीत होने से मिथ्या है, उसी प्रकार जब कोई जीव किसी को बचा तो नहीं सकता किंतु बचाने का भाव करता है, तब उसका यह बचाने का भाव भी उससे कम मिथ्या नही है । मिथ्या होने मे दोनो मे समानता है । मिथ्यात्व[2] सबसे बडा पाप है, जो दोनो मे समान रूप से विद्यमान है । भेद मात्र बाह्य है ।

उक्त तथ्य को आचार्यकल्प पंडित टोडरमल ने २१० वर्ष पूर्व निम्नानुसार व्यक्त किया है--

> "तहा अन्य जीवनि को जिवावने का व सुखी करने का अध्यवसाय होय सो तौ पुण्यबंध का कारण है, अर मारने का वा दु खी करने का अध्यवसाय होय सो पाप बंध का कारण है । हिंसा विषै मारने की बुद्धि होय सो वाका आयु पूरा हुवा बिना मरै नाहीं, अपनी द्वेष परिणति करि आप ही पाप बाधै है । अहिंसा (व्यवहार अहिंसा) विषै रक्षा करने की बुद्धि होय सो वाका आयु अवशेष बिना जीवै नाहीं, अपनी प्रशस्त राग परिणति करि आप ही पुण्य बाधै है । ऐसे ए

१ प्रवचनसार आचार्य कुन्दकुन्द, गाथा २१७
२ तत्त्वसबंधी उल्टी मान्यता को मिथ्यात्व कहते हैं ।

दोऊ हेय हैं। जहा वीतराग होय दृष्टा-ज्ञाता प्रवर्त, तहा (वास्तविक अहिंसा होने से) निर्बन्ध है। सो उपादेय है। सो ऐसी दशा न होय, तावत् प्रशस्त राग रूप प्रवर्तो, परन्तु श्रद्धान तो ऐसा राखो यहु भी बंध का कारण है, हेय है। श्रद्धा विषै याको मोक्षमार्ग जाने मिथ्या-दृष्टि ही हो है।"[1]

ध्यान रहे जिनागम मे जहा-जहा भी बचाने के भाव को अहिंसा कहा हो, उसे व्यवहार वचन यानी कथनमात्र जानना चाहिए किंतु जहा वीतराग भाव को अहिंसा कहा उसे निश्चय कथन मानकर वास्तविक जानना चाहिए।

कतिपय मनीषी हिंसा का संबंध द्वेष से और अहिंसा का संबंध राग से जोडते हैं। प्रेम (राग) को अहिंसा का आवश्यक अंग ही नही, मूल तत्त्व मानते हैं। कुछ जैन विद्वान् भी इस प्रकार चर्चा करते देखे जाते हैं। उनसे सानुरोध आग्रह है कि जैन दर्शन मे प्रतिपादित अहिंसा की आत्मा को एक बार गंभीरता से देखें। उनका खयाल है कि द्वेष से हिंसा का वातावरण बनता है, राग मे अहिंसा का। किंतु आप इतिहास पर दृष्टिपात करें तो पायेंगे कि जितने भी युद्ध हुए हैं वे जर, जोरू और जमीन के कारण हुए हैं। जर, जमीन और जोरू के प्रति द्वेष के कारण नही, बल्कि इनके प्रति राग के कारण ही युद्ध हुए हैं। रामायण और महाभारत के युद्ध इसके ऐतिहासिक प्रमाण है। बिल्ली को चूहे के प्रति द्वेष नही है, बल्कि उसके मांस खाने का राग है। वह चूहे को राग के कारण मारती है, न कि द्वेष के कारण।

जैन दर्शन मे प्रतिपादित हिंसा-अहिंसा एवं उससे भिन्न हिंसा-अहिंसा के अन्तर को हम निम्नानुसार स्पष्ट कर सकते है।

जैनदर्शन वीतराग=अहिंसा। राग-द्वेष=हिंसा।

इतर राग (प्रेम)=अहिंसा। द्वेष=हिंसा।

जैन दर्शन का समस्त आचार छूताछूतमूलक न होकर अहिंसामूलक है। जिस आचरण मे हिंसा न हो या कम-से-कम हिंसा हो, वही उपादेय है। रात्रि-भोजन-त्याग, पानी छानकर काम मे लेना, मद्य-मांस-मधु के सेवन का त्याग आदि समस्त बाह्याचार के मूल मे द्रव्य और भाव अहिंसा विद्यमान है। अहिंसा और हिंसा का रूप जैन दर्शन मे बहुत व्यापक है। उसमे मानस अहिंसा के दृष्टिकोण से विचारो का यथार्थ सामंजस्य करने वाले अनेकान्त दर्शन, वाणी की अहिंसा के लिए समस्त पक्षो को अपने मे समाहित कर लेने वाली स्याद्वादमयी वाणी, कायिका अहिंसा के लिए गृहस्थो के लिए अणुव्रत एवं मुनियो के लिए महाव्रत का आचार और आत्मिक अहिंसा की परिपूर्णता के लिए मोह-राग-द्वेष रहित शुद्धात्मा की अनुभूति पर बल दिया गया है। अनेकान्त, स्याद्वाद और अपरिग्रह अहिंसा के ही रूपान्तर हैं। अहिंसा की ही दिव्य ज्योति, विचार के क्षेत्र मे अनेकान्त, वचन

1 मोक्षमार्ग, प्रकाशक प० टोडरमल, सस्तीग्रंथमाला, दिल्ली, पृ० ३३१-३२

व्यवहार के क्षेत्र मे स्याद्वाद और सामाजिक तथा आत्म-शांति के क्षेत्र मे अल्प परिग्रह या अपरिग्रह के रूप मे प्रकट होती है। ये सब परस्पर अन्तः सबद्ध हैं। झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह पाप भी हिंसा के ही रूपान्तर हैं। क्योकि तत्सबधी भाव भी राग-द्वेप रूप होते हैं। आचार्य अमृतचन्द्र के शब्दों मे

आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात्सर्वमेव हिंसैतत्।
अनृतवचनादिकेवलमुदाहृत शिष्यबोधाय ॥४२॥

आत्मा के शुद्ध परिणामो के घात होने से झूठ, चोरी आदि सभी हिंसा ही है, भेद करके तो मात्र शिष्यो को समझाने के लिए कहे गए हैं।

हिंसा-अहिंसा का सबध सीधा आत्मपरिणामो से है। वे दोनो आत्मा के ही विकारी-अविकारी परिणाम हैं। जड़ मे उनका जन्म नही होता। यदि कोई पत्थर किसी प्राणी पर गिर जाए और उससे उसका मरण हो जाए तो पत्थर को हिंसा नही होती किंतु कोई प्राणी किसी को मारने का विकल्प करे तो उसे हिंसा अवश्य होगी, चाहे पर प्राणी मरे या न मरे। हिंसा-अहिंसा जड मे नही होती, जड़ के कारण भी नही होती। उनका उत्पत्ति स्थान व कारण दोनो ही चेतन मे विद्यमान हैं। वस्तुत चिद्विकार ही हिंसा है, झूठ, चोरी आदि चिद्विकार हैं अत हिंसा है।

व्यवहार मे जिसे हिंसा कहते हैं—जैसे किसी को सताना, दु ख देना आदि वह हिंसा न हो, यह बात नही है। वह तो हिंसा है ही, क्योकि उसमे प्रमाद का योग रहता है। आचार्य उमास्वामी ने कहा है 'प्रमत्तयोगात् प्राणाव्यपरोपणं हिंसा,' प्रमाद के योग से प्राणियो के द्रव्यभाव प्राणो का घात होना हिंसा है। उनका प्रमाद से आशय मोह-राग-द्वेप आदि विकारो से ही है। अत उक्त कथन मे द्रव्य-भाव दोनो प्रकार की हिंसा समाहित हो जाती है। परतु हमारा लक्ष्य प्राय बाह्य हिंसा पर केंद्रित रहता है, अंतरग मे होनेवाली भाव हिंसा की ओर नही जा पाता है। अत यहा पर विशेषकर अंतरग मे होनेवाली रागादि भाव रूप भाव हिंसा की ओर ध्यान आकर्पित किया गया है। जिस जीव के बाह्य स्थूल हिंसा का भी त्याग नही होता वह तो इन अन्तर की हिंसा को भली प्रकार समझ भी नही सकता है।

यहा यह प्रश्न हो सकता है कि तीव्र राग तो हिंसा है पर मद राग को हिंसा क्यो कहते हो ? किंतु जब राग हिंसा है तो मद राग अहिंसा कैसे हो जाएगा, वह भी तो राग की ही एक दशा है। यह बात अवश्य है कि मद राग मद हिंसा है और तीव्र राग तीव्र हिंसा है अत यदि हम हिंसा का पूर्ण त्याग नही कर सकते हैं तो उसे मद तो करना ही चाहिए। राग जितना घटे उतना ही अच्छा है, पर उसके सद्भाव को धर्म नहीं कहा जा सकता है। धर्म तो राग-द्वेप-मोह का अभाव ही है और वही अहिंसा है, जिसे परम धर्म कहा जाता है।

एक यह प्रश्न भी सभव है कि ऐसी अहिंसा तो साधु ही पाल सकते है, अत यह तो उनकी बात हुई। सामान्य जनो (श्रावको) को तो दया रूप (दूसरो को बचाने का भाव) अहिंसा ही सच्ची है। आचार्य अमृतचन्द्र ने श्रावक के आचरण के प्रकरण मे ही इस बात को लेकर यह सिद्ध कर दिया है कि अहिंसा दो प्रकार की नही होती। अहिंसा को जीवन मे उतारने के स्तर दो हो सकते हैं। हिंसा तो हिंसा ही रहेगी। यदि श्रावक पूर्ण हिंसा का त्यागी नही हो सकता तो अल्प हिंसा का त्याग करे, पर जो हिंसा वह छोड न सके उसे अहिंसा तो नही माना जा सकता है। यदि हम पूर्णत हिंसा का त्याग नही कर सकते तो अशत त्याग करना चाहिए। यदि वह भी न कर सके तो कम-से-कम हिंसा को धर्म मानना और कहना तो छोड़ना ही चाहिए। शुभ राग, राग होने से हिंसा मे आता है और उसे धर्म नही माना जा सकता।

जैन दर्शन का अनेकान्तिक दृष्टिकोण मे उपर्युक्त अहिंसा के सबध मे यह आरोप भी नही लगाया जा सकता है कि उक्त अहिंसा को ही व्यावहारिक जीवन मे उपादेय मान लेंगे तो फिर देश, समाज, घर-बार, यहा तक कि अपनी मा-बहन की इज्जत बचाना भी सभव न होगा क्योकि गृहस्थो के जीवन मे अहिंसा और हिंसा का क्या रूप विद्यमान रहता है, इसका विस्तृत वर्णन जैनाचार ग्रथो मे मिलता है तथा उसके प्रायोगिक रूप के दर्शन जैन पुराणो के परिशीलन से किये जा सकते हैं। यहा उसकी विस्तृत समीक्षा के लिए अवकाश नही है। गृहस्थ जीवन मे विद्यमान हिंसा और अहिंसा को स्पष्ट करते हुए जैनाचार्यो ने हिंसा का वर्गीकरण चार रूपो मे किया है

१ सकल्पी हिंसा
२ उद्योगी हिंसा
३. आरभी हिंसा
४ विरोधी हिंसा

केवल निर्दय परिणाम ही हेतु है जिसमे ऐसे सकल्प (इरादा)-पूर्वक किया गया प्राणघात ही सकल्पी हिंसा है। व्यापारादि कार्यो मे तथा गृहस्थी के आरभादि कार्यों मे सावधानी बरतते हुए भी जो हिंसा हो जाती है वह उद्योगी और आरभी हिंसा है। अपने तथा अपने परिवार, धर्मायतन, समाज, देशादि पर किये गये आक्रमण से रक्षा के लिए अनिच्छापूर्वक की गई हिंसा विरोधी हिंसा है। उक्त चार प्रकार की हिंसाओ मे एक सकल्पी हिंसा का तो श्रावक सर्वथा त्यागी होता है किंतु बाकी तीन प्रकार की हिंसा उसके जीवन मे विद्यमान रहती है, यद्यपि वह उनसे भी बचने का पूरा-पूरा यत्न करता है, वह किसी दूसरे पर बिना कारण आक्रमण नही करता, अपनी रक्षा-हेतु ही लडता है, यदि रक्षा-हेतु आक्रमण आवश्यक हो तो, आक्रमण करने के भाव भी उसके होते देखे जाते हैं। आरभ और

उद्योग मे भी पूरी-पूरी सावधानी रखता है तथापि उसका आरभी, उद्योगी और विरोधी हिंसा से पूर्णरूपेण बच पाना सभव नही है।

महापडित आशाधरजी ने लिखा है कि

आरभेऽपि सदा हिंसा सुधी साकल्पिकी त्यजेत् ।
घ्नतोऽपि कर्षकादुच्चै पापोऽघ्नन्नपि धीवर ॥[1]

आरंभी आदि हिंसा के विद्यमान रहने पर भी बुद्धिमान श्रावक को सकल्पी हिंसा का त्याग कर देना चाहिए क्योकि कृषक द्वारा जीवो के घात होने पर भी सकल्प के अभाव मे मछलियो के घात का सकल्प करने वाले धीवर को, चाहे उसके जाल मे मछली मरे ही नहीं, अधिक हिंसा होती है।

यद्यपि उक्त हिंसा उसके जीवन मे विद्यमान रहती है तथापि वह उसे उपादेय नही मानता, विधेय भी नही मानता। गृहस्थ का व्यक्तित्व द्वैध व्यक्तित्व होता है। उसकी श्रद्धा तो पूर्ण अहिंसक होती है और जीवन भूमिकानुसार।

कोई व्यक्ति अपने जीवन में अहिंसा को कितना उतार पाता है, कितना नही, यह एक अलग प्रश्न है और हिंसा और अहिंसा का वास्तविक स्वरूप क्या है, यह एक स्वतत्र विचारणीय वस्तु है। इस तथ्य को विचारको को नही भूलना चाहिए।

निष्कर्ष मे कहा जा सकता है कि, राग-द्वेष-मोह भावो की उत्पत्ति होना ही हिंसा है और उन्हे धर्म मानना महाहिंसा तथा रागादि भावो की उत्पत्ति नही होना ही परम अहिंसा है और रागादि भावो को धर्म नही मानना ही अहिंसा के सबध मे सच्ची समझ है।

---

1 सागारधर्मामृत अध्याय २, श्लोक ८२

भारतीय प्रमाणशास्त्र को जैन दर्शन का योगदान

•

डॉ० गोकुलचन्द्र जैन

भारतीय प्रमाणशास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं (१) प्रमाण का स्वरूप, (२) प्रमाण के भेद, (३) प्रमाण का विषय और (४) प्रमाण का फल। जैन दार्शनिको ने न केवल प्रमाण का स्वरूप निर्धारण करने मे प्रत्युत उसके भेद-प्रभेद, विषय और फल के विवेचन मे भी एक विशेष दृष्टि दी है।

प्रमाण के स्वरूप के विषय मे भारतीय प्रमाणशास्त्र मे मुख्य रूप मे दो दृष्टिया उपलब्ध होती हैं

१ ज्ञान को प्रमाण मानने वाली।

२ इन्द्रिय आदि को प्रमाण मानने वाली।

जैन और बौद्ध परम्परा मे ज्ञान को प्रमाण माना गया है। दोनो मे अन्तर यह है कि जैन सविकल्पक ज्ञान को प्रमाण मानते हैं, बौद्ध निर्विकल्पक ज्ञान को।

दूसरी परम्परा वैदिक दर्शनो की है। न्याय-वैशेषिक, साख्य-योग, मीमासक सभी किसी न किसी रूप मे इन्द्रिय आदि को प्रमाण मानते है।

जैन दार्शनिको ने सभी की सदोषता का प्रतिपादन करके सम्यग्ज्ञान को प्रमाण का स्वरूप निश्चित किया है।

इसी प्रकार प्रमाण के भेदों के विषय मे भी जैन दार्शनिको ने एक विशेष दृष्टि दी है। उन्होंने प्रमाण के मूल रूप मे दो भेद बताए हैं प्रत्यक्ष और परोक्ष। परोक्ष के स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम ये पाच भेद किए हैं। दर्शनान्तरो मे स्वीकृत अन्य भेदो को इन्ही के अन्तर्गत समाहित किया गया है।

इस सन्दर्भ मे एक विशेष बात यह है कि सामान्य रूप मे दर्शनान्तरो मे जिस ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा गया है, उसे जैन दार्शनिको ने परोक्ष कहा है तथा दर्शनान्तरो मे जिसे परोक्ष माना है उसे जैन दार्शनिको ने प्रत्यक्ष माना है। प्रत्यक्ष की यह चर्चा न केवल भेदो के निर्धारण मे प्रत्युत प्रमाण के स्वरूप-निर्धारण की दृष्टि से

भी महत्वपूर्ण है। इसलिए यहा प्रत्यक्ष के विशेष सन्दर्भ मे भारतीय प्रमाणशास्त्र को जैन दार्शनिको की देन का मूल्याकन किया गया हैं।

नैयायिको का प्रत्यक्ष प्रमाण

नैयायिक इन्द्रियसन्निकर्ष आदि को प्रमाण मानते हैं। वात्स्यायन ने न्यायभाष्य (१ १ ३) मे प्रत्यक्ष की व्याख्या इस प्रकार की है "अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषय वृत्ति प्रत्यक्षम्। वृत्तिस्तु सन्निकर्षो ज्ञान वा। यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञान प्रमिति। यदा ज्ञान तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धय फलम्।"

उद्योतकर ने भी न्यायवार्तिक (१.१ ३) मे वात्स्यायन के भाष्य का अनुगमन करके सन्निकर्ष और ज्ञान दोनो को प्रत्यक्ष प्रमाण मानकर इसका प्रबल समर्थन किया है।

न्यायसूत्र की व्याख्या मे वाचस्पति का भी वही तात्पर्य है

"इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मक प्रत्यक्षम्।" (न्याय० १.१ ४)

न्यायभाष्य (पृ० २५५) तथा न्यायमजरी (पृ० ७३, ४७६) मे इनका विस्तृत विवेचन है।

सन्निकर्षवादी नैयायिको का कहना है कि अर्थ का ज्ञान कराने मे सबसे अधिक साधक सन्निकर्ष है। चक्षु का घट के साथ सन्निकर्ष होने पर ही घट का ज्ञान होता है। जिस अर्थ का इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष नही होता, उसका ज्ञान भी नहीं होता। यदि इन्द्रियो से असन्निकृष्ट अर्थ का ज्ञान भी ज्ञान माना जाएगा, तो सबको सब पदार्थो का ज्ञान होना चाहिए। किन्तु देखा जाता है कि जो पदार्थ दृष्टि से ओझल होते हैं, उनका ज्ञान नहीं होता।

दूसरी बात यह है कि इन्द्रिय कारक है, और कारक दूर रहकर अपना काम नही कर सकता। अतएव यह मानना चाहिए कि इन्द्रिय जिस पदार्थ से सम्बन्ध नही करती, उसे नहीं जानती, क्योकि वह कारक है, जैसे बढई का बसूला लकडी से दूर रहकर अपना काम नही करता। जिस प्रकार स्पर्शनेन्द्रिय पदार्थ को छूकर जानती है, उसी प्रकार अन्य इन्द्रिया भी पदार्थ संस्पृष्ट होकर जानती है।

सन्निकर्ष के भेद (न्यायवा० पृ० ३१, न्यायमं० पृ० ७२)

सन्निकर्ष के छह भेद हैं (१) सयोग, (२) सयुक्त-समवाय, (३) संयुक्त-समवेतसमवाय, (४) समवाय, (५) समवेतसमवाय, (६) विशेषणविशेष्यभाव।

इनके उदाहरण इस प्रकार हैं

१. सयोग सन्निकर्ष चक्षु का घट आदि पदार्थो के साथ सयोग सन्निकर्ष है।

२ सयुक्तसमवाय सन्निकर्ष · घट आदि मे समवाय सन्निकर्ष से रहने वाले

गुण, कर्म आदि पदार्थों के साथ संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष है।

३. संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष घट आदि मे समवाय सम्बन्ध से रहने वाले गुण, कर्म आदि मे समवाय सम्बन्ध से रहने वाले गुणत्व, कर्मत्व आदि के साथ संयुक्तसमवेतसमवाय सन्निकर्ष है।

४ समवाय सन्निकर्ष · श्रोत का शब्द के साथ समवाय सन्निकर्ष है। क्योकि कान के छिद्र मे रहने वाले आकाश का ही नाम श्रोत्र है। शब्द आकाश का गुण है, इसलिए वहां समवाय सन्निकर्ष से रहता है।

५ समवेतसमवाय सन्निकर्ष शब्दत्व के साथ समवेतसमवाय सन्निकर्ष है।

६ विशेषण विशेष्यभाव सन्निकर्ष यह घर घटाभाव वाला है। इसमे विशेषणविशेष्यभाव सन्निकर्ष है, क्योकि घर विशेष्य है और उसका विशेषण घटाभाव है।

प्रत्यक्षज्ञान मे सन्निकर्ष की प्रवृत्ति-प्रक्रिया (न्यायम० पृ० ७४)

प्रत्यक्षज्ञान चार, तीन अथवा दो के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। बाह्य रूप आदि का प्रत्यक्ष चार के सन्निकर्ष से होता है। आत्मा मन से सम्बन्ध करता है, मन इन्द्रिय से, इन्द्रिय अर्थ से। सुखादि का प्रत्यक्ष तीन के सन्निकर्ष से होता है। इनमे इन्द्रिय काम नही करती। योगियो को जो आत्मा का प्रत्यक्ष होता है, वह दो के सन्निकर्ष से होता है। वह केवल आत्मा और मन के सन्निकर्ष से होता है।

नैयायिको के प्रत्यक्ष-लक्षण की समीक्षा

नैयायिको के इस प्रत्यक्ष लक्षण का निरास जैन तार्किको ने विस्तार के साथ किया है (न्यायकुमु० पृ० २५-३२, प्रमेयक० पृ० १४-१८)। संक्षेप मे वह इस प्रकार है

१ वस्तु का ज्ञान कराने मे सन्निकर्ष साधकतम नही है, इसलिए वह प्रमाण नही है। जिसके होने पर ज्ञान हो तथा नही होने पर न हो, वह उसमे साधकतम माना जाता है। सन्निकर्ष मे यह बात नही है। कही-कही सन्निकर्ष के होने पर भी ज्ञान नही होता। जैसे घट की तरह आकाश आदि के साथ भी चक्षु का सन्निकर्ष रहता है, फिर भी आकाश का ज्ञान नही होता। अतएव सन्निकर्ष प्रमाण नही है।

२ सभी इन्द्रिया छूकर जानती हो, यह बात नही है। चक्षु छूकर नही जानती। यदि छूकर जानती, तो आंख मे लगे हुए अंजन को देखना चाहिए, किन्तु नही देखती। इसी प्रकार यदि छूकर जानती तो ढकी हुई वस्तु को नही जानना चाहिए, पर ऐसा नही है। काच आदि पारदर्शी द्रव्य से ढकी हुई वस्तु को वह जान लेती है। अतएव चक्षु प्राप्यकारी नही है। जैन दार्शनिको ने चक्षु के प्राप्यकारित्व का विस्तार से खण्डन किया है (तत्वा० रा० वा० पृ० ४८, न्यायकु०

पृ० ७५-८२, प्रमेयक० पृ० २२०-२२६)।

३. सन्निकर्ष को प्रमाण मानने पर सर्वज्ञ सिद्ध नहीं हो सकता। क्योंकि यदि सर्वज्ञ सन्निकर्ष द्वारा पदार्थों को जानेगा, तो उसका ज्ञान या तो मानसिक होगा या इन्द्रियजन्य। मन और इन्द्रियों की प्रवृत्ति अपने विषयों में क्रमशः होती है तथा उनका विषय भी नियत है, जबकि त्रिकालवर्ती ज्ञेय पदार्थों का अन्त नहीं है। सूक्ष्म, अन्तरित तथा व्यवहित पदार्थों का इन्द्रियों के साथ सन्निकर्ष नहीं हो सकता, अतः उनका ज्ञान भी नहीं होगा। इस तरह सर्वज्ञ का अभाव हो जाएगा (सर्वार्थ० पृ० ५७, तत्वा० पृ० ३६, न्यायकु० पृ० ३२)।

उपर्युक्त दोषों के कारण इन्द्रियादि के सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं माना जा सकता।

जरन्नैयायिकों का प्रत्यक्ष-लक्षण

जरन्नैयायिकों की मान्यता है कि अर्थ का ज्ञान किसी एक कारक से नहीं होता, प्रत्युत कारकों के समूह से होता है। एक-दो कारकों के होने पर भी ज्ञान उत्पन्न नहीं होता और समग्र कारकों के रहने पर नियम से होता है। इसलिए कारकसाकल्य ही ज्ञान की उत्पत्ति में साधकतम कारण है। अतएव वही प्रमाण है। ज्ञान प्रमाण नहीं है, क्योंकि वह तो फल है। फल को प्रमाण मानना उचित नहीं है, क्योंकि प्रमाण और फल भिन्न-भिन्न होते हैं। न्यायमंजरीकार ने लिखा है—"अव्यभिचारिणीमसन्दिग्धामर्थोपलब्धि विदधती बोधाबोधस्वभावा सामग्री-प्रमाणम्।" न्यायमंजरी पृ० १२।

समीक्षा

कारकसाकल्य की उपयोगिता को स्वीकारते हुए भी जैन दार्शनिकों ने विशेष रूप से इसका खण्डन किया है (न्यायकु० पृ० ३५-३६, प्रमेयकमल० पृ० ७-१३)। उनका कहना है

१ कारकसाकल्य ज्ञान की उत्पत्ति में कारण अवश्य है, पर अर्थोपलब्धि में तो ज्ञान ही कारण है। इसलिए कारकसाकल्य को अर्थोपलब्धि में साधकतम कारण नहीं माना जा सकता।

२ यदि परम्परा-कारणों को अर्थोपलब्धि में साधकतम कारण माना जाएगा तो जिस आहार या गाय के दूध से इन्द्रियों को पुष्टि मिलती है, वह आहार तथा दूध देने वाली गाय को भी साधकतम कारण मानना होगा। इस तरह कारणों का कोई प्रतिनियम ही नहीं रह जाएगा।

सांख्य का प्रत्यक्ष-लक्षण

साख्य परम्परा मे प्रत्यक्ष लक्षण के मुख्य तीन प्रकार हैं। पहला विन्ध्यवासी के लक्षण का, जिसे वाचस्पति ने वार्षगण्य के नाम से निर्दिष्ट किया है (तात्पर्य० पृ० १५५)। दूसरा ईश्वरकृष्ण के लक्षण का (साख्यकारिका ५) तथा तीसरा साख्यसूत्र (१ ८९) के लक्षण का।

हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमासा (पृ० २४) मे वृद्ध-साख्यो का प्रत्यक्ष लक्षण इस प्रकार दिया है

"श्रोत्रादिवृत्तिरविकल्पिका प्रत्यक्षम्" इति वृद्धसाख्या।

ईश्वरकृष्ण का लक्षण इस प्रकार है

"प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम्।" साख्यका० ५

माठरवृत्ति (पृ० ४७) तथा योगदर्शन व्यासभाष्य (पृ० २७) मे इस प्रत्यक्ष का विस्तार से विवेचन किया गया है।

साख्यो की मान्यता है कि अर्थ की प्रमिति मे इन्द्रियाधीन अन्त करण वृत्ति ही साधकतम है, अत उसी को प्रमाण मानना चाहिए। वह जब विषय के आकार परिणमन करती है तभी अपने प्रतिनियत शब्द आदि का ज्ञान कराती है। इस प्रकार पदार्थ का सम्पर्क होने से पहले इन्द्रियो के द्वारा अन्त करण का विषयाकार होने से वृत्ति ही प्रमाण है। योगदर्शन व्यासभाष्य मे लिखा है

"इन्द्रियप्रणालिकया वाह्यवस्तूपरागात् सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधानावृत्ति प्रत्यक्षम।" योगद० व्यासभा० पृ० २७

उक्त वृत्ति की प्रक्रिया के विषय मे साख्यप्रवचनभाष्यकार ने लिखा है

"अत्रेय प्रक्रिया इन्द्रियप्रणालिकया अर्थसन्निकर्षेण लिगज्ञानादिना वा आदौ वुद्धे अर्थाकारा वृत्ति जायते।" साख्यप्र० भा० पृ० ४७

साख्य के प्रत्यक्ष की समीक्षा

वौद्ध, जैन तथा नैयायिक तार्किको ने साख्यो के प्रत्यक्ष-लक्षण का खण्डन किया है। बौद्ध तार्किक दिङ्नाग ने प्रमाणसमुच्चय (१ २७) मे, नैयायिक उद्योतकर ने न्यायवार्तिक (पृ० ४३) मे, जयन्तभट्ट ने न्यायमजरी (पृ० १०९) मे तथा जैन तार्किक अकलक ने न्यायविनिश्चय (१ १६५)मे, विद्यानन्द ने तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक (पृ० १८७) मे, प्रभाचन्द्र ने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४०-४१) और प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० १९) मे, देवसूरि ने स्याद्वादरत्नाकर (पृ० ७२) मे तथा हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमासा (पृ० २४) मे इन्द्रियवृत्ति का विस्तार से निरास किया है, जिसका सक्षिप्त सार यह है

१ अन्त करणवृत्ति अचेतन है, इसलिए वह पदार्थ को जानने मे साधकतम

नही हो सकती।

२ अन्त करण का पदार्थ के आकार होना प्रतीति विरुद्ध है। जैसे दर्पण पदार्थ के आकार को अपने मे धारण करता है, वैसे अन्त करण पदार्थ के आकार को अपने मे धारण करता नही देखा जाता।

३ अन्त करण वृत्ति यदि अन्त करण से भिन्न है तो उनका अन्त करण से सम्बन्ध नही बनता और यदि अभिन्न है तो सुप्तावस्था मे भी इन्द्रिय एव अन्त करण व्यापार जारी रहना चाहिए।

इन कारणो से अन्त करण वृत्ति प्रमाण नही है।

मीमासको का प्रत्यक्ष-लक्षण

मीमासादर्शन मे प्रत्यक्ष प्रमाण के स्वरूप का निर्देश सर्वप्रथम जैमिनीय सूत्र मे मिलता है

> सत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणा बुद्धिजन्म
> तत्प्रत्यक्षमनिमित्त विद्यमानोपलम्भनत्वात्।
>
> —जैमिनीय सूत्र १ १ ४

जैमिनी सूत्र पर शावरभाष्य आदि कई टीकाए हैं, जिनमें इस लक्षण का विभिन्न दृष्टिकोणो से विवेचन है। भवदास की व्याख्या मे इस सूत्र को प्रत्यक्ष-लक्षण का विधायक माना गया है (श्लोकवा० न्याय० प्रत्यक्ष० श्लोक १)। अन्य व्याख्याओ मे इस लक्षण को अनुवादक माना गया है (श्लोकवा० प्रत्यक्ष० श्लोक १६)। शावर भाष्य (१ १ ५) मे इस सूत्र के शाब्दिक विन्यास मे मतभेद रखकर पाठान्तर मानने वाली वृत्ति का भी उल्लेख है। कुमारिल ने पहले प्रचलित सभी मान्यताओ का खडन करके अपने ढग से उसे अनुवाद रूप प्रतिपादित किया है (श्लोकवा० प्रत्यक्ष० श्लो० १-३६)। इस प्रकार मीमासक ज्ञातृव्यापार को प्रत्यक्ष मानते है। उनका कहना है कि ज्ञातृव्यापार के बिना पदार्थ का ज्ञान नही हो सकता। कारक तभी कारक कहा जाता है, जब उसमे क्रिया होती है, आत्मा, इन्द्रिय, मन तथा पदार्थ का मेल होने पर ज्ञाता का व्यापार होता है और वह व्यापार ही पदार्थ का ज्ञान कराने मे कारण होता है। अत ज्ञाता का व्यापार ही प्रमाण है (मीमासा श्लो० पृ० १५१, शास्त्रदी० पृ० २०२)।

मीमासको के प्रत्यक्ष-लक्षण की समीक्षा

मीमासको की इस मान्यता का खडन वैदिक, बौद्ध तथा जैन सभी तार्किको ने किया है। वैदिक परम्परा मे उद्योतकर ने न्यायवार्तिक (पृ० ४३) मे, वाचस्पति ने तात्पर्यटीका (पृ० १५५) मे तथा जयन्तभट्ट ने न्यायमजरी (पृ० १००) मे विस्तार से खडन किया है। बौद्ध दार्शनिको मे सर्वप्रथम दिङ्नाग ने अपने प्रमाण-

समुच्चय (१ ३७) मे इसका खडन किया है। शान्तरक्षित आदि ने इसी पद्धति का अनुसरण किया है।

जैन परम्परा मे अकलक, विद्यानन्द (तत्त्वार्थश्लो० पृ० १८७ श्लो० ३७), प्रभाचन्द्र (न्यायकु० पृ० ४२-४५, प्रमेय० पृ० २०-२५), अभयदेव (सन्मति० पृ० ५३४), हेमचन्द्र (प्रमाणमी० पृ० २३) तथा देवसूरि (स्याद्वादरत्नाकर पृ० ३८१) ने ज्ञातृव्यापार का विस्तार से खडन किया है। जिसका निष्कर्ष इस प्रकार है—

१ ज्ञातृव्यापार किसी भी प्रमाण से सिद्ध नही होता इसलिए वह प्रमाण नही है।
२ प्रत्यक्ष प्रमाण से ज्ञातृव्यापार सिद्ध नही होता। क्योकि न तो ज्ञातृ-व्यापार का सम्बन्ध है और न मीमासक स्वसवेदन को मानते हैं।
३ अनुमान प्रमाण से भी ज्ञातृव्यापार सिद्ध नही होता, क्योकि उसमे साधन से साध्य का ज्ञान रूप अनुमान नही बनता।
४ अर्थापत्ति से भी ज्ञातृव्यापार सिद्ध नही होता, क्योकि अर्थापत्ति के उत्थापक अर्थ का साध्य के साथ सम्बन्ध नही बनता।
५ प्रमाणो से सिद्ध न होने पर भी ज्ञातृव्यापार का अस्तित्व मानना उपयुक्त नही है।

बौद्ध सम्मत प्रत्यक्ष-लक्षण

प्रत्यक्ष-लक्षण की दो धाराए

बौद्ध न्यायशास्त्र मे प्रत्यक्ष-लक्षण की दो परम्पराए देखी जाती हैं—पहली अभ्रान्त पद-रहित और दूसरी अभ्रान्त पद-सहित। पहली परम्परा के पुरस्कर्ता दिङ्नाग हैं तथा दूसरी के धर्मकीर्ति। प्रमाणसमुच्चय (१ ३) और न्यायप्रवेश (पृ० ७) मे पहली परम्परा के अनुसार लक्षण और व्याख्या है। न्यायबिन्दु (१ ४) और उसकी धर्मोत्तरीय आदि वृत्ति मे दूसरी परम्परा के अनुसार लक्षण एव व्याख्यान है। शान्तरक्षित ने तत्त्वसग्रह (का० १२१४) मे दूसरी परम्परा का ही समर्थन किया है। धर्मकीर्ति का लक्षण इस प्रकार है

"प्रत्यक्ष कल्पनापोढमभ्रान्तम्।" —न्यायवि० १ ४

निर्विकल्पक प्रत्यक्ष

अभ्रान्त पद के ग्रहण या अग्रहण करने वाली दोनो परम्पराओ मे प्रत्यक्ष को

निर्विकल्पक माना गया है। बौद्धों का कहना है कि प्रत्यक्ष में शब्द-संसृष्ट अर्थ का ग्रहण सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय स्वलक्षण है, और वह क्षणिक है। इसलिए प्रत्यक्ष ज्ञान निर्विकल्पक ही होता है।

क्षणभंगवाद

बौद्धों की इस मान्यता की पृष्ठभूमि में उनका दार्शनिक सिद्धान्त क्षणभंगवाद है। 'सर्वं क्षणिकम्' सब कुछ क्षणिक है इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्यक्ष जिस स्वलक्षण को ग्रहण करता है उसमें कल्पना उत्पन्न हो, इसके पूर्व ही वह नष्ट हो जाता है। इसलिए वह सविकल्पक नहीं हो सकता।

इन्द्रियज्ञान में तदाकारता का अभाव

बौद्धों का कहना है कि अर्थ में शब्दों का रहना सम्भव नहीं है और न अर्थ और शब्द का तादात्म्य सम्बन्ध ही है। इसलिए अर्थ से उत्पन्न होने वाले ज्ञान में ज्ञान को उत्पन्न न करने वाले शब्द के आकार का संसर्ग नहीं रह सकता। क्योंकि जो जिसका जनक नहीं होता वह उसके आकार को धारण नहीं कर सकता। जैसे रस से उत्पन्न होने वाला रसज्ञान अपने अजनक रूप आदि के आकार को धारण नहीं करता। इन्द्रियज्ञान केवल नील आदि अर्थ से उत्पन्न होता है, शब्द से उत्पन्न नहीं होता। इसलिए वह शब्द के आकार को धारण नहीं कर सकता। इस प्रकार शब्द के आकार को धारण न करने के कारण वह शब्दग्राही नहीं हो सकता। जो ज्ञान जिसके आकार नहीं होता वह उसका ग्राहक नहीं हो सकता। अतएव निर्विकल्पक ज्ञान ही प्रमाण है।

निर्विकल्पक ज्ञान और लोक-व्यवहार

निर्विकल्पक ज्ञान में सविकल्पक ज्ञान को उत्पन्न करने की शक्ति है। अत वह उसके द्वारा समस्त व्यवहारों में कारण होता है। निर्विकल्प प्रत्यक्ष के विषय को लेकर ही पीछे के विकल्प उत्पन्न होते है। इसलिए निर्विकल्प प्रत्यक्ष ही प्रमाण है।

बौद्धों के प्रत्यक्ष-लक्षण की समीक्षा

बौद्धों की इस मान्यता का बौद्धेतर तर्क ग्रन्थों में विस्तार से खंडन किया गया है। भामह ने काव्यालंकार (५.६ पृ० ३२) और उद्योतकर ने न्यायवार्तिक (१ १ ४ पृ० ४१) में दिङ्नाग के प्रत्यक्ष लक्षण का तथा वाचस्पति मिश्र की तात्पर्यटीका (पृ० १५४), जयन्त भट्ट की न्यायमंजरी (पृ० ५२), श्रीधर की न्यायकन्दली (पृ० १६०) और शालिकनाथ की प्रकरणपरीक्षा (पृ० ४७) में

धर्मकीर्ति के प्रत्यक्ष-लक्षण की समीक्षा की गयी है।

जैन दार्शनिकों ने दिङ्नाग तथा धर्मकीर्ति दोनो के लक्षणो की समीक्षा की है। विद्यानन्द ने तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ० १८५), प्रभाचन्द ने न्यायकुमुदचन्द्र (पृ० ४७) तथा प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० ४६) मे एव हेमचन्द्र ने प्रमाणमीमासा (पृ० २३) मे निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विस्तार से खडन किया है।

निर्विकल्पक ज्ञान अनिश्चयात्मक होने से अप्रमाण

निर्विकल्पक ज्ञान अनिश्चयात्मक होता है। अनिश्चयात्मक ज्ञान को प्रमाण नही माना जा सकता। क्योकि प्रमाण वही कहलाता है जो निश्चयात्मक हो।

लोक-व्यवहार मे साधक न होने से अप्रमाण

निर्विकल्पक ज्ञान अनिश्चयात्मक होने से व्यवहार मे अनुपयोगी है। जिस प्रकार मार्ग मे चलते हुए तृणस्पर्श आदि का अनध्यवसाय रूप ज्ञान अनिश्चयात्मक होने से लोक-व्यवहार मे उपयोगी नही है, उसी प्रकार निर्विकल्पक ज्ञान भी अनुपयोगी है। अतएव वह प्रमाण नही हो सकता।

जैन सम्मत प्रत्यक्ष प्रमाण : दो परम्पराएं

जैन परम्परा मे प्रत्यक्ष के लक्षण की दो परम्पराए उपलब्ध होती हैं। पहली परम्परा मुख्य रूप से आगमिक मान्यताओं के आधार पर चली है। दूसरी परम्परा मे आगमिक मान्यता तथा न्यायशास्त्र की मान्यता के समायोजन का प्रयत्न किया गया है। इस समग्र चर्चा का सक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है

जैन आगमिक परम्परा मे प्रत्यक्ष लक्षण और उसके भेद

जैन परम्परा मे प्रमाण की चर्चा ज्ञान चर्चा से प्रारम्भ होती है। आगमिक सिद्धान्तो को सस्कृत सूत्र रूप मे प्रस्तुत करने वाले आचार्य उमास्वाति ने ज्ञान के पाच भेद बताकर प्रथम दो को परोक्ष तथा अन्य तीन को प्रत्यक्ष कहा है—

> "मतिश्रुतावधिमन पर्ययकेवलानि ज्ञानम्।
> आद्ये परोक्षम्।
> प्रत्यक्षमन्यत्॥" तत्वार्थ० सूत्र १ ६, ११, १२

अवधिज्ञान आदि तीनो ज्ञानो की परिभाषाए इस प्रकार हैं

अवधिज्ञान

जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की मर्यादा लिये हुए रूपी पदार्थों को जानता है वह अवधिज्ञान है। इसके मूल मे दो

भेद है भवप्रत्यय तथा क्षयोपशमनिमित्तक। क्षयोपशमनिमित्तक के वर्धमान, हीयमान आदि छह भेद है।

मन पर्ययज्ञान

जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना दूसरे के मन मे स्थित पदार्थ को जान लेता है, वह मन पर्ययज्ञान है। अवधिज्ञान की अपेक्षा यह ज्ञान अधिक विशुद्ध है, किन्तु यह केवल मनुष्यो के ही हो सकता है, जब कि अवधिज्ञान देव, नारकी आदि को भी हो सकता है। अवधिज्ञान मिथ्या भी होता, किन्तु मन.पर्यय-ज्ञान मिथ्या नही होता।

केवलज्ञान

जो ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना त्रिकालवर्ती रूपी-अरूपी सभी पदार्थों की सभी पर्यायो को युगपत जाने, वह केवलज्ञान है।

उपर्युक्त तीनो ज्ञान आत्मसापेक्ष ज्ञान है। इनमे इन्द्रिय और मन की अपेक्षा नही है। आत्मा की विशुद्धि के अनुसार इन ज्ञानो की प्रवृत्ति सूक्ष्म से सूक्ष्मतर पदार्थों की ओर होती है।

केवलज्ञानी या सर्वज्ञ

केवलज्ञान-सम्पन्न आत्मा को जैनो ने सर्वज्ञ कहा है। जैन शास्त्रो मे सर्वज्ञ-वाद का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। आगे सक्षेप मे इस पर विचार करेंगे।

इन्द्रिय सापेक्ष ज्ञान प्रत्यक्ष नही है

आत्म सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष मानकर जैन दार्शनिको ने इन्द्रिय सापेक्ष ज्ञान की प्रत्यक्षता को अस्वीकार किया है। इस विषय मे मुख्य तर्क ये हैं

१ इन्द्रिया जड हैं जब कि ज्ञान चेतन है। जड से चेतन ज्ञान उत्पन्न नही हो सकता।

२. इन्द्रिया आत्मा से भिन्न है इसलिए 'पर' हैं। परसापेक्षज्ञान परोक्ष ही होगा, प्रत्यक्ष नही हो सकता।

३ इन्द्रिय सापेक्ष ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने पर सर्वज्ञ की सिद्धि नही हो सकती। क्योकि इन्द्रियसापेक्ष ज्ञान सीमित तथा क्रम से प्रवृत्ति करने वाला होता है।

४ इसलिए पर से उत्पन्न होने वाला ज्ञान परोक्ष तथा जो केवल आत्मा से जाना जाए वह प्रत्यक्ष है -

"जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खत्ति भणिदमत्थेसु।
जं केवलेण णादं हवदि हु जीवेण पच्चक्खं ॥
प्रवचनसार गा० ५८

जैन दार्शनिक परम्परा मे प्रत्यक्ष का लक्षण और भेद

दार्शनिक परम्परा के जैन ग्रन्थो मे प्रत्यक्ष के लक्षण इस प्रकार मिलते है--

१ सिद्धसेन

अपरोक्षतयार्थस्य ग्राहकं ज्ञानमीदृशानु।
प्रत्यक्षमितरज्ज्ञेयं परोक्षं ग्रहणेच्छया ॥
न्यायावतार, श्लो० ४

२ अकलक

प्रत्यक्षलक्षण प्राहु स्पष्ट साकारमजसा।
--न्यायावि० श्लो० ३

३ माणिक्यनन्दि

विशद प्रत्यक्षम्। —परीक्षामुख सूत्र २ ३

४. हेमचन्द्र

विशद प्रत्यक्षम्। प्रमाणमी० १ १ ३

इस प्रकार दार्शनिक परम्परा मे विशद ज्ञान को प्रत्यक्ष माना गया। विशद का अर्थ अकलक ने इस प्रकार दिया है

अनुमानाद्यतिरेकेण विशेपप्रतिभासनम्।
तद्वैशद्य मत वुद्धेरवैशद्यमत परम् ॥

इसी को माणिक्यनन्दि ने इस प्रकार कहा है

प्रतीत्यन्तराव्यवधानेन विशेष्यवत्तया वा प्रतिभासन वैशद्यम्।
परीक्षा० सूत्र २।४

हेमचन्द्र ने लिखा है

प्रमाणान्तरान्पेक्षेदन्तया प्रतिभासो व वैशद्यम्।
प्रमाणमी० १।१४

प्रत्यक्ष की यह परिभापा दार्शनिक युग के घात-प्रतिघात का परिणाम प्रतीत होती है। क्योकि जैन और वौद्ध को छोडकर सभी भारतीय दर्शनो मे इन्द्रिय ज्ञान को प्रत्यक्ष माना है जव कि जैनो ने उसे परोक्ष माना। इस मान्यता के निरन्तर विरोध का परिणाम ही यह प्रतीत होता है कि अकलक ने प्रत्यक्ष की परिभापा विशद ज्ञान स्थिर की।

प्रत्यक्ष के भेद

जैन दार्शनिक परम्परा मे प्रत्यक्ष के मुख्य दो भेद किये गए हैं

१ साव्यवहारिक या लौकिक प्रत्यक्ष ।

२ मुख्य या पारमार्थिक प्रत्यक्ष ।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष दो प्रकार का है

विकल प्रत्यक्ष तथा सकल प्रत्यक्ष ।

मतिज्ञान साव्यवहारिक या लौकिक प्रत्यक्ष है । अवधिज्ञान तथा मन पर्यय-ज्ञान विकल प्रत्यक्ष है एव केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है ।

इस प्रकार दार्शनिक परम्परा मे प्रत्यक्ष के भेदो का दिग्दर्शन निम्न प्रकार होगा -
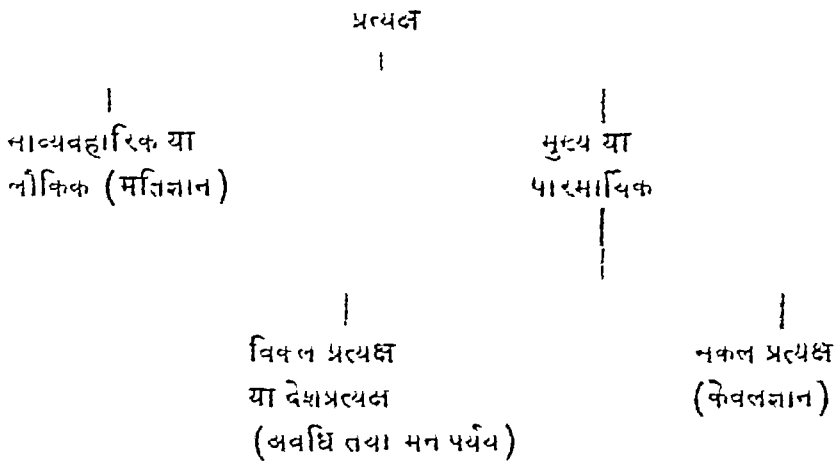
इस प्रकार प्रत्यक्ष के साव्यवहारिक या लौकिक प्रत्यक्ष मे इन्द्रिय ज्ञान को सम्मिलित करके दार्शनिक परम्परा ने लौकिक परम्परा का समायोजन किया है, दूसरी ओर मुख्य प्रत्यक्ष के विकल और सकल भेदो के अतर्गत अवधि, मन पर्यय तथा केवलज्ञान की गणना करके आगमिक परपरा का निर्वाह किया गया है । इनका विशेष विवेचन इस प्रकार है

साव्यवहारिक प्रत्यक्ष

पाच इद्रिया और मन, इन यथायोग्य छह कारणो से साव्यवहारिक प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है । इन्द्रिय और मन की अपेक्षा से इसके दो भेद कर सकते हैं

१ इद्रिय साव्यवहारिक

२ अनिन्द्रिय सांव्यवहारिक

इन्द्रिय साव्यवहारिक प्रत्यक्ष इन्द्रिय तथा मन दोनो की सहायता से उत्पन्न होता है जब कि अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष केवल मन की सहायता से उत्पन्न होता है।

ज्ञान का उत्पत्ति-क्रम

साव्यवहारिक प्रत्यक्ष चार भागो मे विभाजित है अवग्रह, ईहा, अवाय, धारणा। यही ज्ञान का उत्पत्ति-क्रम है। सर्वप्रथम ज्ञान अवग्रह के रूप मे उत्पन्न होता है। उसके बाद उसमे ईहा द्वारा विशेष ग्रहण होता है। तदनतर अवाय के द्वारा वस्तु स्वरूप का निश्चयात्मक ज्ञान होता है जो बाद मे धारणा के रूप मे स्थायित्व प्राप्त करता है। इस तरह इन चारो की परिभाषाए निम्न प्रकार होगी

१ अवग्रह वस्तु के साथ इन्द्रिय का सम्पर्क होने के बाद अर्थ का जो सामान्य ग्रहण रूप ज्ञान होता है, वह अवग्रह कहलाता है। जैसे किसी मनुष्य को देखकर 'यह मनुष्य है' इस रूप का सामान्य ज्ञान अवग्रह है

"अक्षार्थयोगे दर्शनानन्तरमर्थग्रहणमवग्रह ।"

प्रमाणमी० १।२६

अवग्रह दो प्रकार का होता है व्यजनावग्रह तथा अर्थावग्रह। अस्पष्ट ग्रहण को व्यजनावग्रह कहते हैं तथा स्पष्ट ग्रहण को अर्थावग्रह। आचार्य पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि (१ १८) मे एक दृष्टान्त द्वारा दोनो का भेद स्पष्ट करते हुए लिखा है जैसे मिट्टी के नये सकोरे पर जल के दो-चार छीटे देने से वह गीला नही होता, किंतु बार-बार पानी के छीटे देते रहने पर वह सकोरा धीरे-धीरे गीला हो जाता है। इसी प्रकार श्रोत्र आदि इद्रियो मे आया हुआ शब्द अथवा ग्रथ आदि दो-तीन क्षण तक स्पष्ट नही होते, किंतु बार-बार ग्रहण करने पर स्पष्ट हो जाते हैं। अत स्पष्ट ग्रहण से पहले व्यजनावग्रह होता है, बाद मे अर्थावग्रह। किंतु ऐसा कोई नियम नही है कि जैसे अवग्रह ज्ञान दर्शनपूर्वक ही होता है, वैसे अर्थावग्रह व्यजनावग्रहपूर्वक ही हो। क्योकि अर्थावग्रह पाचो इन्द्रियो तथा मन से होता है जब कि व्यजनावग्रह चक्षु और मन के अतिरिक्त शेष चार इंद्रियो से होता है।

व्यजनावग्रह केवल चार इन्द्रियो से मानने का कारण यह है कि जैन चक्षु तथा मन को अप्राप्यकारी मानते हैं। अर्थात् चक्षु और मन अन्य इद्रियो की तरह वस्तु से सस्पृष्ट होकर नही जानते, प्रत्युत अलग रहकर ही जानते है। यही कारण है कि जैनो ने नैयायिको के सन्निकर्ष का खडन किया है।

अवग्रह के विषय मे जैन आचार्यों ने विस्तार से विचार किया है, जिसमे पारस्परिक अतर भी उपलब्ध होता है। उसके विस्तार मे जाना प्रकृत मे अपेक्षित नही है।

ईहा

अवग्रह से ग्रहीत अर्थ मे विशेष जानने की आकाक्षा रूप ज्ञान को ईहा कहते हैं

अवगृहीतविशेषाकाक्षणमीहा । प्रमाणमी० १।२७

जैसे चक्षु के द्वारा शुक्ल रूप को ग्रहण करने के वाद उसमे यह पताका है या वगुलो की पक्ति है अथवा यदि किसी पुरुप को देखा तो यह किस देश का है, किस उम्र का है आदि जानने की आकाक्षा ईहा है ।

ईहा ज्ञान निश्चयोन्मुखी होने से संशय ज्ञान नही है । क्योकि संशय मे विरुद्ध अनेक कोटियो का ग्रहण होता है । ईहा मे यह वात नही है । अवग्रह के द्वारा गृहीत अर्थ ईहा के द्वारा निश्चयोन्मुखी होता है ।

अवाय या अपाय

अवग्रह द्वारा सामान्य रूप से गृहीत तथा ईहा द्वारा विशेष रूप से जानने के लिए ईहित अर्थ को निर्णयात्मक रूप से जानना अवाय है । कही-कही इसे अपाय भी कहा गया है । हेमचन्द्र ने अवाय का लक्षण इस प्रकार दिया है

ईहितविशेषनिर्णयोऽवाय ।

जैसे ईहा के उपर्युक्त उदाहरण मे पखो के फडफडाने आदि से यह निश्चयात्मक ज्ञान होना कि यह वगुलो की पक्ति ही है ।

धारणा

अवाय द्वारा निर्णीत वस्तु को कालान्तर मे न भूलना धारणा है । हेमचंद्र ने लिखा है

स्मृतिहेतुधारणा । प्रमाणमी० १।२९

जैसे सायकाल के समय सुवह वाली वगुलो की पक्ति को देखकर यह ज्ञान होना कि यह वही वगुलो की पक्ति है, जिसे मैने सुवह देखा था ।

ये अवग्रह आदि ज्ञान इसी क्रम से उत्पन्न होते है । इस क्रम मे कोई व्यतिक्रम नही होता । क्योकि अदृष्ट पदार्थ का अवग्रह नही होता, अनवगृहीत मे सदेह नही होता, सदेह के हुए विना ईहा नही होती । ईहा के विना अवाय नही होता और अवाय के विना धारणा नही होती ।

अवग्रह, ईहा तथा अवाय का काल एक-एक अन्तर्मुहूर्त है, किंतु धारणा का काल सख्यात अथवा असख्यात अन्तर्मुहूर्त है । ज्ञान के इस उत्पत्ति-क्रम मे समय का दीर्घतर व्यापार न होने से सभी ज्ञान एक साथ होते प्रतीत होते हैं । जैसे कमल के सौ पत्तो को सुई से एक साथ छेदने पर ऐसी प्रतीति होती है कि सारे पत्ते एक

ही समय में छेदे गए। काल-भेद सूक्ष्म होने से वह हमारी दृष्टि मे नही आता।

पूर्व-पूर्व का ज्ञान होने पर उत्तरोत्तर ज्ञान अवश्य हो ऐसा नियम नही, किंतु उत्तर ज्ञान तभी होगा जब पूर्व ज्ञान हो चुकेगा। यही इनका क्रम ज्ञान ही उत्पत्ति मे पाया जाता है।

अवग्रह आदि के अवांतर भेद

अर्थ के अवग्रह आदि चारो ज्ञान पाच इद्रियो तथा मन की सहायता से होते हैं। अतएव प्रत्येक के छह-छह भेद होने से चारो के चौवीस भेद होते हैं। व्यजनावग्रह केवल चार ही इद्रियो के निमित्त से होता है इसलिए उसके चार ही भेद हैं। इस प्रकार सब मिलाकर अट्ठाईस भेद होते हैं। दिगम्वर परपरा मे इनके वहु, वहुविध, क्षिप्र, अनिसृत, अनुक्त, अध्रुव तथा इनके विपरीत एक, एकविध, अक्षिप्र, निसृत, उक्त तथा ध्रुव ये वारह भेद मानकर सब तीन सौ छत्तीस भेद माने जाते हैं।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष

जो ज्ञान इन्द्रिय आदि की सहायता के विना केवल आत्मा से होता है उसे मुख्य या पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहते है। इसके दो भेद है (१) विकल प्रत्यक्ष या देश प्रत्यक्ष, तथा (२) सकल प्रत्यक्ष। विकल प्रत्यक्ष के दो भेद है—(१) अवधिज्ञान, (२) मन पर्ययज्ञान। इन सवका सामान्य स्वरूप पहले वताया है।

मुख्य या सकल प्रत्यक्ष

जो ज्ञान इद्रिय और मन की सहायता के विना केवल आत्मा से त्रिकालवर्ती समस्त द्रव्यो की सभी पर्यायो को एक साथ जानता है, उसे मुख्य या सकल प्रत्यक्ष कहते हैं। इसे केवलज्ञान भी कहते है। ज्ञानावरण कर्म के समूल नाश से आत्मा के ज्ञान स्वरूप का प्रकट होना केवलज्ञान हैं। हेमचद्र ने लिखा है

सर्वथावरणविलये चेतनस्य स्वरूपाविर्भावो मुख्य केवलम्।

प्रमाणमी० ११५

केवलज्ञान युक्त आत्मा को जैन दार्शनिको ने सर्वज्ञ कहा है। जैन शास्त्रो मे सर्वज्ञता का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है।

सर्वज्ञता की सैद्धातिक पृष्ठभूमि

जैन दर्शन मे आत्मा को ज्ञान गुण युक्त चेतन द्रव्य माना गया है। कर्मो के आवरण के कारण उसका यह ज्ञान गुण पूर्ण रूप से प्रकट नही होता। जैसे-जैसे कर्म का आवरण हटता जाता है, वैसे-वैसे ज्ञान का विकसित रूप प्रकट होता जाता

है। इस प्रकार जब आवरण सर्वथा हट जाता है तो निरावरण केवलज्ञान प्रकट होता है। इसे क्षायिक ज्ञान भी कहते हैं। केवलज्ञानी त्रिकालवर्ती सभी रूपी-अरूपी द्रव्यों की समस्त पर्यायों को एक साथ जानता है। कुंदकुंद ने लिखा है

> ज तक्कालियमिदर जाणदि जुगव समतदो सव्व।
> अत्थ विचित्त विसम त णाण खाइयं भणियं॥
> जो ण विजाणदि जुगव अत्थे तेकालिके तिहुवणत्थे।
> णादु तस्स ण सक्क सपज्जय दव्वमेक वा॥
> दव्वमणतपज्जयमेव मणताणि दव्वजादाणि।
> ण विजाणदि जदि जुगव कध सो सव्वाणि जाणादि॥
>
> प्रवचनसार १।४७-४९

सर्वज्ञसिद्धि का दार्शनिक आधार

सर्वज्ञ की उपर्युक्त सैद्धांतिक मान्यता को बाद के दार्शनिकों ने तार्किक आधार देकर सिद्ध किया है। मुख्य आधार अनुमान प्रमाण है। समतभद्र ने लिखा है

> सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा।
> अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरितिसर्वज्ञसंस्थितिः॥
>
> आप्तमीमांसा, श्लो० ५

सूक्ष्म पदार्थ परमाणु आदि, अन्तरित राम, रावण आदि, दूरार्थ सुमेरु पर्वतादि अग्नि आदि की तरह अनुमेय होने से किसी के प्रत्यक्ष अवश्य हैं। इस हेतु से सर्वज्ञ की सिद्धि होती है।

भट्ट अकलक ने सर्वज्ञता का समर्थन करते हुए लिखा है कि आत्मा में समस्त पदार्थों के जानने की पूर्ण सामर्थ्य है। संसारी अवस्था में उसके ज्ञान का ज्ञानावरण से आवृत होने के कारण पूर्ण प्रकाश नहीं हो पाता, पर जब चैतन्य के प्रतिबन्धक कर्मों का पूर्ण क्षय हो जाता है तब उस अप्राप्यकारी ज्ञान को समस्त अर्थों के जानने में क्या बाधा है (न्यायवि० श्लो० ४६५)। यदि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान न हो सके तो सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिर्ग्रहों की ग्रहण आदि भविष्यकालीन दशाओं का उपदेश कैसे हो सकेगा। ज्योतिर्ज्ञानोपदेश अविसंवादी और यथार्थ देखा जाता है। अत यह मानना अनिवार्य है कि उसका यथार्थ उपदेश अतीन्द्रियार्थ दर्शन के बिना नहीं हो सकता। जैसे सत्य स्वप्न दर्शन इन्द्रिय आदि की सहायता के बिना ही भावी राज्यलाभ आदि का यथार्थ स्पष्ट ज्ञान कराता है तथा विशद है, उसी तरह सर्वज्ञ का ज्ञान भी भावी पदार्थों में सवादक और स्पष्ट होता है। जैसे ईक्षणिकादि विद्या अतीन्द्रिय पदार्थों का स्पष्ट भान करा देती है, उसी तरह अतीन्द्रिय ज्ञान भी स्पष्ट प्रतिभासक होता है (सिद्धिवि० न्यायवि० आदि)।

हेमचद्र ने लिखा है

प्रज्ञातिशयविश्रान्त्यादिसिद्धेस्तत्सिद्धि । प्रमाणमी० १।१६

इस प्रकार अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञता का प्रतिपादन किया गया है।

सर्वज्ञता की सिद्धि मे बाधक प्रमाण का अभाव

अकलक ने सर्वज्ञता की सिद्धि मे एक और यह हेतु दिया है कि सर्वज्ञता की सिद्धि मे कोई भी बाधक प्रमाण नही है। बाधक का अभाव सिद्धि का बलवान् साधक है। जैसे 'मैं सुखी हू'—यह सुख का साधक प्रमाण यही हो सकता है कि मेरे सुखी होने मे कोई बाधक प्रमाण नही है। चूकि सर्वज्ञ की सत्ता मे कोई बाधक प्रमाण नहीं है, इसलिए उसकी निर्बाध सत्ता सिद्ध है। अकलक ने लिखा है

अस्ति सर्वज्ञ सुनिश्चितासभवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत्।
सिद्धिवि०

इसी सरणि पर बाद के जैन दार्शनिको ने सर्वज्ञसिद्धि का विस्तृत विवेचन किया है।

इस प्रकार जैन दार्शनिको ने प्रमाणशास्त्र की कसौटी पर भी आत्मतत्त्व की चरम प्रतिष्ठा की। भारतीय प्रमाणशास्त्र को जैन दार्शनिको का यह महत्त्वपूर्ण योगदान है।

जैनाचार्यों का गणित को योगदान

प्रो० लक्ष्मीचन्द्र जैन

आधुनिक गणित के इतिहास में महावीराचार्य के सिवाय सम्भवत एक-दो को छोड़कर अन्य जैन गणितज्ञ का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। इसी प्रकार ज्योतिष इतिहास में भी सम्भवत एक-दो को छोड़कर किसी भी जैन ज्योतिषी का उल्लेख नहीं है। यह विदेश की स्थिति है। साधारण साहित्य के रूप में ग्रंथों का उल्लेख व शोध, प्रकाशन आदि इंडालॉजिकल केंद्रों में हो जाने मात्र से इतिहास नहीं बन पाता। गणितीय शोध और वह भी अंतर्राष्ट्रीय भाषा में होने पर ही देश-विदेशों के गणित-विज्ञान के इतिहास में तथ्यों का समावेश हो पाता है और उन पर उत्तरोत्तर शोध हो सकती है तथा विकसित होने के अवसर आ सकते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि शोध किसी व्यक्ति विशेष की रचनाओं को लेकर हो, क्योंकि जैन विचारधारा का प्रवाह अज्ञात महर्षियों एवं विद्वानों द्वारा उद्वेलित हुआ और मात्र कुछ आचार्यों को छोड़ शेष ने परम्परागत उल्लेख कर अपना नाम भी प्रकट नहीं किया। अतएव यह बतलाना कठिन है कि रचनाकारों में मौलिक अंशदान करनेवाले कौन हैं तथा उनका मौलिक अंशदान कितना है। रचनाकार या तो संग्रहकर्ता थे अथवा टीकाकार। यह मूलभूत तथ्य था कि वर्द्धमान महावीर के समय अथवा आसपास ज्ञान के भंडार अप्रतिम रूप से भर गए थे, जिनको संभालने तथा परम्परा को हस्तगत करने में ही विशेष प्रयास होते रहे उन्हें और भी अन्य रहस्यों को उद्घाटित करने में विकसित करने के प्रयास प्राय नहीं हो पाए, तथा कालांतर में वे प्रयास रूढ़ियों का रूप भी लेते गए, अर्थात् जिस वैज्ञानिक कौतूहल को भारत ने अखिल विश्व में जागृत कर दिया था, वह भारत में ही समय पाकर सो गया।

पं० टोडरमल एवं उनके ग्रंथ

जैन मनीषियों में सर्वप्रथम हम पं० टोडरमल का उल्लेख करेंगे जिनकी

सम्यग्ज्ञान चद्रिका टीका, अर्थ सदृष्टि अधिकार तथा त्रिलोकसार टीका, एवं लब्धिसार क्षपणसार की टीका विशेष रूप से गणितीय सामग्री के अभूतपूर्व भडार है। इनमे लोकोत्तर गणित की गहनतम पहुच है जिसे सभालने मे प० टोडरमल जैसी प्रतिभा ही कार्य कर-सकने मे सक्षम थी। यह अत्यत दुखद प्रसग है कि उनका जीवनकाल (प्राय ई० १७४०-१७६८) अत्यत अल्प रहा, अन्यथा उनकी समकालीन विदेशो की विद्वानो की पक्ति उनसे अतीव लाभान्वित होती और राशि सिद्धात के पुन आविष्कार को केंटर द्वारा १८८० के लगभग प्रकट होने का अवसर और भी पहले उपस्थित हो गया होता।

प० टोडरमल के समक्ष गोम्मट सारादि की वृहद् टीकाए थी और पट्खडागम मूल ग्रथो को छोडकर शेप परपरागत सदृष्टिमय अलौकिक गणित सहित अन्य टीकाए थी। किंतु उन टीकाओ के रहस्य को वतलाने वाला कोई भी गुरु उपलब्ध नही था। सभवत गणित-शिक्षण की परपरा का तव तक लोप हो चुका था और लोकोत्तर गणित की सदृष्टियो के विभिन्न रूपो का परिकर्माष्टक मे उपयोग का प्रचलन वहुत कुछ समाप्त हो चुका था। उनका उचित वोध न होने के कारण अशुद्धि होने के भय से पडितवर्ग भी उनका शोध करने मे सकोच का अनुभव करते थे। किंतु इस चुनौती को प० टोडरमल ने स्वीकार किया और मौलिक रूप से दो अर्थ सदृष्टि अधिकार लिखे। प्रथम अधिकार गोम्मटसार की टीका को समझने के लिए है जो प्राय ३०८ पृष्ठो मे है। दूसरा अधिकार लब्धिसार एव क्षपणसार को विदित करने हेतु है जो प्राय २०७ पृष्ठो मे है। ये अर्थ सदृष्टि अधिकार तथा गोम्मटसार एव लब्धिसार-क्षपणसार की वडी टीकाओ को प्रकाशित करने का श्रेय गाधी हरिभाई देवकरण ग्रथमाला, कलकत्ता, को है तथा उन पडितो को है जिन्होने प्राय १९१० के लगभग पवित्र प्रेस मे कपडो के वेलन वनाकर अथक और अपार परिश्रम के पश्चात् शोधादि सस्करण कर प्रकाशित कराने मे तन-मन-धन को अर्पित कर दिया। अव ये उपलव्ध नही हैं।

पडित टोडरमलकृत त्रिलोकसार की टीका का आधार माधवचद्र त्रैविद्यकृत सस्कृत टीका है। इसमे तिलोयपण्णत्ती, त्रिलोकसार विषयक गणितीय सामग्री है। गणितीय अतर्दृष्टि से ओतप्रोत प० टोडरमल ने दर्शन पर अपने मौलिक विचार प्रकट किए जो वैज्ञानिक खोज की भावना से पूर्ण थे।

यतिवृषभाचार्यकृत तिलोयपण्णत्ती

इसके दो भागो का गणित जवूद्वीप प्रज्ञप्ति सग्रह (शोलापुर, १९५८) की प्रस्तावना रूप मे छप चुका है। इस ग्रथ मे पूर्ववर्ती रचनाओ का उल्लेख मिलता है अग्गायणिय, दिट्ठिवाद, परिकम्म मूलायर, लोय विणिच्छिय, लोय विभाग, लोगाइणि। यह ग्रथ मुख्यत करणानुयोग का है। स्वय तिलोयपण्णत्ति के

उल्लेखानुसार प्रस्तुत ग्रंथ का कर्तृत्व अर्थ और ग्रंथ के भेद से दो प्रकार का है। लोकातीत गुणों से संपन्न भगवान् महावीर इसके अर्थकर्ता हैं। उनके पश्चात् यह ज्ञान परपरागत है। ग्रंथकर्ता ने आदि में या पुष्पिकाओं में न तो अपने गुरुओं का कोई उल्लेख किया और न स्वयं अपना नाम-निर्देश। उन्होंने तिलोयपण्णत्ति का प्रमाण बतलाने के लिए संभवत अपनी ही दो अन्य रचनाओं पूर्णिस्वरूप और (षट्-) करण स्वरूप का उल्लेख किया है। इद्रनंदि के श्रुतावतार के अनुसार उन्होंने आचार्य नागहस्ति और आर्यमिक्षु से कषायप्राभृत सूत्रों का अध्ययन कर वृत्ति रूप से चूर्णिसूत्रों की रचना की जिनका प्रमाण छह हजार ग्रंथ था। यतिवृषभ शिवार्य, वट्टकेर, कुदकुद आदि जैसे ग्रंथ-रचयिताओं के वर्ग के हैं, और तिलोयपण्णति उन आगमानुसारी ग्रंथों में से है जो पाटलिपुत्र में सगृहीत आगम के कुछ आचार्यों द्वारा अप्रमाणित एव त्याज्य ठहराए जाने के पश्चात् शीघ्र ही आचार्यानुक्रम में प्राप्त परपरागत ज्ञान के आधार से स्मृति सहायक लेखों के रूप में सगृहीत किए गए। वीरसेन ने उन्हे अज्जमखु के शिष्य तथा नागहत्थि के अतेवासी कहा है। (स्व० डॉ० ही० ला० जैन ति० प०, २, पृ० आदि) हाल ही में इस ग्रंथ और त्रिलोकसार ग्रंथ के ज्योतिर्विबो के गमन पर एक शोध प्रकाशनार्थ भेजा गया है। गणित इतिहास के लिए इस ग्रंथ से अभूतपूर्व सामग्री प्राप्त हुई है। विदेशो में तिलोयपण्णत्ति के गणित का आग्ल अनुवाद अत्यत शीघ्र फलदायी सिद्ध होगा।

लोक विभाग

लोक विभाग ग्रंथ मूल प्राकृत में संभवत सर्वनदि द्वारा प्राय ४५८ ई० में रचित हुआ, जिसका सस्कृत सार सिंहसूरि ने सभवत ग्यारहवीं सदी के पश्चात् रचा है। करणानुयोग का एक और ग्रंथ 'जबूदीव पण्णत्ति संगहो' है जिसे बलनदि के शिष्य पद्मनदि (प्राय ११वीं सदी ई०) ने रचा। इसका स्रोत सभवत 'दीप-सागर-पण्णत्ति' रहा होगा जो चौथा परिकर्म (दृष्टिवाद) है। इस ग्रंथ का साम्य या वैषम्य निम्नलिखित ग्रंथों से दिखाई देता है तिलोयपण्णत्ती, मूलाचार, त्रिलोकसार, जबूद्वीप प्रज्ञप्ति सूत्र, ज्योतिष्करड बृहत्क्षेत्रसमास और वैदिक ग्रंथ।

इस प्रकार करणानुयोग के परपरागत ग्रंथों में संख्या सिद्धात, ज्यामिति अवधारणाएं, अक गणना, बीजगणित, मापिकी (ज्यामिति विधिया) और ज्योतिष सबधी गणनाएं जो सभी राशि सिद्धात पर आधारित हैं। ज्योतिष बिंबों के गमन को गगनखडो के आधार पर वर्णित किया गया है और उनकी स्थिति दो विमाओं, मेरु से दूरी तथा पृथ्वी तल से ऊंचाई द्वारा दर्शाई गयी है। त्रिलोकसार में कृतराहु का भी वर्णन है जिससे नक्षत्र एव राशि (zodiac) का सहसबध एव उपरोक्त

नर्मी मे पचाग के लिए न्यास तैयार किया जा सकता है। औसत कोणीय वेग के सिवाय परिवर्तनशील वेगो का भी उल्लेख है। दो सूर्य और दो चद्रादि प्रणाली यूनान मे पिथेगोरीय युग मे प्रचलित थी जिसका उपयोग मभवत ग्रहण की गणना के लिए होता था, पर इस प्रणाली मे हमे केवल एक प्रति-भुऊ ग्रह का ही उल्लेख मिला है।

श्वेतावर परपरा के ग्रथ

श्वेतावर परपरा मे अर्धमागधी जैनागम के रूप मे सूर्य पण्णत्ति, जवूदीव-पण्णत्ति, चदपण्णत्ति सकलित हैं जिनमे प्रथम के रचयिता भद्रवाहु आचार्य (प्राय ई० पू० तीसरी शताब्दी) माने गए हैं। ये तीनो ग्रथ मलयगिरि (प्राय ई० ग्यारहवी शताब्दी) की टीका रूप हैं। सूरियपण्णत्ति मे २० पाहुड हैं जिनके अंतर्गत १०८ सूत्रो मे सूर्य, चद्र व नक्षत्रो की गतियो का विस्तृत वर्णन है। जवूदीवपण्णत्ति की मलयगिरि वाली टीका उपलब्ध नही है। इस पर धर्मसागरोपाध्याय (वि० स० १६३९) तथा पुण्यसागरोपाध्याय (वि० स० १६४५) ने टीकाओ की रचना की। चद्र प्रज्ञप्ति का विषय सूर्य प्रज्ञप्ति से विलकुल मिलता है। इसमे २० प्राभृतो मे चद्र के परिभ्रमण का वर्णन है। सूर्यप्रज्ञप्ति मे दो सूर्य, दो चद्रादि विवरण, सूर्य की परिवर्तनशील गति, १८ मुहूर्त्त का दिन, १२ मुहूर्त्त की रात्रि आदि, पच वर्षात्मक युग के अयनो के नक्षत्र, तिथि और माम का वर्णन मिलता है। इसी प्रकार चद्र प्रज्ञप्ति मे सूर्य की योजनात्मक गति, सूर्य-चद्र के आकार, चद्र गति, छायासाधन, सूर्य के मडल, चद्र के साथ योग करने वाले नक्षत्र, ज्योतिर्विवो की ऊचाई, सूर्य-चद्र ग्रहण आदि का विवरण मिलता है। द्वीपसागर प्रज्ञप्ति अप्रकाशित है। इन ग्रथो के गणित भाग पर अभी कोई शोध देखने मे नही आया।

इनके सिवाय जिनभद्रगणि (ई० ६०९) के वृहत्क्षेत्र समास (क्षेत्रसमास प्रकरण) पर मलयगिरि की टीका है। वृहत्सग्रहणी पर भी मलयगिरि आदि की टीकाए हैं। हरिभद्र सूरि (प्राय ७५० ई०) ने लघु सघयणी (जवू द्वीप सग्रहणी) की रचना की। सोमतिलक सूरि ने चौदहवी सदी मे नव्य वृहत्क्षेत्रसमास की रचना की और रत्नशेखर सूरि (प्राय १४३९ ई०) ने लघु क्षेत्र समास की रचना की।

जिस प्रकार दिगम्बर परम्परा मे त्रिलोक प्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, त्रिलोक-सार और लोक विभाग आदि लोकानुयोग ग्रथ उपलब्ध हैं उसी प्रकार श्वेताम्वर परम्परा मे वृहत्क्षेत्रसमास, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, प्रवचनसारोद्धार, वृहत्सग्रहणी और लोकप्रकाश आदि अनेक ग्रन्थ पाये जाते हैं। वृहत्क्षेत्रसमास व त्रिलोकप्रज्ञप्ति आदिक ग्रथो मे गणित नियमो मे प्राय समानता है। उदाहरणार्थ परिधि, वाण, क्षेत्रफल आदि निकालने मे करण सूत्रो मे (ति० प०, २, पृ० ७५) कुछ विशेषताए

भी हैं। इसी प्रकार अन्य ग्रंथों से भी तुलना की जा सकती है। आर्यरक्षित द्वारा रचित अनुयोगद्वार में भी गणित के विषय हैं। इसकी टीकाएं जिनदास गणि, हरिभद्र सूरि और मलधारि हेमचन्द्र द्वारा रची गयीं। उपलब्ध बृहत्संग्रहणी के सकलनकर्ता मलधारि हेमचन्द्र सूरि के शिष्य चन्द्रसूरि (ई० बारहवीं शती) हैं। उक्त समस्त रचनाओं से सम्भवत प्राचीन ज्योतिष करण्डक है जिसे मुद्रित प्रति में पूर्वभृद् वालभ्य प्राचीनतराचार्य कृत कहा गया है। उपलब्ध ज्योतिष करण्डक प्रकीर्णक में ३७६ गाथाएं हैं, जिनमें सूर्यप्रज्ञप्ति का सार लिखने का प्रारम्भ में उल्लेख है। इसमें काल प्रमाण, मान, अधिक मास-निष्पत्ति, तिथि-निष्पत्ति, ओम-रत नक्षत्र परिमाण, चन्द्र-सूर्य-परिमाण, नक्षत्र-चन्द्र-सूर्य-गति, नक्षत्रयोग, मण्डल विभाग, अयन, आवृत्ति, मुहूर्तगति, ऋतु, विषुवत्, व्यतिपात, ताप, दिवसवृद्धि, पौर्णमासी, प्रनष्ट पर्व और पौरुषी ये २१ पाहुड हैं। इसमें नक्षत्र-लग्न का प्रति-पादन है। पूर्वाचार्य रचित यह आगम वलभी वाचना के अनुसार सकलित है। इस पर पादलिप्त सूरि ने प्राकृत टीका की रचना की थी। इस टीका के अवतरण मलयगिरि ने इस ग्रंथ पर लिखी गयी अपनी संस्कृत टीका में दिये हैं। यहां गणि-विज्जा (८२ गाथाएं) ज्योतिष ग्रथ भी उल्लेखनीय हैं, जिसमें होरा शब्द का प्रयोग हुआ है।

आचार्य नेमिचन्द्र के ग्रथ

द्रव्यानुयोग के पाठ्य ग्रंथों के रूप में आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती का योगदान अनुपम है। उन्होंने गणित को केन्द्रीयभूत कर समस्त पूर्व आचार्यों के विस्तृत ज्ञान को साराश में सूत्रबद्ध किया ताकि वे विद्यार्थियों और गृहस्थों के सामान्य पठन में सुविधाजनक सिद्ध हो। षट्खण्डागम और उनकी धवला टीका के आधार से गोम्मटसार जीवकाड और कर्मकाड की रचना हुई जिनमें क्रमश ७३३ और ९६२ गाथाएं हैं। नेमिचन्द्र ने अपनी कृति के अंत में कहा है, "जिस प्रकार चक्रवर्ती षट्खंड पृथ्वी को अपने चक्र द्वारा सिद्ध करता है, उसी प्रकार मैंने अपनी बुद्धि रूपी चक्र से षट्खण्डागम को सिद्ध कर अपनी इस कृति में भर दिया है। इसी सफल सैद्धान्तिक रचना ने उन्हें सिद्धान्त चक्रवर्ती की उपाधि से विभूषित कर दिया। सभवत त्रैविद्यदेव की उपाधि को आचार्य धारण करते थे, जो इस षट्-खण्डागम के प्रथम तीन खडों के पारगामी हो जाते थे, जैसे प्रसिद्ध टीकाकार माधव चद्र त्रैविद्य। नेमिचन्द्र ने अपनी कृति गोम्मटराय के लिए निर्माण की थी। गोम्मट गगनरेश राचमल्ल के मत्री चामुडराय का एक उपनाम था। इसका अर्थ 'सुन्दर' है। इन्हीं चामुडराय ने गोम्मटसार पर कन्नड में एक वृत्ति लिखी थी जो अब प्राप्य नहीं है। उन्होंने मैसूर के श्रवण बेलगोल के विन्ध्यगिरि पर बाहुबलि की मूर्ति का उद्घाटन कराया था, जो कलात्मक सौन्दर्य के लिए अप्रतिम है।

नेमिचन्द्र आचार्य के अन्य ग्रथ द्रव्य सग्रह, लब्धिसार एव त्रिलोकसार हैं। वास्तव मे उन्होने लब्धिसार ग्रथ ही लिखा है जो लब्धिसार-क्षपणसार के नाम से प्रसिद्ध हो गया है। क्षपणसार की प्रशस्ति के अनुसार इसे माधवचन्द्र त्रैविद्य ने वाहुवलि की प्रार्थना से लिखकर ई० सन् १२०३ मे पूर्ण किया था। लब्धिसार ग्रथ चामुडराय के प्रश्न के निमित्त से नेमिचन्द्र आचार्य निर्मित किया जो कषाय प्राभृत नामक जयधवल के सिद्धान्त के पन्द्रह अधिकारो मे से पश्चिम स्कध नाम के पद्रहवे अधिकार के अभिप्राय से गर्भित है। इसकी संस्कृत टीका उपरामचरित्र के अधिकार तक के शववर्णीकृत मिलती है, आगे के क्षयणधिकार की नही। इसकी भापा टीका पडित टोडरमल ने वनाई है। उन्होने लिखा है कि उपशय-चरित्र तक तो सस्कृत टीका के अनुसार व्याख्यान किया गया है। किंतु कर्मों के क्षयणाधिकार के गाथाओ का व्याख्यान माधवचद्र त्रैविद्य कृत सस्कृत गद्य रूप क्षपणसार के अनुसार अभिप्राय शामिल कर किया गया है। इसीलिए इस ग्रथ का नाम लब्धिसार क्षपणसार है। इस ग्रथ पर गणितीय शोध करने के पूर्व गोम्मटसार के गणित मे सक्षम होना आवश्यक है। जीव के गुणस्थान एव मार्गणास्थान सम्वन्धी सख्यात्मक, असख्यात्मक एव अनन्तात्मक राशियो के वोध के पश्चात् उनकी भाव राशिया तथा कर्म राशिया जानना आवश्यक है। गोम्मटसार का गणित हम लोगो ने सुगम्य अनुभव किया है, जहा वध के उदय, सत्त्व निर्जरा आदि की गणितीय प्रक्रियाए वोधगम्य हैं। किंतु लब्धिसार और क्षपणसार के गणित की गहराई कुछ और है, जहा रेखिकीय आकृतिया और कर्म की प्रक्रियात्मक राशिया अधिक जटिल-सी दृष्टिगत होती हैं।

इसकी रहस्यात्मक गणितीय शोध मे वीस-पचीस वर्ष सहज ही वीत जायेंगे, ऐसा प्रतीत होता है, क्योंकि जिन वुनियादो पर यह लब्धि और क्षपणा के गणितीय सिद्धात, सम्वन्ध आदि दिये गये है उनको समझाने वाला कोई दृष्टिगत नही होता हैं। जिज्ञासा यह है कि किन प्रयोगो के आधार पर ये सिद्धान्त वनाये गए क्या वे प्रयोग अव दिखलाये जा सकते हैं अथवा स्वय अनुभूत किए जा सकते हैं ? इस हेतु कुछ सीमा तक क्वाटम यान्त्रिकी का स्पेक्ट्रल सिद्धात और आटोमेटा का सिद्धात हमे सहायता कर सकता है, क्योकि आटोमेटा (सिस्टम सिद्धात) मे आस्रव (input), सत्त्व (state) तथा उदयनिर्जरा (output) के सिद्धात राशि सिद्धात पर आधारित कर विगत वीस वर्षो मे चद्र-यात्रा जैसे प्रयोगो को सफल वनाकर उच्चतम श्रेणी की विज्ञान पद्धति को जन्म दे चुके है। नियंत्रण (control) आदि सिद्धान्त जो भौतिक रूप मे उभर चुके हैं वे जैनाचार्यो ने प्राय २०००-२५०० वर्ष पूर्व गुणस्थान आदि रूप मे जीव-भौतिकी रूप को सर्वोत्कृष्ट-विज्ञान की उच्चतम पहुच मे निखार दिया था। इसे समझने हेतु अव टीम-वर्क की नितान्त आवश्यकता है, जहा गणित के उच्चतम साधक और साधन उपस्थित हो वहा यह

फलीभूत हो सकेगा ।

यदि हम अणुशक्ति पर नियत्रण अहिंसात्मक चाहते हैं तो निश्चित ही हमें आत्म-भावशक्ति के नियत्रण के आविष्कार की कहानी को प्रयोगात्मक रूप में उतारना होगा और वह तभी सफल होगा जब कि हम सिद्धात के रूप को गणित द्वारा तथा पास्चुलेट्स द्वारा आधुनिक वैज्ञानिक को विश्वास मे ला सकेंगे । इस हेतु विपुल सामग्री जो गणित से ओतप्रोत है वह उपरोक्त गोम्मटसारादि जो जीव-तत्व-प्रदीपिकादि टीकाओ मे उपलब्ध हैं और जिसका उपयोग हमे समय रहते कर लेना है ताकि हम आधुनिक विज्ञान और गणित की नवीनतम सीमाओं को शीघ्र ही आगे ढकेलकर श्रेय स्वतत्र-भारत को दे सकें, जहा अहिंसा के आधार पर ही हम समस्त जगत् को स्वतत्रता-प्राप्ति हेतु जागृत कर सके और अहिंसात्मक आदोलन को जन्म दे सकें । हमे गणितीय सिद्धातो द्वारा यह विश्वास दिलाना है कि कषाय के नियत्रण से योग को इस प्रकार सचालित किया जा सकता है कि तीर्थ की उत्पत्ति हो सके अर्थात् जीवो का अधिकतम कल्याण हो सके । मोह या कषाय जितना कम होगा, उतना ही विशुद्धि होगी, और कल्याणकारी शक्तियों का उतना ही स्रोत प्रवाह शृखलाबद्ध क्रिया की भाति होगा ।

धवला जयधवला टीकाए

अब हम धवला और जयधवला टीकाओं के रचयिता वीरसेनाचार्य की ओर ध्यान देंगे । गणित की दृष्टि से इन टीकाओ का भी बड़ा महत्व है । इन टीकाओं मे अनेक ऐसे प्रकरण स्पष्ट किए गए हैं तथा सुलझाये गए हैं जो षट्खडागम के गूढार्थों के रहस्य से भरे हुए हैं और उन विधियो पर आधारित हैं जो टीकाकार से प्राय एक हजार वर्ष से पूर्व प्रचलित रही होंगी । यद्यपि षट्खंडागम पर कुद-कुद, श्यामकुड, तुम्बुलू, समंतभद्र और बलदेव द्वारा टीकाए लिखी गयी पर वे अप्राप्य हैं । धवला टीका वीरसेन ने ई० सन् ८१६ मे पूर्ण की । इसमे प्राय बहत्तर हजार श्लोक हैं । टीकाकार के समक्ष जैन सिद्धात विषयक विशाल साहित्य था । उन्होंने सत कम्म पाहुड, कषाय पाहुड, सम्मति सुत्त, तिलोयपण्णत्तिसुत्त, पचत्थि पाहुड, तत्वार्थसूत्र, आचाराग, वट्टकेर कृत मूलाचार, पूज्यपाद कृत सारसग्रह, अकलक कृत तत्वार्थभाषा, तत्वार्थ राजवार्तिक, जीव समास, छद सूत्र, कम्मपवाद, दशकरणी सग्रह, आदि के उल्लेख किये हैं । गणित सम्बन्धी विवेचन मे परिकर्म का उल्लेख किया है । अनेक स्थलो पर उन्होने गणित का आश्रय लेकर सूत्रों का अर्थ और प्रयोजन सिद्ध किया है । कुछ प्रसगो पर उन्हे स्पष्ट आगम परपरा प्राप्त नहीं हुई, तब उन्होंने अपना स्वय स्पष्ट मत स्थापित किया है और यह कह दिया है कि शास्त्र प्रमाण के अभाव मे उन्होंने स्वय अपनी युक्ति बल से अमुक बात सिद्ध की है । दार्शनिक एव गणितीय विषयो पर उनका विवेचन पूर्ण और निर्णय

स्पष्ट है। कषाय पाहुड की रचना २३३ मूल गाथाओ के रूप मे संभवत आचार्य वरसेन के समकालीन आचार्य गुणधर द्वारा हुई जिस पर यतिवृषभाचार्य ने आर्य-मक्षु एव नागहस्ति से शिक्षा ग्रहण कर छह हजार श्लोक प्रमाण वृत्ति सूत्र लिखे, जिन्हें उच्चारणाचार्य ने पुन पल्लवित किये। इन पर वीरसेनाचार्य ने वीस हजार श्लोक प्रमाण अपूर्ण टीका लिखी और स्वर्गवासी हुई। उनके शिष्य आचार्य जिनसेन ने चालीस हजार श्लोक प्रमाण टीका और लिखकर उसे पूर्ण किया। उन्होने वीरसेन के सम्वन्ध मे लिखा है

यस्य नैसर्गिकी प्रज्ञा दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनीम्।
जाता सर्वज्ञ-सद्भावे निरारेका मनस्वित॥

वीरसेनाचार्य की दृष्टि वैज्ञानिक थी और अन्त प्रेरणा गणितीय स्रोतो से परिप्लावित थी। डॉ० अवधेशनारायण सिह ने केवल द्रव्यप्रमाणानुगम भाग से, तथा कुछ और सम्भवत आगे के भाग से शाकव गणित, वीजगणित तथा राशि गणित सम्वन्वी प्रारम्भिक गणितीय खोजो को अपने लेखो मे प्रकट किया है और गमीरतापूर्वक स्पष्ट किया है कि ये ग्रंथ भारत के गणित के इतिहास के ऊवतम युग सम्वन्धी समस्याओ को सुलझाने मे सहायक सिद्ध होंगे। उन्होंने ही प्रथम वार अर्द्धच्छेद को लागएरिथ्म टू दा वेस टू के रूप मे पहचाना। इन टीकाओ मे वडी सख्याओ का उपयोग, वर्गन सवर्गन क्रिया, शलाका गणन, विरलन देय गुणन, अनन्त-राशियो का कलन, राशियो के विश्लेषण हेतु अनेक विधिया आदि का समावेश है। इन्हे तथा तिलोय पण्णत्ति के कई स्थलो को समझने हेतु पडित टोडर-मल की टीकाओ से होकर गुजरना आवश्यक होगा, अन्यथा कई स्थानो पर विद्यार्थी उलझ जाएगा। तिलोय पण्णत्ति मे भी दृष्टिवाद से अवतरित जम्बूद्वीप की परिधि का माप, उपमा प्रमाण, विविव क्षेत्रो का घनफल निकालने की विधिया, वाण, जीवा, वनुप पृष्ठ आदि मे सम्वन्व, धनुपक्षेत्र का क्षेत्रफल, सजातीय तथा सम-क्षेत्र वनफल वाली आकृतियो का रूपातर एव उनकी भुजाओ के वीच सवध आदि दिए गये हैं। इनकी कुछ सामग्री वीरसेन की धवला टीका मे भी दृष्टिगत होती है।

वीरसेन के प्राय समकालीन महावीराचार्य के गणितसार सग्रह का उद्धार १९१२ मे मद्रास के प्रोफेसर रगाचार्य द्वारा हुआ जिसने यह सिद्ध कर दिया कि भारत के सुदूर दक्षिण मे भी उत्तर के विद्या-केंद्रो की भाति गणित विद्या के केंद्र थे। महावीराचार्य ने अपने समय के नृपतुग अमोघवर्प के आश्रय मे रहकर, पूर्व-वर्ती गणितज्ञो के कार्य मे कुछ सुवार किया, नवीन प्रश्न दिये, दीर्घवृत का क्षेत्रफल निकाला तथा मूलवद्ध और द्विघातीय समीकरणो मे सुन्दर ढग से पहुच की। उन्होंने शून्य द्वारा विभाजन (सभवत राशि सिद्धात पर आधारित) प्रस्तुत किया। सकेतनात्मक स्थान वतलाये और भाग देने की एक वर्तमान विधि का कथन किया।

सर्वसमिकाएं प्रस्तुत की और कूट स्थिति द्वारा कई प्रश्न हल किए। काल्पनिक राशि के आविष्कारक वही थे क्योंकि उन्होंने ही सर्वप्रथम उन्हें पहचानकर अद्वितीय प्रतिभा का परिचय दिया। उन्होंने व्यापकीकृत पद्धतिवाले एकघातीय समीकरणों के हल करने के नियम दिए और अनेक अज्ञात वाले युगपत् द्विघातीय समीकरणों को हल किया। महावीराचार्य द्वारा 'ज्योतिष पटल' ग्रंथ भी रचित किए जाने की सम्भावना डॉ० नेमिचंद्र शास्त्री ने प्रकट की है। उनका ग्रंथ लौकिक गणित ग्रंथ है और उन्होंने संकेत किया है

इतिसंज्ञा समासेन भाषिता मुनि पुङ्गवैः ।

विस्तरेणागमाद्वेद्य वक्तव्य यदितः परम् ॥ १-७० गो०सा०सं०

षट्खंडागम सिद्धांत ग्रंथ में हमने राशि सिद्धांत और राशि संरचना सिद्धांत गहराई से तथा आधुनिक गणितीय साधनों से विश्लेषित किए हैं, जिन पर शोध-पत्र प्रकाशित होने वाले हैं। षट्खंडागम की रचना के संबंध में और आचार्य धरसेन तथा उनके अत्यन्त प्रतिभाशाली शिष्यों आचार्य पुष्पदंत एवं भूतवलि के सम्बन्ध में धवला ग्रंथों में विशेष परिचय मिलता है। आचार्य धरसेन से कसौटी में पूर्ण निपुण उतरकर इन शिष्यों ने उनसे दूसरे अग्रायणी पूर्व के अन्तर्गत चौथे महाकर्म प्रकृति प्राभृत का ज्ञान प्राप्त किया। आचार्य पुष्पदन्त ने जिनपालित को दीक्षा देकर, गुणस्थानादि बीस-प्ररूपणा-गर्भित सत्प्ररूपणा के सूत्रों की रचना की और जिनपालित को पढ़कर उन्हें भूतवलि आचार्य के पास भेजा। उन्होंने जिनपालित के पास बीस-प्ररूपणा-गर्भित सत्प्ररूपणा के सूत्र देखे और उन्हीं से यह जानकर कि पुष्पदन्त आचार्य अल्पायु हैं, अतएव महाकर्म प्रकृति प्राभृत का विच्छेद न हो जाए, यह विचार कर उन्होंने (भूतवलि ने) द्रव्यप्रमाणानुगम को आदि लेकर आगे के ग्रंथ की रचना की। श्रुतपंचमी को समारोह कर उन्होंने पुस्तकारूढ षट्खण्ड रूप आगम को जिनपालित के हाथ आचार्य पुष्पदन्त के पास भेजा जो कार्य की सम्पन्नता पर अत्यन्त प्रसन्न हुए। पुन. इस सिद्धांत ग्रंथ की उन्होंने चतुर्विध संघ के साथ पूजा की। यह इस तथ्य का द्योतक है कि उन्हें ज्ञान के प्रति कितनी निष्ठा और प्रेम था। इंद्रनन्दि के श्रुतावतार के अनुसार षट्खंडागम के आद्य भाग पर कुन्दकुन्द आचार्य के द्वारा रचित परिकर्म का उल्लेख मिलता है। इस ग्रंथ का उल्लेख षट्खंडागम के विशिष्ट पुरस्कर्ता वीरसेन आचार्य ने अपनी टीका में कई जगह किया है। इस प्रकार परिकर्म के गणितीय अंश का अभी ज्ञान नहीं है। हो सकता है कि उसमें राशि सिद्धांत और शलाका गणन आदि का प्रथम, सुलभ, सुगम्य रूप विस्तृत रूप से वर्णित हो। षट्खंडागम की परंपरा की द्वितीय महत्त्वपूर्ण रचना पंचसंग्रह है जिसमें जीवसमास, प्रकृति समुत्कीर्तन, कर्मस्तव, शतक और सत्तरि पर क्रमश. २०६, १२, ७७, १०५ और ७० गाथाएं हैं। इसे टीकाकार प्रभाचंद्र द्वारा लघुगोम्मटसार सिद्धांत कहा गया है जो प्राय ई० सत्रहवीं

सदी में हुए। इसी ग्रंथ के आधार पर अमितगति ने ई० सन् १०१६ में संस्कृत श्लोकबद्ध पंचसंग्रह की रचना की।

गणित के अन्य ग्रंथ

श्वेताम्बर परंपरा में भी कर्म ग्रंथों का बड़ा महत्त्व है। नन्दीसूत्र में दृष्टिवाद के पांच भाग बतलाये हैं परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत (चौदह पूर्व), अनुयोग और चूलिका। परिकर्म के द्वारा सूत्रों को यथावत् समझने की योग्यता प्राप्त की जाती है। 'पूर्वधर' नाम से विख्यात विक्रम की लगभग पांचवीं सदी के आचार्य शिवकर्म सूरि ने कम्म पयडि (कर्म प्रकृति) और सयग (शतक) की रचना की है। कर्म प्रकृति में ४७५ गाथाओं में बंधन, संक्रमण, अपवर्तन, उदीरणा, उपशमना, उदय और सत्ता का विवेचन है। ये कर्म संबंधी आठ करण हैं। इस पर चूर्णी भी लिखी गयी है। मलयगिरि और यशोविजय (अठारहवीं सदी) ने इस पर टीकाएं लिखी हैं। सयग पर भी मलयगिरि ने टीका लिखी है।

पार्श्वऋषि के शिष्य चन्द्रर्षि महत्तर ने पंचसंग्रह की रचना की है जिसमें ९६३ गाथाएं हैं। ये सयग, सत्तरि, कषाय पाहुड, छकम्म और कम्मपयडि नाम के पांच द्वारों में विभक्त हैं। गुणस्थान, मार्गणा, समुद्घात, कर्मप्रकृति तथा बंधन, संक्रमण आदि का यहां विस्तृत विवरण उपलब्ध है।

प्राचीन कर्मग्रंथों में कम्मविवाग, कम्मत्थव, बंध सामित्त, सडसीइ, सयग और सित्तरि हैं। कम्मविवाव के गर्गर्षि हैं। जिनवल्लभगणि ने सडसीइ नाम के चौथे कर्मग्रंथ को रचा। सयग के रचयिता आचार्य शिवशर्म हैं। इन ग्रंथों पर भाष्य, चूर्णियां और अनेक वृत्तियां लिखी गयी हैं।

ई० तेरहवीं शताब्दी में देवेन्द्रसूरि ने कर्मविपाक, कर्मस्तव, बन्ध, स्वामित्व, षडशीति और शतक नामक ग्रंथों की रचना की है। ये प्राचीन कर्म ग्रंथों पर आधारित है इसलिए इन्हें नव्य कर्म ग्रंथ कहा जाता है। एक और नव्य कर्म ग्रंथ प्रकृति बंध विषयक ७२ गाथाओं में लिखा गया है, जिसके कर्त्ता के विषय में अनिश्चय है। जिनभद्रगणी (ई० छठी शती) कृत विशेषणवती में ४०० गाथाओं द्वारा ज्ञान, दर्शन, जीव, अजीव आदि नाना प्रकार से द्रव्य-प्ररूपण किया गया है। जीव समास नामक एक प्राचीन रचना २८६ गाथाओं में पूर्ण हुई है, और उसमें सत् संख्या आदि सात प्ररूपणाओं द्वारा जीवादि द्रव्यों द्वारा स्वरूप समझाया गया है। इस ग्रंथ पर एक वृहद् वृत्ति मिलती है जो मलधारी हेमचन्द्र द्वारा ११०७ ई० में लिखी गई और ७००० श्लोक प्रमाण है।

ज्योतिष और न्याय-ग्रंथों में गणित

जहां गणित का प्रयोग हुआ है ऐसे विषय ज्योतिष और न्याय भी हैं। गणित-

ज्योतिष एवं गणितीय-न्याय आज के फलते-फूलते विषय हैं। जैन-परंपरा मे गणित-ज्योतिष के विकास कडी मे श्रीधर है, जिन्होंने गणितसार, ज्योतिर्ज्ञान विधि तथा जातक तिलक रचे हैं। ज्योतिर्ज्ञान विधि मे संवत्सरो के नाम, नक्षत्र नाम, योग नाम, करण नाम और उनके शुभाशुभत्व दिए गए हैं। इसमे व्यवहारोपयोगी मुहूर्त भी दिए गए हैं। मासशेष, मासाधिपति, शेष, दिन शेष, दिनाधिपति शेष आदि अर्थ गणित की उद्‌धृत क्रियाएं भी दी गयी हैं। इनके गणितसार पर एक जैनाचार्य की टीका भी है। पहले यह शैव थे, किंतु बाद मे जैन हो गए थे। इनके पूर्व कालकाचार्य का भी ज्योतिर्विदो मे उल्लेख है किंतु गणित-ज्योतिष पर कोई ग्रंथ ज्ञात नही है। डॉ० नेमिचंद्र ने लिखा है कि आचार्य उमास्वामी भी ज्योतिष के आवश्यक सिद्धातो से अभिज्ञ थे। भद्रबाहु आचार्य के संबंध मे शास्त्रो में भी उल्लेख मिलते हैं, तथा उनके द्वारा विरचित अर्हच्चूड़ामणि सार प्रश्न ग्रंथ मौलिक माना गया है। आचार्य गर्ग के पुत्र ऋषिपुत्र भी महान् ज्योतिर्विद थे जो वराहमिहिर से पूर्व हुए। ई० सातवी, आठवी सदी मे चंद्रोन्मीलन प्रश्नशास्त्र प्रसिद्ध था। वेंकटेश्वर प्रेस से १९३७ मे प्रकाशित ज्योतिष कल्पद्रुम उल्लेखनीय है जिसमे जिनेंद्रमाला संभवत जैन ज्योतिष ग्रंथ है। इसी प्रकार उद्योतनसूरि (शक ६९९) की कृति कुवलयमाला मे ज्योतिष का पर्याप्त निर्देश है। दुर्गदेव का समय १०३२ ई० माना जाता है। इन्होंने अर्घकाड और रिष्ठ समुच्चय की रचना की। उदयप्रभदेव (ई० १२२०) द्वारा आरंभ सिद्धि रचित हुई जिस पर हेम हस गणि ने वि० सं० १५१४ मे टीका लिखी। मल्लिषेण (ई० १०४३) ने आयसद्भाव नामक ग्रंथ लिखा। राजादित्य (११२० ई०) ने अंक-गणित, बीजगणित एवं रेखागणित विषयक गणित ग्रंथ लिखे। पद्मप्रभसूरि (लगभग वि० स० १२९४) ने भुवनदीपक लिखा जिसमे ३६ द्वार-प्रकरण हैं। इस पर सिंह तिलक सूरि की वि० स० १३२६ मे लिखी गयी टीका है। नरचंद्र (लगभग १३२४ स०) ने नारचंद्र और वेडाजातक वृत्ति रचित की। ज्ञानदीपिका भी संभवत इनकी रचना है। अज्ञात कर्ता की ज्ञान प्रदीपिका (आरा) और केरलीय प्रश्नशास्त्र (प्रश्न ज्ञान प्रदीप लक्ष्मी, वेंकटेश्वर प्रेस, १९५४) मे प्राय सभी गाथाएं एक-सी हैं। अर्हद्दास (अट्ठकवि, ई० १३००) ने अट्ठम ज्योतिषग्रंथ लिखा। महेंद्रसूरि (श० ११९२) ने यंत्र राज नामक ग्रह गणित का उपयोगी ग्रंथ बनाया। मेघविजयगणि (वि० स० १७३७ लगभग) और बाघजी मुनि (वि० स० १७८३) का नाम भी उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकार जैन-न्याय के अनेक ग्रंथ उपलब्ध हैं और उनसे गणितीय न्याय के सिद्धात निर्मित हो सकते हैं।

उपर्युक्त विवरण मे हो सकता है कि कुछ मेधावी जैन साहित्य के गणितज्ञो का उल्लेख न आ पाया हो। फिर भी यह स्पष्ट है कि इस विचारधारा मे गणित

एवं गणितज्ञो का विशेष योगदान रहा। आज के विज्ञान मे राशि सिद्धांत का वृहद्स्तर पर प्रयोग हुआ है और अनेक समस्याओ का विश्लेषण कर उनका हल ढूढने मे उसकी बडी भूमिका रही है। दिनोदिन समुद्र की भाति उमडते हुए इस सिद्धात ने सपूर्ण वैज्ञानिकी एव मानविकी को व्याप्त कर लिया है। यह एक अत्यत महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य है कि जैन साहित्य के निर्माताओ ने भी राशि सिद्धात की खोज की और उसका अप्रतिम प्रयोग कर्म सिद्धातादि के निरूपण मे किया।

दूसरा गणितीय विषय त्रिलोक-सरचना विषयक है, जिसके सबध मे सपूर्ण द्रव्यो सबधी द्रव्य, क्षेत्र, काल एव भाव विषयक गणनाए की गयी है। इन सभी के हेतु प्रमाण स्थापित किए गए है। लोक के विषय मे यह विभाग गणितीय दृष्टि से परिपक्व, पुष्ट, सैद्धातिक तथा योजना-निबद्ध है। इस रूप मे उसे प्रस्तुत करने की उनकी वैज्ञानिक भावना क्या रही होगी इसे जानने की ओर हमारा लक्ष्य होना चाहिए। जैसे पुस्तक मे छपा हुआ नक्शा, भारत या अन्य देश को प्रदर्शित करता है, और भारत की चीजो और नक्शे मे भरी हुई चीजो मे एक-एक अथवा अन्य सवाद उपस्थित होता है, वैसे ही त्रिलोक का चित्रण जैन साहित्य मे किन्ही ऐसे ही चित्रण आधारो को लेकर हुआ होगा। यह वे और भी गहराई से अनुभव करते है जिन्होने राशि सिद्धात की दृष्टि प्राप्त कर ली है।

तीसरा गणितीय विषय कर्मफल अथवा कर्मनियत्रण अथवा कर्मक्षपणा जानने विषयक है। फलित ज्योतिष का विषय भी नक्षत्र राशियो से सवाद-स्थापन के आधार पर कर्मफल के अश का निरूपण करता है। निस्सदेह, यह गणित अत्यत जटिल है और आधुनिक विज्ञान मे भी जीव-भौतिकी तथा जीव-रसायन सबधी खोजो मे गणितीय साधनो का उच्चतम प्रयोग उतना नही बन सका है जितना भौतिकी मे। आत्मा की विभाव परिणति का चित्रण कर्म परमाणुओ द्वारा परिलक्षित होता है। योग और मोह के गणितीय परिप्रेक्ष्य मे कर्म की नाना प्रकार की अवस्थाओ का चित्रण भी गणित के क्षेत्र मे उतर आता है। इन सभी का दिग्दर्शन कराने का गणितीय प्रयास जैन साहित्यकारो की एक अनुपम देन है, जिसका अध्ययन, पुनरुद्धार, पुन विस्तार और पुन प्रयोग लोक-कल्याणकारी सिद्ध हो सकता है।

जैन कला का योगदान

•

प्रो० परमानन्द चोयल

भारतीय कला मे जैन कला का महत्त्वपूर्ण योगदान है। २२० ई० पू० से २११ ई० पू० की पटना के पास कई जैन तीर्थंकरों की खडी ओपदार प्रतिमाएं मिली हैं, जो मौर्य कला की-सी श्रेष्ठता रखती हैं। इसी प्रकार एलोरा के सातवी से नवीं शताब्दी के जैन शिल्प भी भारतीय कला के उच्चतम उदाहरण हैं। उत्तर मध्यकाल जैन कला का सर्वोन्मुखी विकासकाल है। इस समय पचासो श्रेष्ठ जैन मंदिर बने, जिनके वास्तु व शिल्प उच्च कला के वेजोड़ नमूने हैं। सैकडो सचित्र पुस्तकें रची गईं, जिनके चित्र आनेवाली भारतीय कला की आधारशिला बन गए।

सातवीं शती तक अजता शैली का ह्रास हो चुका था। एलौरा के कैलाश मंदिर मे एक नई शैली की झलक मिलती है, जिसके अंतर्गत मानवाकृतिया अजंता-सी गोलाकार व ठोस न होकर कोणात्मक व चपटी होने लगीं। ग्यारहवीं शती के आस-पास पुस्तकों को चित्रित करने के लिए जैन चित्र रचे जाने लगे। इनमे आकृतियां एलोरा की कोणनुमा व सपाट थीं। आगे जाकर इनके कोण और भी तीखे हो गए तथा रंग चटकदार बन गए। यह बात अजंता से कहीं भी मेल नहीं खाती थी। यह एक नई शैली थी जिसमे आदिम कला की अभिव्यक्ति थी लोककला का तीखापन था एवं कथा कहने की क्षिप्रता थी। ग्यारहवीं शती से सोलहवीं शती तक सारे उत्तरी भारत की यह प्रतिनिधि शैली बनी रही।

कई विद्वानो ने इस शैली को हीन व अपभ्रंश माना है। डबल्यू० जी० आर्चर कहते हैं "The early glouring rapture is totally wanting and it is as if we have entered a dark age of Indian Art." भारतीय कला-समीक्षक श्री रायकृष्णदास ने इसे अपभ्रंश शैली कहा है तथा इसमे रचित चित्रों को 'कुपढ' चित्रकारो द्वारा बनाये गए माना है। यह अजता की निगाहों से देखा जाने वाला तरीका था सौंदर्य को रचनात्मक सगठन मे देखने के बजाय आदमी के नाक-नक्शे मे देखने की हविश थी। जो चित्र को रूपात्मक तत्त्वो (plastic elements)

एवं संरचना की दृष्टि से देखते हैं उनके लिए यह शैली एक नया ही अर्थ-बोध उपस्थित करती है। इस संदर्भ में वासिल ग्रे के ये शब्द मननीय हैं

"It showed from the begining a linear wireness and vigour which was developed with great virtuosity fine drafts manship which was combined rather strongly with bold massing of vibrant colours, red, blue and gold and with highly decorative designs in cloths and other textiles"

मारियो बुसाग्लि की दृष्टि मे जैन चित्रकला "कुछ अर्थों मे एकदम नवीन एव पूर्ण क्रांतिकारी शैली थी जिसने चित्रकला के विकास मे एक नया ही प्रकरण जोडा है।"

किसी भी कला का ढाचा तत्कालीन परिस्थितियो के अनुरूप बनता है। उसके स्वरूप-निर्माण मे परम्परागत तत्वो के साथ-साथ नये तत्त्व भी जुडे रहते हैं जिससे कला मे बहाव, नवीनता एव कालानुकूलता आती रहती है। जैन चित्रशैली तत्कालीन परिस्थितियो व आवश्यकताओ के कारण अजता से इतनी बदल गई थी कि कुछ रूढ आलोचक अपने सौंदर्य को समझ नही पाये तथा उन्होंने जैन चित्रकला के समय को अधकार युग मान लिया। कला की गिरावट का मतलब है कि उसमे न परम्परागत कला की रूपात्मकता (plasticity) बचे, न आने वाली कला को देने के लिए कुछ हो। जैन चित्रकला का पर्यवेक्षण करने पर ये दोनो ही बाते सत्य नही उतरतीं। जैन चित्रकला के लिए केवल राजनैतिक, सामाजिक एव धार्मिक परिस्थितियां ही भिन्न नही थीं वरन् तकनीकी विधा का भी प्रयोग नया था। अजता मे बडे आकार के भित्तिचित्र बनने के कारण धरातली योजना (surface preparation) का भिन्न स्वरूप था। तकनीकी दृष्टि से इनमे जैन रगो-सी चटक लाना सभव नही था। हर रग चूने व गीली भूमि मे समा जाने वाला ही लगाना पडता था जो दबाव के कारण अपनी उत्तेजना खो देता था। इसके विपरीत जैन चित्रो को पहले सकडी, आयताकार, छोटी-सी ताडपत्रो की भूमि मिली, फिर कागज के निर्माण के बाद चौदहवी शती मे थोडे बडे आकार की कागज की भूमि मिली। इन दोनो ही धरातलो को बनाने का तकनीकी तरीका भिन्न था। चित्र अजता के विशाल आकारो के मुकाबले बहुत ही छोटे-छोटे चौखटो व आयतो की सीमा मे बधे थे। अत यहा मानवाकृतियो व प्राकृतिक दृश्यो को उपस्थित करने का केवल साकेतिक (suggestive) तरीका बच गया था। अजता-सी धारावाहिक कथा शैली इस सीमित स्थल मे निभाना सरल नही था। इस समय अन्य कठिनाइयो के साथ-साथ तकनीकी दुविधाए भी थी जिनके कारण एक ऐसी नई शैली के निर्माण की आवश्यकता थी जहा पिछली परपरा से भी सूत्र बधा हो तथा आने वाली कला के लिए भी कुछ उपलब्धिया हो। जैन

कलाकार ने जिस कला की उद्भावना की वह दोनों छोर को जोड़ती है। जैन चित्रकार 'कुपड' नहीं था वरन् बहुत ही प्रतिभा-संपन्न कलाकार था। वह एक नवीन समस्यामूलक परिस्थितियों के अनुरूप तथा क्षिप्र गति में सैंकड़ो चित्र बना सकने वाली शैली का कुशल निर्माणकर्ता था।

जैन शैली में देशी व विदेशी कला के कई तत्त्वों का मिश्रण हुआ है। पुस्तक-लघु-चित्र शैली का प्रचलन मुस्लिम देशों में भारत से पूर्व विद्यमान था। भारत में यह प्रथा इस्लाम के संपर्क के बाद ही आरम्भ हुई। मारियो बुसागिल, वासिल ग्रे, आर्चर व अन्य कई विद्वानों ने इस बात को माना है कि भारतीय लघु चित्र शैली पर परसिया का प्रभाव आया है। जैन चित्रों में यह प्रभाव झलकता है पर भारतीय बाने में। एक कुशल व प्रतिभाशाली कलाकार में ही इस तरह की आत्मसात करने की क्षमता हो सकती है।

जिन लोगों ने यह आरोप लगाया है कि यह कला अजंता से टूट गई, उनके लिए मुनिश्री जिनविजयजी ने जेसलमेर के ज्ञान-भंडारों से जैन कला के वे नमूने खोज निकाले हैं जो अजंता-एलोरा की कला से जैन का संबंध जोड़ते हैं। लकड़ी की करीब चौदह सचित्र तख्तियां आप प्रकाश में लाए हैं, जिनमें कमल की बेल वाली पटली अजंता शैली की याद दिलाती है। एक चित्र में मकर के मुख से निकलती कमल-बेल सांची, अमरावती व मथुरा की कला-परंपरा से जैन कला को जोड़ती है।

भारतीय कला का मूलाधार रेखा है। पर्सी ब्राउन का कहना है कि भारतीय रेखा कहीं बोलती है, कहीं हसती है तो कहीं रोती है। प्रवाहिता व गति भारतीय कला की प्रमुख विशेषताएं हैं। जैन चित्रों में इसका निर्वाह टूटा नहीं है वरन् गति व प्रभाव में वहां और भी क्षिप्रता आ गई है। गत्यात्मकता के आवेश में कहीं-कहीं भावाभिव्यक्ति को ठेस अवश्य पहुंची है, पर उसका लोप नहीं हो गया। यदि ऐसा होता तो इनसे प्रत्युत्पन्न राजस्थानी चित्रों में भावात्मकता फिर से जाग नहीं पाती। कलात्मकता की दृष्टि से जैन रेखाएं किसी भी प्रकार महत्वहीन नहीं हैं।

कला-प्रवाहिनी धारा के समान होती है जो हर नये परिवेश में एक नया रूप लेकर बहती है। निर्प्रवाहिनी कला में बंधे हुए पानी के समान सड़ान आ जाती है। यदि जैन चित्रकला केवल अजंता की पुनरावृत्ति मात्र रह जाती तथा समयानुकूल उसमें परिवर्धन नहीं होता तो अवश्य ही आने वाले कला जगत् के लिए उसमें कुछ भी नहीं बच रहता। जैन चित्रकला का ढांचा अजंता, सांची व अमरावती का-सा है पर परिवेश नया है। छाया-प्रकाश द्वारा आकारों को गोलाकार बनाने की प्रवृत्ति यहां लुप्त हो गई। आकृतियां चपटी व समतल बन गईं। संयोजन में वैज्ञानिक दृष्टिक्रम (Scientific Perspective) के बजाय मानसिक दृश्य का प्रयोग किया जाने लगा। कथात्मकता के लिए चित्र-तल को कई भागों में बांट

दिया गया। कथा के विभिन्न अशो को उनमे एक सूत्र मे गूंथकर रखा गया। इनमे एक क्रमबद्धता थी। अभिव्यक्ति का यह तरीका प्रतीकात्मक था जिसके कारण आकृतियो मे कही अतिरजन आ जाता तो कही विघटन हो जाता। ये अमूर्त रचना के लक्षण थे। डब्ल्यू० जी० आर्चर ने इस कला को सातवी-आठवी शती की आइरिश कला, बारहवी शती की रोमन कला एव बीसवी शती के आधुनिक काल की पिकासो की कला के समान माना है। धीरे-धीरे जटिल आकृतिया भी अटूट रेखाओ मे प्रवाहित हो बहने लगी जिनका वेग कोण मे जाकर दूसरी रेखा मे मिलता तथा और भी द्विगणित हो जाता। विघटन की विधा मिलते ही आकृतियो को यथार्थ (visual) के बजाय अभिव्यक्तिमूलक बनाया जाने लगा। इनकी विशेषताए है सवा चश्म चेहरे, लबी नुकीली नाक, कान तक खिचे लबे व मोटे नयन, इनमे टिकी छोटी-छोटी गोल पुतलिया, चेहरे की सीमात रेखा को पार करती दूसरी आख छोटी ठुड्डी, उभरा वक्ष, क्षीण कटि, गोलाकार नितब आदि। यहा छिपे अगो को 'एक्स-रे' की तरह दिखाने की प्रवृत्ति थी जो बीसवी शती के कलाकार पिकासो व ब्राक की घनवादी कला की तरह थी। इनके तले सपाट गहरे रगो से पटे थे। पीली-नीली आकृतिया गहरे लाल रग के विरोध मे रखी जाती थी जो सपाट तलें मात्र दीखती थी मानो आकृतिया न होकर रग के टुकडे हो जैसा कि फ्रास के मॉतिस की फाबीवादी कला मे दीखता है। प्रकृति-अकन मे भी मानवीयता बरती गई है। शायद इसका कारण जैन दर्शन हो। जैन धर्म के अनुसार हर प्राणी मे, यहा तक कि पेड-पौधे आदि मे भी जान होती है, अत पेड-पौधो, पशु-पक्षी आदि को भी मानवीय धरातल पर माना जाना चाहिए। यही कारण है कि जैन कलाकार ने मानवाकारो के अतिरिक्त अन्य आकारो को भी उसी श्रद्धा से निभाया है। दोनो प्रकारो के रूपो मे समान अतकरण विधा विद्यमान् है। इस दृष्टि से जैन चित्रकला बिजन्टाइन या रेवेरा की कला के समान गिनी जा सकती है जो एक ओर परपरा से जुडी है तो दूसरी ओर परपरा के विरोध मे भी खडी दिखाई देती है।

जैन चित्रशैली तत्कालीन समय की प्रतिनिधि शैली थी जिसका जैन व अजैन विषयो के चित्रण मे समान रूप से व्यवहार हुआ है। आरभ मे जैन विषय ही प्रकाश मे आए। ये चित्र निशीथचूर्णि, अगसूत्र, कथारत्नसार, सग्रहणीय सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र, कालकाकथा, कल्पसूत्र व नेमीनाथ चरित्र आदि श्वेताम्बर जैन सप्रदाय से सबधित थे। गुजरात व राजस्थान इसके मुख्य केंद्र थे। राजस्थान मे उदयपुर, बीकानेर तथा जोधपुर मे 'गुरुओ' की जाति के लोग जैन पुस्तको मे चित्र लिखने का व्यवसाय करते थे। उनका कहना है कि उन्होने कल्पसूत्रो व चौबीस तीर्थकरो की चौबीसी पर चित्र आके हैं। नागोर, जालोर, जोधपुर, बीकानेर, सेरडी आदि नगरो व गावो मे ढेरो जैन सचित्र पुस्तकें रची गई। गुजरात मे

खंभात, पाटण, अहमदाबाद व सूरत जैन चित्र रचना के मुख्य केंद्र थे।

इसके बाद यह शैली अभिव्यक्ति का मुख्य अंग बन गई। साराभाई माणिकलाल नवाब ने चित्र कल्पद्रुम में कई ऐसे चित्र प्रकाशित किये हैं जो विभिन्न क्षेत्रों में रचे गये थे। इनमें माडू व जौनपुर के चित्र भी शामिल हैं। जौनपुर में वेणीदास गौड नामक चित्रकार ने कल्पसूत्र के चित्र बनाये थे। जौनपुर के और भी तीन कल्पसूत्र बने हैं जिनमें से एक तो स्वर्णाक्षरों में लिखा हुआ है। इसकी प्रति इस समय बडौदा के नरसिहजी के ज्ञान मदिर में है।

अजैन पुस्तकें वसतविलास, लौर चंदा, गीत गोविंद, बाल-गोपाल स्तुति, भागवत पुराण, चौर पचशिखा आदि विषयों को लेकर चित्रित की गई। इनकी रचना परवर्ती काल में गुजरात, राजस्थान, मालवा व पालम आदि में हुई। कथानक की भावात्मकता के कारण अजैन चित्रों में अधिक गति दिखाई पडती है। शैली का भी विकसित चेहरा नजर आता है। पृष्ठभूमि लाल के बजाय अब नीली व सुनहरी बनाई जाने लगी। मानवाकृतियों में भगिमा आ गई। आखों में कटाक्ष भर गए। अधर में लटकी आख गायब हो गई। छाया व प्रकाश का अभाव, दृश्यों का उन्मुक्त प्रयोग व गहराई की कमी इस शैली की चारित्रिक विशेषताएं थीं।

विषय-परिवर्तन के साथ ही रेखाओं की कोणात्मकता भी गोलाई में परिणत होने लगी। कपडे बेल-बूटों में मडित पारदर्शक बनाये जाने लगे। अकन की ग्रामीणता टूटने लगी, आकृतियां चित्राकाश (pictorial space) में उचित स्थल पर रखी जाने लगीं, उनकी स्थितियों एव मुद्राओं में विविधता आ गई, रग श्रेणियां बढ गई, रग के तल अधिक सतुलित हो गये, आकृतियां विघटनात्मक तथा प्रतीकात्मक बनाई गई तथा सारा चित्र द्वि-आयामी हो गया। इस चित्र-शैली का जन्म जैन कला के गर्भ से हुआ है यह आने वाली ससार-प्रसिद्ध राजस्थानी कला की नीव थी मौलिक एव स्वयभूत। इसने राजस्थानी कला को ही जन्म नहीं दिया वरन् भारतीय आधुनिक कला में भी कई आयाम जोडे हैं।

जैन धर्म का सांस्कृतिक मूल्यांकन

डॉ० नरेन्द्र भानावत

धर्म और संस्कृति

संकीर्ण अर्थ में धर्म संस्कृति का जनक और पोषक है। व्यापक अर्थ में धर्म संस्कृति का एक अंग है। धर्म के सांस्कृतिक मूल्यांकन का अर्थ यह हुआ कि किसी धर्म विशेष ने मानव-संस्कृति के अभ्युदय और विकास में कहाँ तक योग दिया? संस्कृति जन का मस्तिष्क है और धर्म जन का हृदय। जब-जब संस्कृति ने कठोर रूप धारण किया, हिंसा का पथ अपनाया, अपने रूप को भयावह व विकृत बनाने का प्रयत्न किया, तब-तब धर्म ने उसे हृदय का प्यार लुटाकर कोमल बनाया, अहिंसा और करुणा की बरसात कर उसके रक्तानुरंजित पथ को शीतल और अमृतमय बनाया, संयम, तप और सदाचार से उसके जीवन को सौंदर्य और शक्ति का वरदान दिया। मनुष्य की मूल समस्या है आनंद की खोज। यह आनंद तब तक नहीं मिल सकता जब तक कि मनुष्य भयमुक्त न हो, आतंक-मुक्त न हो। इस भय-मुक्ति के लिए दो शर्तें आवश्यक हैं। प्रथम तो यह कि मनुष्य अपने जीवन को इतना शीलवान, सदाचारी और निर्मल बनाए कि कोई उससे न डरे। द्वितीय यह कि वह अपने में इतना पुरुषार्थ, सामर्थ्य और बल संचित करे कि उसे डरा व धमका न सके। प्रथम शर्त को धर्म पूर्ण करता है और दूसरी को संस्कृति।

जैन धर्म और मानव-संस्कृति

जैन धर्म ने मानव संस्कृति को नवीन रूप ही नहीं दिया, उसके अमूर्त भाव-तत्त्व को प्रकट करने के लिए सभ्यता का विस्तार भी किया। प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव इस मानव-संस्कृति के सूत्रधार बने। उनके पूर्व युगलियों का जीवन था, भोगमूलक दृष्टि की प्रधानता थी, कल्पवृक्षों के आधार पर जीवन चलता था। कर्म और कर्तव्य की भावना सुषुप्त थी। लोग न खेती करते थे, न व्यवसाय।

उनमें सामाजिक चेतना और लोक-दायित्व की भावना के अकुर नही फूटे थे। भगवान ऋषभदेव ने भोगमूलक सस्कृति के स्थान पर कर्ममूलक सस्कृति की प्रतिष्ठा की। पेड-पौधो पर निर्भर रहने वाले लोगो को खेती करना बनाया। आत्मशक्ति से अनभिज्ञ रहनेवाले लोगो को अक्षर और लिपि का ज्ञान देकर पुरुषार्थी बनाया। दैववाद के स्थान पर पुरुषार्थवाद की मान्यता को सपुष्ट किया। अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध लडने के लिए हाथो में बल दिया। जड सस्कृति को कर्म की गति दी। चेतनाशून्य जीवन को सामाजिकता का बोध और सामूहिकता का स्वर दिया। पारिवारिक जीवन को मजबूत बनाया, विवाह-प्रथा का समारभ किया। कला-कौशल और उद्योग-धधो की व्यवस्था कर निष्क्रिय जीवन-यापन की प्रणाली को सक्रिय और सक्षम बनाया।

सस्कृति का परिष्कार और महावीर

अतिम तीर्थंकर महावीर तक आते-आते इस सस्कृति मे कई परिवर्तन हुए। सस्कृति के विशाल सागर मे विभिन्न विचारधाराओ का मिलन हुआ। पर महावीर के समय इस सास्कृतिक मिलन का कुत्सित और वीभत्स रूप ही सामने आया। सस्कृति का जो निर्मल और लोककल्याणकारी रूप था, वह अब विकार-ग्रस्त होकर चद व्यक्तियो की ही सपत्ति बन गया। धर्म के नाम पर क्रियाकांड का प्रचार बढा। यज्ञ के नाम पर मूक पशुओ की बलि दी जाने लगी। अश्वमेध ही नही, नरमेध भी होने लगे। वर्णाश्रम व्यवस्था मे कई विकृतिया आ गई। स्त्री और शूद्र अधम तथा नीच समझे जाने लगे। उनको आत्म-चिंतन और सामाजिक प्रतिष्ठा का कोई अधिकार न रहा। त्यागी-तपस्वी समझे जानेवाले लोग अब लाखो-करोडो की सपत्ति के मालिक बन बैठे। सयम का गला घोटकर भोग और ऐश्वर्य किलकारिया मारने लगा। एक प्रकार का सास्कृतिक सकट उपस्थित हो गया। इससे मानवता को उबारना आवश्यक था।

वर्द्धमान महावीर ने सवेदनशील व्यक्ति की भाति इस गभीर स्थिति का अनुशीलन और परीक्षण किया। बारह वर्षों की कठोर साधना के बाद वे मानवता को इस सकट से उबारने के लिए अमृत ले आए। उन्होंने घोषणा की—सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। यज्ञ के नाम पर की गई हिसा अधर्म है। सच्चा यज्ञ आत्मा को पवित्र बनाने में है। इसके लिए क्रोध की बलि दीजिए, मान को मारिए, माया को काटिए और लोभ का उन्मूलन कीजिए। महावीर ने प्राणी मात्र की रक्षा करने का उद्बोधन दिया। धर्म के इस अहिसामय रूप ने सस्कृति को अत्यत सूक्ष्म और विस्तृत बना दिया। उसे जन-रक्षा (मानव-समुदाय) तक सीमित न रखकर समस्त प्राणियो की सुरक्षा का भार भी सभलवा दिया। यह जनतत्र से भी आगे प्राणतत्र की व्यवस्था का सुदर उदाहरण है।

जैन धर्म ने सांस्कृतिक विषमता के विरुद्ध अपनी आवाज बुलंद की। वर्णाश्रम व्यवस्था की विकृति का शुद्धिकरण किया। जन्म के आधार पर उच्चता और नीचता का निर्णय करनेवाले ठेकेदारों को मुंहतोड जवाब दिया। कर्म के आधार पर ही व्यक्तित्व की पहचान की। हरिकेशी चांडाल और सद्दालपुत्र कुंभकार को भी आचरण की पवित्रता के कारण आत्म-साधकों में समुचित स्थान दिया।

अपमानित और अचल संपत्तिवत् मानी जानेवाली नारी के प्रति आत्म-सम्मान और गौरव की भावना जगाई। उसे धर्म-ग्रंथों को पढ़ने का ही अधिकार नहीं दिया वरन् आत्मा के चरम-विकास मोक्ष की भी अधिकारिणी माना। श्वेतांबर परंपरा के अनुसार इस युग में सर्वप्रथम मोक्ष जानेवाली ऋषभ की माता मरुदेवी ही थी। नारी को अबला और शक्तिहीन नहीं समझा गया। उसकी आत्मा में भी उतनी ही शक्ति संभाव्य मानी गई जितनी पुरुष में। महावीर ने चंदनबाला की इसी शक्ति को पहचानकर उसे साध्वियों का नेतृत्व प्रदान किया। नारी को दब्बू, आत्मभीरु और साधनाक्षेत्र में बाधक नहीं माना गया। उसे साधना में पतित पुरुष को उपदेश देकर संयमपथ पर लानेवाली प्रेरक शक्ति के रूप में देखा गया। राजुल ने संयम से पतित रथनेमि को उद्बोधन देकर अपनी आत्मशक्ति का ही परिचय नहीं दिया वरन् तत्त्वज्ञान का पांडित्य भी प्रदर्शित किया।

सांस्कृतिक समन्वय और भावात्मक एकता

जैन धर्म ने सांस्कृतिक समन्वय और एकता की भावना को भी बलवती बनाया। यह समन्वय विचार और आचार दोनों क्षेत्रों में देखने को मिलता है। विचार-समन्वय के लिए अनेकांत दर्शन की देन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। भगवान महावीर ने इस दर्शन की मूल भावना का विश्लेषण करते हुए सांसारिक प्राणियों को बोध दिया "किसी बात को, सिद्धांत को एक तरफ से मत देखो, एक ही तरह उस पर विचार मत करो। तुम जो कहते हो वह सच होगा, पर दूसरे जो कहते हैं, वह भी सच हो सकता है। इसलिए सुनते ही भड़को मत, वक्ता के दृष्टिकोण से विचार करो।"

आज संसार में जो तनाव और द्वंद्व है वह दूसरों के दृष्टिकोण को न समझने या विपर्यय रूप में समझने के कारण है। अगर अनेकांतवाद के आलोक में सभी राष्ट्र और व्यक्ति चिंतन करने लग जाएं तो झगड़े की जड़ ही न रहे। संस्कृति के रक्षण और प्रसार में जैन धर्म की यह देन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

आचार-समन्वय की दिशा में मुनि-धर्म और गृहस्थ-धर्म की व्यवस्था दी गई है। प्रवृत्ति और निवृत्ति का सामंजस्य किया गया है। ज्ञान और क्रिया का, स्वाध्याय और सामायिक का संतुलन इसीलिए आवश्यक माना गया है। मुनि-धर्म के लिए महाव्रतों के परिपालन का विधान है। वहां सर्वथा प्रकारेण हिंसा, झूठ, चोरी,

मैथुन और परिग्रह के त्याग की वात कही गई है। गृहस्थ-धर्म मे अणुव्रतों की व्यवस्था दी गई है, जहा यथाशक्य इन आचार-नियमो का पालन अभिप्रेत है। प्रतिमाधारी श्रावक वानप्रस्थाश्रमी की तरह और साधु सन्यासाश्रमी की तरह माना जा सकता है।

सास्कृतिक एकता की दृष्टि से जैन धर्म का मूल्याकन करते समय यह स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि उसने सप्रदायवाद, जातिवाद, प्रातीयतावाद आदि सभी मतभेदो को त्यागकर राष्ट्र-देवता को वड़ी उदार और आदर की दृष्टि से देखा है। प्रत्येक धर्म के विकसित होने के कुछ विशिष्ट क्षेत्र होते हैं। उन्हीं दायरो मे वह धर्म वधा हुआ रहता है। पर जैन धर्म इस दृष्टि से किसी जनपद या प्रात विशेप मे ही वधा हुआ नही रहा। उसने भारत के किसी एक भाग विशेप को ही अपनी श्रद्धा का, साधना का और चितना का क्षेत्र नहीं वनाया। वह सपूर्ण राष्ट्र को अपना मानकर चला। धर्म का प्रचार करनेवाले विभिन्न तीर्थंकरो की जन्मभूमि दीक्षास्थली, तपोभूमि, निर्वाणस्थली आदि अलग-अलग रही हैं। भगवान महावीर विदेह (उत्तर विहार) मे उत्पन्न हुए तो उनका साधना-क्षेत्र व निर्वाण-स्थल मगध (दक्षिण विहार) रहा। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का जन्म तो वाराणसी मे हुआ पर उनका निर्वाण-स्थल वना सम्मेदशिखर। प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋपभदेव अयोध्या मे जन्मे पर उनकी तपोभूमि रही कैलाश पर्वत और भगवान अरिष्टनेमि का कर्म व धर्मक्षेत्र रहा गुजरात। भूमिगत सीमा की दृष्टि से जैन धर्म सपूर्ण राष्ट्र मे फैला। देश की चप्पा-चप्पा भूमि इस धर्म की श्रद्धा और शक्ति का आधार वनी। दक्षिण भारत के श्रवणवेलगोला व कारकल आदि स्थानो पर स्थित वाहुवलि के प्रतीक आज भी इस राष्ट्रीय चेतना के प्रतीक हैं।

जैन धर्म की यह सास्कृतिक एकता भूमिगत ही नही रही, भापा और साहित्य मे भी उसने समन्वय का यह औदार्य प्रकट किया। जैनाचार्यों ने सस्कृत को ही नही, अन्य सभी प्रचलित लोकभापाओ को अपनाकर उन्हें समुचित सम्मान दिया। जहा-जहा भी वे गए, वहा-वहा की भाषाओ को चाहे वे आर्य परिवार की हो, चाहे द्रविड परिवार की अपने उपदेश और साहित्य का माध्यम वनाया। इसी उदार प्रवृत्ति के कारण मध्ययुगीन विभिन्न जनपदीय भाषाओ के मूल रूप सुरक्षित रह सके हैं। आज अव भापा के नाम पर विवाद और मतभेद हैं, तव ऐसे समय मे जैन धर्म की यह उदार दृष्टि अभिनदनीय ही नहीं, अनुकरणीय भी है।

साहित्यिक समन्वय की दृष्टि से तीर्थंकरो के अतिरिक्त राम और कृष्ण जैसे लोकप्रिय चरित्रनायको को जैन साहित्यकारो ने सम्मान का स्थान दिया। ये चरित्र जैनियो के अपने वनकर आए हैं। यही नही, जो पात्र अन्यत्र घृणित और वीभत्स दृष्टि से चित्रित किए गए हैं, वे भी यहा उचित सम्मान के अधिकारी वने हैं। इसका कारण शायद यह रहा कि जैन साहित्यकार अनार्य भावनाओ को किसी

प्रकार की ठेस नही पहुचाना चाहते थे। यही कारण है कि वासुदेव के शत्रुओ को भी प्रतिवासुदेव का उच्च पद दिया गया है। नाग, यक्ष आदि को भी अनार्य न मानकर तीर्थंकरो का रक्षक माना है और उन्हे देवालयो मे स्थान दिया है। कथा-प्रवन्धो मे जो विभिन्न छद और राग-रागनिया प्रयुक्त हुई है उनकी तर्जें वैष्णव साहित्य के सामजस्य को सूचित करती हैं। कई जैनेतर सस्कृत और डिंगल ग्रथो की लोकभापाओ मे टीकाए लिखकर भी जैन विद्वानो ने इस सास्कृतिक विनिमय को प्रोत्साहन दिया है।

जैन धर्म अपनी समन्वय भावना के कारण ही सगुण और निर्गुण भक्ति के झगड़े मे नही पडा। गोस्वामी तुलसीदास के समय इन दोनो भक्ति-धाराओ मे जो समन्वय दिखाई पडता है, उसके वीज जैन भक्तिकाव्य मे आरम्भ से मिलते है। जैन दर्शन मे निराकार आत्मा और वीतराग साकार भगवान के स्वरूप मे एकता के दर्शन होते है। पचपरमेष्ठी महामत्र (णमो अरिहताण, णमो सिद्धाण आदि) मे सगुण और निर्गुण भक्ति का कितना सुन्दर मेल विठाया है। अर्हन्त सकल परमात्मा कहलाते हे। उनके शरीर होता है, वे दिखाई देते हैं। सिद्ध निराकार हैं, उनके कोई शरीर नही होता, उन्हे हम देख नही सकते। एक ही मगलाचरण मे इस प्रकार का समभाव कम देखने को मिलता है।

जैन कवियो ने काव्य-रूपो के क्षेत्र मे भी कई नये प्रयोग किए। उसे सकीर्ण परिधि से वाहर निकालकर व्यापकता का मुक्त क्षेत्र दिया। आचार्यों द्वारा प्रति-पादित प्रवध-मुक्तक की चली आती हुई काव्य-परम्परा को इन कवियो ने विभिन्न रूपो मे विकसित कर काव्यशास्त्रीय जगत् मे एक क्राति-सी मचा दी। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि प्रवध और मुक्तक के वीच काव्य-रूपो मे कई नये स्तर इन कवियो ने निर्मित किए।

जैन कवियो ने नवीन काव्य-रूपो के निर्माण के साथ-साथ प्रचलित काव्य-रूपो को नई भाव-भूमि और मौलिक अर्थवत्ता भी दी। इन सवमे उनकी व्यापक, उदार दृष्टि ही काम करती रही है। उदाहरण के लिए वेलि, वारहमासा, विवाहलो रासो, चौपाई, सधि आदि काव्य-रूपो के स्वरूप का अध्ययन किया जा सकता है। 'वेलि' सज्ञक काव्य डिंगल शैली मे सामान्यत वेलियो छद मे ही लिखा गया है पर जैन कवियो ने 'वेलि' काव्य को छद विशेप की सीमा से वाहर निकालकर वस्तु और शिल्प दोनो दृष्टि से व्यापकता प्रदान की। 'वारहमासा' काव्य ऋतु काव्य रहा है जिसमे नायिका एक-एक माह के क्रम से अपना विरह-प्रकृति के विभिन्न उपादानो के माध्यम से व्यक्त करती है। जैन कवियो ने 'वारहमासा' की इस विरह-निवेदन-प्रणाली को आध्यात्मिक रूप देकर इसे शृगार क्षेत्र से वाहर निकाल-कर भक्ति और वैराग्य के क्षेत्र तक आगे वढाया। 'विवाहलो' सज्ञक काव्य मे सामान्यत नायक-नायिका के विवाह का वर्णन रहता है, जिसे 'व्याहलो' भी कहा

जाता है। जैन कवियों ने इस 'विवाहलो' संज्ञक काव्य को भी आध्यात्मिक रूप दिया। इसमें नायक का किसी स्त्री से परिणय न दिखाकर संयमश्री और दीक्षा कुमारी जैसी अमूर्त भावनाओं को परिणय के बंधन में बांधा गया। रासो, संधि और चौपाई जैसे काव्य-रूपों को भी इसी प्रकार नया भाव-बोध दिया। 'रासो' यहां केवल युद्धपरक वीर काव्य का व्यंजक न रहकर प्रेमपरक गेय काव्य का प्रतीक बन गया। 'संधि' शब्द अपभ्रंश महाकाव्य के सर्ग का वाचक न रहकर विशिष्ट काव्य विधा का ही प्रतीक बन गया। 'चौपाई' संज्ञक काव्य चौपाई छंद में ही बंधा न रहा, वह जीवन की व्यापक चित्रण-क्षमता का प्रतीक बनकर छंद की रूढ कारा से मुक्त हो गया।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि जैन कवियों ने एक ओर काव्य रूपों की परंपरा के धरातल को व्यापकता दी तो दूसरी ओर उसको बहिरंग से अन्तरंग की ओर तथा स्थूल से सूक्ष्म की ओर भी खींचा।

यहां यह भी स्मरणीय है कि जैन कवियों ने केवल पद्य के क्षेत्र में ही नवीन काव्य-रूप नहीं खड़े किये वरन गद्य के क्षेत्र में भी कई नवीन काव्य-रूपों गुर्वावली, पट्टावली, उत्पत्ति ग्रंथ, दफ्तर बही, ऐतिहासिक टिप्पण, ग्रंथ प्रशस्ति, वचनिका, दवावैत, सिलोका, बालाव बोध आदि की सृष्टि की। यह सृष्टि इसलिए और भी महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसके द्वारा हिंदी गद्य का प्राचीन ऐतिहासिक विकास स्पष्ट होता है। हिंदी के प्राचीन ऐतिहासिक और कलात्मक गद्य में इन काव्य-रूपों की देन बड़ी महत्त्वपूर्ण है।

जैन धर्म का लोक-संग्राहक रूप

धर्म का आविर्भाव जब कभी हुआ विषमता में समता, अव्यवस्था में व्यवस्था और अपूर्णता में सम्पूर्णता स्थापित करने के लिए ही हुआ। अतः यह स्पष्ट है कि इसके मूल में वैयक्तिक अभिक्रम अवश्य रहा पर उसका लक्ष्य समष्टिमूलक हित ही रहा है, उसका चिंतन लोकहित की भूमिका पर ही अग्रसर हुआ है।

पर सामान्यतः जब कभी जैन धर्म या श्रमण धर्म के लोक-संग्राहक रूप की चर्चा चलती है तब लोग चुप्पी साध लेते हैं। इसका कारण मेरी समझ में शायद यह रहा है कि जैन दर्शन में वैयक्तिक मोक्ष की बात कही गई है, सामूहिक-निर्वाण की बात नहीं। पर जब हम जैन दर्शन का सम्पूर्ण संदर्भों में अध्ययन करते हैं तो उसके लोक-संग्राहक रूप का मूल उपादान प्राप्त हो जाता है।

लोक-संग्राहक रूप का सबसे बड़ा प्रमाण है लोकनायकों के जीवन-क्रम की पवित्रता, उनके कार्य-व्यापारों की परिधि और जीवन-लक्ष्य की व्यापकता। जैन धर्म के प्राचीन ग्रंथों में ऐसे कई उल्लेख आते हैं कि राजा श्रावक धर्म अंगीकार कर, अपनी सीमाओं में रहते हुए, लोक-कल्याणकारी प्रवृत्तियों का संचालन एवं

प्रसारण करता है। पर काल-प्रवाह के साथ उसका चिंतन बढ़ता चलता है और वह देशविरति श्रावक से सर्वविरति श्रमण बन जाता है। सांसारिक माया-मोह, पारिवारिक प्रपंच, देह-आसक्ति आदि से विरत होकर वह सच्चा साधु, तपस्वी और लोक-सेवक बन जाता है। इस रूप या स्थिति को अपनाते ही उसकी दृष्टि अत्यन्त व्यापक और उसका हृदय अत्यंत उदार बन जाता है। लोक-कल्याण में व्यवधान पैदा करने वाले सारे तत्त्व अब पीछे छूट जाते हैं और वह जिस साधना के पथ पर बढ़ता है उसमें न किसी के प्रति राग है, न द्वेष। वह सच्चे अर्थों में श्रमण है।

श्रमण के लिए शमन, समन, समण आदि शब्दों का भी प्रयोग होता है। उनके मूल में भी लोक-संग्राहक वृत्ति काम करती रही है। लोक-संग्राहक वृत्ति का धारक सामान्य पुरुष हो ही नहीं सकता। उसे अपनी साधना से विशिष्ट गुणों को प्राप्त करना पड़ता है। क्रोधादि कषायों का शमन करना पड़ता है, पांच इंद्रियों और मन को वशवर्ती बनाना पड़ता है, शत्रु-मित्र तथा स्वजन-परिजन की भेद-भावना को दूर हटाकर सबमें समान मन को नियोजित करना पड़ता है, समस्त प्राणियों के प्रति समभाव की धारणा करनी पड़ती है। तभी उसमें सच्चे श्रमण-भाव का रूप उभरने लगता है। वह विशिष्ट साधना के कारण तीर्थंकर तक बन जाता है। ये तीर्थंकर तो लोकोपदेशक ही होते हैं।

इस महान साधना को जो साध लेता है, वह श्रमण बारह उपमाओं से उपमित किया गया है

> उरग गिरि जलण सागर,
> णहतल तरुगणसमोय जो होइ।
> भमर मिय धरणि जलरुह,
> रवि पवण समोय सो समणो ॥

अर्थात् जो सर्प, पर्वत, अग्नि, सागर, आकाश, वृक्षपंक्ति, भ्रमर मृग, पृथ्वी, कमल, सूर्य और पवन के समान होता है, वह श्रमण कहलाता है।

ये सब उपमाएं साभिप्राय दी गई हैं। सर्प की भांति ये साधु भी अपना कोई घर (बिल) नहीं बनाते। पर्वत की भांति ये परीषहों और उपसर्गों की आंधी से डोलायमान नहीं होते। अग्नि की भांति ज्ञान-रूपी ईंधन में ये तृप्त नहीं होते। समुद्र की भांति अथाह ज्ञान को प्राप्त कर भी ये तीर्थंकर की मर्यादा का अतिक्रमण नहीं करते। आकाश की भांति ये स्वाश्रयी, स्वावलम्बी होते हैं, किसी के अवलम्बन पर नहीं टिकते। वृक्ष की भांति समभावपूर्वक दुख-सुख के तापातप को सहन करते हैं। भ्रमर की भांति किसी को बिना पीड़ा पहुंचाये शरीर-रक्षा के लिए आहार ग्रहण करते हैं। मृग की भांति पापकारी प्रवृत्तियों के सिंह से दूर रहते हैं। पृथ्वी की भांति शीत, ताप, छेदन-भेदन आदि कष्टों को समभावपूर्वक सहन करते हैं।

कमल की भांति वासना के कीचड और वैभव के जल से अलिप्त रहते हैं। सूर्य की भांति स्वसाधना एवं लोकोपदेशना के द्वारा अज्ञानान्धकार को नष्ट करते हैं। पवन की भांति सर्वत्र अप्रतिबद्ध रूप से विचरण करते हैं। ऐसे श्रमणों का वैयक्तिक स्वार्थ हो ही क्या सकता है?

ये श्रमण पूर्ण अहिंसक होते हैं। षट्काय (पृथ्वीकाय, अपकाय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय) जीवों की रक्षा करते हैं। न किसी को मारते हैं, न किसी को मारने की प्रेरणा देते हैं और न जो प्राणियों का वध करते हैं उनकी अनुमोदना करते हैं। इनका यह अहिंसा-प्रेम अत्यन्त सूक्ष्म और गंभीर होता है।

ये अहिंसा के साथ-साथ सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के भी उपासक होते हैं। किसी की वस्तु बिना पूछे नहीं उठाते। कामिनी और कंचन के सर्वथा त्यागी होते हैं। आवश्यकता से भी कम वस्तुओं की सेवना करते हैं। संग्रह करना तो इन्होंने सीखा ही नहीं। ये मनसा, वाचा, कर्मणा किसी का वध नहीं करते, हथियार उठाकर किसी अत्याचारी-अन्यायी राजा का नाश नहीं करते, लेकिन इससे उनके लोक-संग्रही रूप में कोई कमी नहीं आती। भावना की दृष्टि से तो उसमें और वैशिष्ट्य आता है। ये श्रमण पापियों को नष्ट कर उनको मौत के घाट नहीं उतारते वरन् उन्हें आत्मबोध और उपदेश देकर सही मार्ग पर लाते हैं। ये पापी को मारने में नहीं, उसे सुधारने में विश्वास करते हैं। यही कारण है कि महावीर ने विषदृष्टि सर्प चण्डकौशिक को मारा नहीं वरन् अपने प्राणों को खतरे में डालकर, उसे उसके आत्मस्वरूप से परिचित कराया। बस, फिर क्या था! वह विष से अमृत बन गया। लोक-कल्याण की यह प्रक्रिया अत्यन्त सूक्ष्म और गहरी है।

इनका लोक-संग्राहक रूप मानव सम्प्रदाय तक ही सीमित नहीं है। ये मानव के हित के लिए अन्य प्राणियों का बलिदान करना व्यर्थ ही नहीं, धर्म-विरुद्ध समझते हैं। इनकी यह लोक-संग्रह की भावना इसीलिए जनतंत्र से आगे बढ़कर प्राणतंत्र तक पहुंची है। यदि अयतना से किसी जीव का वध हो जाता है या प्रमादवश किसी को कष्ट पहुंचता है तो ये उन सब पापों से दूर हटने के लिए प्रातः-सायं प्रतिक्रमण (प्रायश्चित्त) करते हैं। ये नंगे पैर पैदल चलते हैं। गांव-गांव और नगर-नगर में विचरण कर सामाजिक चेतना और सुषुप्त पुरुषार्थ को जागृत करते हैं। चातुर्मास के अलावा किसी भी स्थान पर नियत वास नहीं करते। अपने पास केवल इतनी वस्तुएं रखते हैं जिन्हें ये अपने आप उठाकर भ्रमण कर सकें। भोजन के लिए गृहस्थों के यहां से भिक्षा लाते हैं। भिक्षा भी जितनी आवश्यक होती है उतनी ही। दूसरे समय के लिए भोजन का संचय ये नहीं करते। रात्रि में न पानी पीते हैं, न कुछ खाते हैं।

इनकी दैनिक चर्या भी वडी पवित्र होती है। दिन-रात ये स्वाध्याय-मनन-चिंतन-लेखन और प्रवचन आदि मे लगे रहते है। सामान्यत ये प्रतिदिन ससार के प्राणियो को धर्म-वोध देकर कल्याण के मार्ग पर अग्रसर करते हैं। इनका समूचा जीवन लोक-कल्याण मे ही लगा रहता है। इस लोक-सेवा के लिए ये किसी से कुछ नही लेते।

श्रमण धर्म की यह आचारनिष्ठ दैनन्दिन चर्या इस वात का प्रवल प्रमाण है कि ये श्रमण सच्चे अर्थो मे लोक-रक्षक और लोक-सेवी हैं। यदि आपद्काल मे अपनी मर्यादाओ से तनिक भी इधर-उधर होना पडता है तो उसके लिए भी ये दड लेते हैं, व्रत-प्रत्याख्यान करते हैं। इतना ही नही, जव कभी अपनी साधना मे कोई वाधा आती है तो उसकी निवृत्ति के लिए परीषह और उपसर्ग आदि का सेवन करते हैं। मैं नही कह सकता, इससे अधिक आचरण की पवित्रता, जीवन की निर्मलता और लक्ष्य की सार्वजनीनता और किस लोक-सग्राहक की होगी ?

श्रमण धर्म के लोक-सग्राहक रूप पर प्रश्नवाचक चिह्न इसलिए लगा हुआ है कि उसमे साधना का फल मुक्ति माना है ऐसी मुक्ति जो वैयक्तिक उत्कर्ष की चरम सीमा है। वौद्ध धर्म का निर्वाण भी वैयक्तिक है। वाद मे चलकर वौद्ध धर्म की एक शाखा महायान ने सामूहिक निर्वाण की चर्चा की। मेरी मान्यता है कि जैन दर्शन की वैयक्तिक मुक्ति की कल्पना सामाजिकता की विरोधिनी नही है, क्योकि श्रमण-धर्म ने मुक्ति पर किसी का एकाधिकार नही माना है। जो अपने आत्म-गुणो का चरम विकास कर सकता है, वह इस परम पद को भी प्राप्त कर सकता है और आत्म-गुणो के विकास के लिए समान अवसर दिलाने के लिए जैन धर्म हमेशा सघर्षशील रहा है।

भगवान महावीर ने ईश्वर के रूप को एकाधिकार के क्षेत्र से वाहर निकालकर समस्त प्राणियो की आत्मा मे उतारा। आवश्यकता इस वात की है कि प्राणी साधना-पथ पर वढ सके। साधना के पथ पर जो वधन और वाधा थी, उसे महावीर ने तोड गिराया। जिस परम पद की प्राप्ति के लिए वे साधना कर रहे थे, जिस स्थान को उन्होने अमर सुख का घर और अनत आनद का आवास माना, उसके द्वार सवके लिए खोल दिये। द्वार ही नही खोले, वहा तक पहुचने का रास्ता भी वता दिया।

जैन दर्शन मे मानव शरीर और देव शरीर के सवध मे जो चिंतन चला है, उससे भी लोक-सग्राहक वृत्ति का पता चलता है। परमशक्ति और परमपद की प्राप्ति के लिए साधना और पुरुषार्थ की जरूरत पडती है। यह पुरुषार्थ, कर्तव्य की पुकार और वलिदान की भावना मानव को ही प्राप्त है, देव को नहीं। देव-शरीर मे वैभव-विलास को भोगने की शक्ति तो है पर नये पुण्यो के सचय की ताकत नही। देवता जीवन-साधना के पथ पर वढ नही सकते, केवल उसकी

ऊँचाई को स्पर्श कर सकते हैं। कर्मक्षेत्र में कूदने की शक्ति तो मानव के पास ही है। इसीलिए जैन धर्म में भाग्यवाद को स्थान नहीं है। यहाँ कर्म की ही प्रधानता है। वैदिक धर्म में जो स्थान स्तुति, प्रार्थना और उपासना को दिया गया है वही स्थान श्रमण-धर्म में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मिला है।

समग्र रूप से यह कहा जा सकता है कि श्रमण-धर्म का लोक-संग्राहक रूप स्थूल की अपेक्षा सूक्ष्म अधिक है, बाह्य की अपेक्षा आंतरिक अधिक है। उसमें देवता बनने के लिए जितनी तड़प नहीं, उतनी तड़प सम्पूर्ण संसार को पाप आदि पाप-कर्मों से मुक्त कराने की है। इस मुक्ति के लिए वैयक्तिक अभिक्रम की उपेक्षा नहीं की जा सकती जो जैन-साधना के लोक-संग्राहक रूप की नींव है।

जैन धर्म जीवन-सम्पूर्णता का हिमायती

सामान्यतः यह कहा जाता है कि जैन धर्म ने संसार को दुःखमूलक बताकर निराशा की भावना फैलाई है, जीवन में संयम और विराग की अधिकता पर बल देकर उसकी अनुराग-भावना और कला-प्रेम को कुंठित किया है। पर यह कथन साधार नहीं है, भ्रान्तिमूलक है। यह ठीक है कि जैन धर्म ने संसार को दुःखमूलक माना, पर किसलिए? अखंड आनंद की प्राप्ति के लिए, शाश्वत सुख की उपलब्धि के लिए। यदि जैन धर्म संसार को दुःखपूर्ण मानकर ही रुक जाता, सुख-प्राप्ति की खोज नहीं करता, उसके लिए साधना मार्ग की व्यवस्था नहीं देता तो हम उसे निराशावादी कह सकते थे, पर उसमें तो मानव को महात्मा बनाने की, आत्मा को परमात्मा बनाने की आस्था का बीज छिपा हुआ है। दैववाद के नाम पर अपने को असहाय और निर्बल समझी जाने वाली जनता को किसने आत्म-जागृति का संदेश दिया? किसने उनके हृदय में छिपे हुए पुरुषार्थ को जगाया? किसने उसे अपने भाग्य का विधाता बनाया? जैन धर्म की यह विचारधारा युगों बाद आज भी बुद्धिजीवियों की धरोहर बन रही है, संस्कृति को वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान कर रही है।

यह कहना भी कि जैन धर्म निरा निवृत्तिमूलक है, ठीक नहीं है। जीवन के विधान पक्ष को भी उसने महत्त्व दिया है। इस धर्म के उपदेशक तीर्थंकर लौकिक-अलौकिक वैभव के प्रतीक हैं। दैहिक दृष्टि से वे अनंत बल, अनंत सौंदर्य और अनंत पराक्रम के धनी होते हैं। इंद्रादि मिलकर पंच कल्याणक महोत्सवों की आयोजना करते हैं। उपदेश देने का उनका स्थान (समवसरण) कलाकृतियों से अलंकृत होता है। जैन धर्म ने जो निवृत्तिमूलक बातें कही हैं वे केवल उच्छृंखलता और असंयम को रोकने के लिए ही।

जैन धर्म की कलात्मक देन अपने आप में महत्त्वपूर्ण और अलग से अध्ययन की अपेक्षा रखती है। वास्तुकला के क्षेत्र में विशालकाय कलात्मक मंदिर, मेरु-

पर्वत की रचना, नदीश्वर द्वीप व समवसरण की रचना, मानस्तम्भ, चैत्यवृक्ष, स्तूप आदि उल्लेखनीय हैं। मूर्तिकला मे विभिन्न तीर्थंकरो की मूर्तिया देखी जा सकती हैं। चित्रकला मे भित्तिचित्र, ताडपत्रीय चित्र, काष्ठ चित्र, लिपिचित्र, वस्त्र पर चित्र आश्चर्य मे डालने वाले हैं। निवृत्ति और प्रवृत्ति का समन्वय कर जैन धर्म ने सस्कृति को लचीला बनाया है। उसकी कठोरता को कला की बाह दी है तो उसकी कोमलता को सयम का आवरण। इसीलिए वह आज भी जीती-जागती है।

आधुनिक भारत के नवनिर्माण मे योग

आधुनिक भारत के नवनिर्माण की सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक, राजनैतिक और आर्थिक प्रवृत्तियो मे जैन धर्मावलबियो की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। अणुव्रत आदोलन इसी चेतना का प्रतीक है अधिकाश सम्पन्न जैन श्रावक अपनी आय का एक निश्चित भाग लोकोपकारी प्रवृत्तियो मे व्यय करने के व्रती रहे हैं। जीव-दया, पशुबलि-निषेध, स्वधर्मी वात्सल्यफड, विधवाश्रम, वृद्धाश्रम जैसी अनेक प्रवृत्तियो के माध्यम से असहाय लोगो को सहायता मिली है। समाज मे निम्न और घृणित समझे जाने वाले खटीक जाति के भाइयो मे प्रचलित कुव्यसनो को मिटाकर उन्हे सात्विक जीवन जीने की प्रेरणा देने वाला धर्मपाल प्रवृत्ति का रचनात्मक कार्यक्रम अहिंसक समाज-रचना की दृष्टि मे विशेष महत्त्वपूर्ण है। लौकिक शिक्षण के साथ-साथ नैतिक शिक्षण के लिए आज देश के विभिन्न क्षेत्रो मे कई जैन शिक्षण सस्थाए, स्वाध्याय-शिविर और छात्रावास कार्यरत हैं। निर्धन और मेधावी छात्रो को अपने शिक्षण मे सहायता पहुचाने के लिए व्यक्तिगत और सामाजिक स्तर पर बने कई धार्मिक और पारमार्थिक ट्रस्ट हैं जो छात्रवृत्तिया और ऋण देते हैं।

जन-स्वास्थ्य के सुधार की दिशा मे भी जैनियो द्वारा विभिन्न क्षेत्रो मे कई अस्पताल और औषधालय खोले गये हैं, जहा रोगियो को नि शुल्क तथा रियायती दरो पर चिकित्सा-सुविधाए प्रदान की जाती हैं।

जैन साधु और साध्विया वर्षा ऋतु के चार महीनो मे पद-यात्रा नही करते। वे एक ही स्थान पर ठहरते है जिसे 'चातुर्मास' करना कहते हैं। इस काल मे जैन लोग तप, त्याग, प्रत्याख्यान, सघ-यात्रा, तीर्थ-यात्रा, मुनि-दर्शन, उपवास, आयम्बिल, मासखमण, सवत्सरी, क्षमापर्व जैसे विविध उपासना-प्रकारो द्वारा आध्यात्मिक जागृति के विविध कार्यक्रम बनाते है। इससे व्यक्तिगत जीवन निर्मल, स्वस्थ और उदार बनता है तथा सामाजिक जीवन मे बधुत्व, मैत्री, वात्सल्य जैसे भावो की वृद्धि होती है।

अधिकाश जैन धर्मावलम्बी कृषि, वाणिज्य और उद्योग पर निर्भर हैं। देश

के विभिन्न क्षेत्रों में ये फैले हुए हैं। बंगाल, बिहार, तमिलनाडु, महाराष्ट्र आदि प्रदेशों में इनके बड़े-बड़े उद्योग-प्रतिष्ठान हैं। अपने आर्थिक संगठनों द्वारा इन्होंने राष्ट्रीय उत्पादन तो बढ़ाया ही है, देश के लिए विदेशी मुद्रा अर्जन करने में भी इनकी विशेष भूमिका रही है। जैन संस्कारों के कारण मर्यादा से अधिक आय का उपयोग वे सार्वजनिक स्तर के कल्याण-कार्यों में करते रहे हैं।

राजनीतिक चेतना के विकास में भी जैनियों का सक्रिय योग रहा है। भामाशाह की परम्परा को निभाते हुए कइयों ने राष्ट्रीय रक्षा कोष में पुष्कल राशि समर्पित की है। स्वतंत्रता से पूर्व देशी रियासतों में कई जैन श्रावक राज्यों के दीवान और सेनापति जैसे महत्त्वपूर्ण पदों पर कार्य करते रहे हैं। स्वतंत्रता-संग्राम में क्षेत्रीय आन्दोलनों का नेतृत्व भी उन्होंने संभाला है। अहिंसा, सत्याग्रह, भूमिदान, सम्पत्तिदान, भूमि-सीमाबंदी, आयकर प्रणाली, धर्म-निरपेक्षता जैसे वर्तमान सिद्धान्तों और कार्यक्रमों में जैन-दर्शन की भावधारा न्यूनाधिक रूप से प्रेरक कारण रही है।

प्राचीन साहित्य के संरक्षक के रूप में जैन धर्म की विशेष भूमिका रही है। जैन साधुओं ने न केवल मौलिक साहित्य की सर्जना की वरन् जीर्ण-शीर्ण दुर्लभ ग्रंथों का प्रतिलेखन कर उनकी रक्षा की और स्थान-स्थान पर ग्रंथ-भंडारों की स्थापना कर इस अमूल्य निधि को सुरक्षित रखा। राजस्थान और गुजरात के ज्ञान भंडार इस दृष्टि से राष्ट्र की अमूल्य निधि हैं। महत्त्वपूर्ण ग्रंथों के प्रकाशन का कार्य भी जैन शोध संस्थानों ने अब अपने हाथ में लिया है। जैन पत्र-पत्रिकाओं द्वारा भी वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन को स्वस्थ और सदाचारयुक्त बनाने की दिशा में बड़ी प्रेरणा और शक्ति मिलती रही है। कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि जैन धर्म की दृष्टि राष्ट्र के सर्वांगीण विकास पर रही है। उसने मानव-जीवन की सफलता को ही मुख्य नहीं माना, उसका बल रहा उसकी सार्थकता और आत्मशुद्धि पर।

सोवियत गणराज्य और पश्चिम एशियाई देशों में जैन-तीर्थ

•

डॉ० ब्रजमोहन जावलिया

भारतीय ऋषि-मुनियो और साहसी पर्यटको के माध्यम से प्राचीन काल मे भारतीय संस्कृति विश्व के दूरस्थ अनेक भू-भागो तक व्याप्त हो गई थी। अनेक आर्य कबीलो ने भारत से बाहर जाकर इन भू-भागो मे अपने निवास-स्थान भी बना लिये थे। एक समय ऐसा भी आया जब भारत मे वैचारिक संघर्ष छिड गया, विदेशी विचारो के सम्मिश्रण से वैदिक-धर्म मे विकृतिया व्याप्त हो गई और फलत अनेक अवैदिक मत-मतान्तरो का इस देश मे प्रादुर्भाव हुआ। वेदो की साक्षिया दे-देकर इन मतो के प्रवर्तक भोली भारतीय जनता को बहकाने लगे और इनकी आड मे अनेक अनाचार करने लगे। इस अवस्था मे भारतीयो का विदेशियो और विदेशो मे बसे भारत-वंशी प्रवासियो से संबध लगभग टूट-सा गया। भारत मे तो अज्ञानान्धकार फैल ही रहा था भारत से बाहर स्थित इन देशो की अवस्था भारत से भी बुरी थी।

ऐसी ही अवस्था मे बुद्ध और महावीर ने जन्म लेकर आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व धर्म का पुनरुद्धार कर भारतीय संस्कृति का विश्व मे पुन प्रसार करने का बीडा उठाया था। बुद्ध के द्वारा संस्थापित बौद्ध-धर्म को अशोक जैसे महान् सम्राट का प्रश्रय मिल गया और उसी का अवलम्बन पाकर वह शीघ्र ही सम्पूर्ण एशिया मे व्याप्त हो गया। उत्साही बौद्ध भिक्षुक शताब्दियो तक विदेशो मे जा-जाकर अनेक कष्ट सहन करते हुए धर्म का प्रचार करते रहे। पर जैन धर्म का प्रसार भारत से बाहर नही हो पाया। राजा-महाराजाओ को दीक्षित कर उनके माध्यम से शीघ्रातिशीघ्र अपने धर्म का प्रचार करने की विधि जैन आचार्यों ने भी अपनायी पर उसका लाभ शायद उन्हे भारत से बाहर अपना प्रचार करने मे नही मिल सका। बौद्ध धर्मावलबी धर्म-प्रचारको ने अपना सारा ध्यान विदेशो मे प्रचार-हेतु केन्द्रित कर लिया और स्वय इस धर्म की जन्मभूमि भारत मे इसे सुदृढ करने का विशेष प्रयास नही किया यही कारण है कि थोडे ही समय बाद शकराचार्य

के तूफानी प्रचार ने इस धर्म का भारत मे अस्तित्व ही सदा के लिए समाप्त कर दिया, जबकि जैन-धर्म इस तूफानी झटके को सहन कर गया और आज भी उसका अस्तित्व इस देश मे बना हुआ है।

बौद्ध धर्म के सपूर्ण एशिया खड मे व्याप्त हो जाने और बौद्ध-धर्मावलबी भारतीय भिक्षुको के विदेशो मे आवागमन के प्राप्त प्रमाणो से यह तो सिद्ध ही है कि भारतीयो का विदेशो मे इस काल मे बेरोक-टोक आना-जाना होता था ऐसी अवस्था मे जैन विद्वानो ने भारत से बाहर जाकर अवश्य ही स्वधर्म-प्रचार किया होगा—पर अद्यावधि ऐसे कोई प्रमाण देखने मे नही आये है जिनसे यह बात सिद्ध होती हो। ऐसा प्रतीत होता है कि जैनियो का स्वल्प प्रचार बौद्ध-धर्म के विशाल धार्मिक अभियान मे दबकर रह गया। दोनो धर्मो के सिद्धान्तो मे स्थूल रूप से समानता के कारण भी सभवत बाह्य देशो मे उन्हे अलग करके नही देखा गया होगा। स्वय भारत मे भी जब सुदीर्घ काल तक यही स्थिति रही है तो विदेशो मे भी यदि ऐसा समझा गया हो तो कोई आश्चर्य नही। जैनधर्म-ग्रथ भी विदेशो मे जैन धर्म के प्रसार के विषय मे सभवत मौन-से दिखाई देते हैं। कतिपय जैन-आख्यानो मे जैन व्यापारियो द्वारा व्यापारिक सबधो और समुद्री-यात्राओ की सूचना अवश्य ही हमे प्राप्त होती है—पर धार्मिक प्रचार की नही। ऐसी स्थिति मे अद्यावधि प्राप्त बाह्य देशो की बौद्ध-धर्म के प्रभाव को बताने वाली पुरातात्त्विक सामग्री तथा भारतीय और विदेशी सपूर्ण बौद्ध और जैन वाड्मय के निष्पक्ष पुनरध्ययन से ही इस रहस्य का उद्घाटन हो सकता है।

आज से तीन-चार शताब्दियो पूर्व के कतिपय हस्तलिखित ग्रथो मे हमे ऐसे कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्र मिलते हैं जिनसे अवश्य यह सिद्ध होता है कि भारत से बाहर भी अफगानिस्तान, ईरान, ईराक, टर्की आदि देशो तथा सोवियत रूस के अजोव सागर से ओब की खाडी से भी उत्तर तक तथा लाटविया से अल्लाई के पश्चिमी छोर तक किसी काल मे जैन-धर्म का व्यापक प्रसार था। इन प्रदेशो मे अनेक जैन मदिरो, जैन-तीर्थंकरो की विशाल मूर्तियो, धर्म-शास्त्रो तथा जैन-मुनियो की विद्यमानता का भी इनमे उल्लेख है। कतिपय व्यापारियो और पर्यटको ने, जो इसी दो-तीन शताब्दियो मे हुए हैं, इन विवरणो मे यह दावा किया है कि वे स्वय इन स्थानो की अनेक कष्ट सहन करके यात्रा कर आये हैं।

ऐसे विवरणो मे सर्वप्रथम विवरण बुलाकीदास खत्री का है, जो स० १६८२ (सन् १६२५ ई०) मे घोडो का काफिला लेकर अपने साथियो के साथ उत्तरापथ के नगरो की यात्रा पर निकला था और विभिन्न नगरो और तीर्थो की यात्रा करता हुआ नौ वर्ष बाद लौटकर अपने घर आगरा पहुचा, जहा से उसने अपनी यात्रा प्रारभ की थी। इस यात्रा मे उसने आगरा से निकलकर लाहौर, मुल्तान, कधार, इस्फहान (इनका नगर), खुरासान, इस्तबूल (आसतबोल), बब्बर,

बब्बरकूल या बाबर तथा तारा तबोल नगरों को देखा, जिनमे से कतिपय नगरो का उसने सविस्तर वर्णन भी किया है। इन नगरो के मध्य की पारस्परिक दूरी उसने क्रमश ३००, १५०, ३००, ८००, ६००, १२००, ५०० और ७०० कोस दी है। विभिन्न हस्तलिखित ग्रथो मे इस विवरण के अनेक संस्करण मिलते हैं, जिनमे यत्र-तत्र थोडा-बहुत अतर भी है। एक सस्करण मे काबुल और परेसमान नगरो का भी यात्रा-मार्ग मे उल्लेख है। स्व० मुनि कान्तिसागर[1], श्री सागरमल कोठारी[2], स्व० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल[3] एव श्री अगरचद नाहटा ने भी इस विवरण के कई एक सस्करण प्रकाशित करा दिये हैं।

श्री अगरचन्द नाहटा ने तपागच्छीय शील विजय द्वारा स० १७४६ वि० (सन् १६८६) मे विरचित तीर्थमाला ग्रथ का एक 'उत्तर दिशि के जैन-तीर्थ' विषयक खड भी आज से चौदह वर्ष पूर्व नागरी प्रचारिणी पत्रिका मे प्रकाशित कराया था।[4] प्रतीत होता है तीर्थमाला का यह खड बुलाकीदास के ही विवरण के आधार पर तैयार किया गया था, जिसे शीलविजय ने अपने गु० से सुनना कहा है। शीलविजय ने तीर्थों का क्रम प्राय वही रखा है जो बुलाकीदास का है—नगरो के मध्य की दूरी भी दी है, पर यत्र-तत्र उसने मूल-मार्ग से थोडा इधर-उधर हटकर स्थित रोम नगर, सासता नगर जैसे नगर नामो को भी नामावली मे स्थान दे दिया है। वह इनके अतिरिक्त भी जहा एशिया के अन्य अनेक नगरो मे जैन प्रभाव होने की सूचना देता है, वहीं इस्तबूल मे उत्तर मे स्थित सहस्रमुखी गगानदी के पूर्व मे बौद्ध-धर्म की व्याप्ति और पश्चिम मे स्थित तारातबोल से लगाकर लाट देश तक के विस्तृत क्षेत्र मे जैन-धर्मी जनता के निवास की सूचना देता है। वह तारातबोल से १०० गाउ (गव्यूति=दो कोस या चार मील) दूर किसी स्वर्ण काति नगरी मे भी जैन धर्म का प्रभाव होना बताता है।

बुलाकीदास के विभिन्न यात्रा-विवरणो मे कतिपय प्रसिद्ध नगरो मे राज कर रहे राजवशो के नाम भी दिये हैं, यथा इस्पहान मे तिलग, इस्तबूल मे रोमसोम, खुरासान मे रावीर, तारातबोल मे जै चद्रसूर, चन्द्रसूर या सूरचद्र। जबकि शीलविजय ने खुरासान मे हुनसान, इस्तबोल मे तिलग, तारातबोल मे सूरचन्द्र और स्वर्णकान्ति नगरी मे कल्याण सेन को राज करते बताया है।

दूसरा विवरण मिलता है अहमदाबाद के व्यापारी पद्मसिह की सपरिवार दूर देशान्तर की यात्रा का। यह विवरण स्वय पद्मसिह ने यात्रा से लौटकर हैदराबाद से अहमदाबाद मे रह रहे रतनचद भाई को लिखे अपने पत्र मे किया

१ जैन सत्य प्रकाश, वर्ष ५, अक २।
२ जैन सत्य प्रकाश, वर्ष ६, अक ६।
३ साप्ताहिक हिन्दुस्तान—२३ जून, १९५९।
४ नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६४, अक २ (स० २०१६)

था। यह पत्र भी स्वर्गीय मुनि श्री कान्तिसागर ने प्रकाशित करा दिया है। पद्मसिंह ने यह यात्रा सं० १८०५ में प्रारम्भ की थी और १६ वर्ष बाद सं० १८२१ में वह लौटकर सकुशल स्वदेश आया था। उसकी यात्रा का मार्ग इस्तंबूल[1] तक प्राय वही रहा है जो बुलाकीदास का रहा है, पर उसके आगे वह अजितनाथ के मंदिर से युक्त किसी ताल, तलंगपुर, चन्द्रप्रभु तीर्थ, नवापुरी पाटण और तारातंबोल (द्वितीय) की यात्रा का विवरण देता है। पद्मसिंह इस्पहान को आशापुरी तथा इस्तंबूल को तारातंबोल नाम देता है। ऐसा वह संभवत विस्मृति से अथवा ध्यान चूक जाने से प्रवाह में लिख गया है।

शीलविजय की तीर्थमाला के समान ही दिगम्बर जैन पुस्तकालय, कापड़िया भवन, सूरत से प्रकाशित ऐसी ही एक अन्य तीर्थमाला में भी उत्तर दिशा के तीर्थ-वर्णन में पूर्व से पश्चिम में बहने वाली गंगा नदी के किनारे पर अनेक जैन मंदिरों की विद्यमानता का उल्लेख किया गया है। उसमें तारातंबोल में भी जैन मंदिरों और मूर्तियों की वंदना के साथ-साथ किसी 'जवना गवला' नामधारी शास्त्र की विद्यमानता की भी सूचना दी है। तीर्थमाला में तारातंबोल के मार्ग में मांगीतुंगी पर्वत पर २८ हाथ (४२ फुट) और ४८ हाथ (७२ फुट) आकार की मूर्ति का भी उल्लेख किया है, जिसके पांव के अंगूठे पर २८ नारियल ठहर सकते थे। इसी प्रकार एक ऐसे सरोवर का भी उल्लेख किया है जिसमें ६ हाथ × १० हाथ आकार की शान्तिनाथजी की प्रतिमा स्थित थी।

पद्मसिंह ने इस्तंबूल में मुकुट स्वामी की ३८ हाथ × २८ हाथ (५७ फुट × ४२ फुट) आकार की निराधार खड़ी मूर्ति का विवरण दिया है, जिसके पांव के अंगूठे पर भी उपर्युक्त मांगीतुंगी पर्वत पर खड़ी मूर्ति के पांव के अंगूठे के समान २८ नारियल रखे जा सकते हैं। प्रतीत होता है दोनों वर्णन एक ही मूर्ति के हैं। इस्तंबूल में निराधार खड़ी इस विशाल मूर्ति का वर्णन हमें इसी नगर में खड़ी हरक्यूलीज की उस विशाल मूर्ति की याद दिलाता है जो विश्व के आठ आश्चर्यों में से एक माना जाता रहा है। पद्मसिंह इस्तंबूल से ६०० कोस की दूरी पर स्थित किसी ताल में अजितनाथ की २० हाथ × ६ हाथ या ३० × ९ वर्ग फुट आकार की मूर्ति की विद्यमानता का वर्णन करता है, जहां उसे नाव के द्वारा जाना पड़ा था। वह वहां से ५०० कोस दूरस्थ तलंगपुर नगर का वर्णन करता है और सूचना देता है कि वहां २८ जैन मंदिर थे। तलंगपुर से वह ७०० कोस दूर नवापुरी पट्टन जाता है ... मार्ग में किसी चन्द्रप्रभु के मंदिर के दर्शन भी करता है। पर इस मंदिर का निश्चित स्थान वह नहीं देता। नवापुरी पट्टन से ३०० कोस स्थित तारातंबोल

१ जैन सत्य प्रकाश, वर्ष ४, अंक ३ (सं० १९९४ आसोज वदी ७)
२. मूलचंद किसनदास कापड़िया बृहत् सामयिक पा० और बृहत्प्रतिक्रमण, पृ० १६४

नगर का यह यात्री बडा ही सरस वर्णन करता है। इस नगर मे उसने अनेक जैन मदिर, जैन मूर्तिया, हस्तलिखित ग्रथ संग्रह देखे और जैन मुनि के दर्शन किये। सूरत मे प्रकाशित दिगम्बर जैन तीर्थमाला मे तारातबोल मे किसी 'जवला-नावला' नामक शास्त्र की विद्यमानता की सूचना पद्मसिंह के वर्णन मे हस्तलिखित ग्रथो के विद्यमान होने की पुष्टि करती है।

बुलाकीदास द्वारा प्रस्तुत किया गया तारातबोल का वर्णन भी बडा ही सजीव है। वह लिखता है कि वहा का बादशाह हिन्दू है और जैन धर्मावलम्बी है। उसका नाम जैचद्र सूर, चद्रसूर या सूरचन्द्र है। वहा जैनियो के मदिर सोने और चादी के बने हैं। मूर्तिया रत्नो से जटित हैं। राजा के साथ प्रजा भी जैन धर्म को मानने वाली है तथा यह नगर सिंधु-सागर नाम की नदी के किनारे पर स्थित है। इसी के अन्य सस्करण मे तारातबोल के आस-पास स्थित मदिरो की सख्या ७०० दी गई है तथा शहर के मध्य मे आदीश्वरजी के विशाल मदिर के स्थित होने की बात कही गई है, जिसमे १०८ जडाव की मूर्तिया थी, प्रतिमाओ की वेदिया स्वर्ण-जटित थी, आदीश्वरजी का सिंहासन भी जडाऊ था। मदिर मे ७०० मन सोने की ईंटो का उपयोग किया गया था तथा इस मदिर मे त्रिकाल पूजा होती थी। शीलविजय भी तारातबोल का लगभग ऐसा ही वर्णन करता है। वह राजा के अनूपचन्द्र और त्रिलोकचन्द्र नाम के दो पुत्रो का भी उल्लेख करता है, तथा तारातबोल मे ३०० शिवालयो की विद्यमानता की भी सूचना देता है। इन सभी वर्णनो मे यात्रा-मार्ग मे पडने वाले अनेक नगरो के बाजारो, राजमहलो, राज-व्यवस्था आदि का भी वर्णन मिलता है, पर उन पर प्रकाश डालना इस समय हमारा उद्देश्य नही है।

इन यात्रा-विवरणो मे वर्णित अनेक नगरो के नामो से हम सभी परिचित है। काबुल, कधार, इस्फहान, खुरासान और इस्तबूल के नाम हमने सुने हैं। इस्फहान के क्रम मे ही उल्लिखित सारस्तान नगर सीस्तान प्रतीत होता है। बुलाकीदास के वर्णन को देखते हुए यह स्पष्ट हो जाता है कि पद्मसिंह ने इस्फहान को ही आसापुरी नाम दिया है। पद्मसिंह विस्मृति के कारण या लेखन-त्वरा मे इस्तबूल का नाम भी तारातबोल दे गया है। यह भ्रम इस्तबूल के भी तबूलान्तक नाम होने के कारण हुआ प्रतीत होता है।

बुलाकीदास ने इस्तबूल से आगे ५०० कोस पर बब्बर देश या बाबर नगर का नामोल्लेख किया है। शीलविजय उसे बबरकूल कहता है। वह लिखता है, "बबरकूल वशि पाचसे, पवन राज ईहा सुधि वसे" अर्थात् इस्तबूल से पाच सौ कोस दूर बबरकूल है जहा पवनराज का भी निवास है। यह वर्णन बेबिलोनिया के उन मूल पुरुषो की याद दिलाता है जो मतु या मर्तु (वैदिक मरुत) नाम के

वायु देवता के पूजक थे।[1] शीलविजय का वब्बरकूल-स्थित पवनराज की बेबिलोनिया का 'मरुत' देवता की स्थापना से प्रतीत होता है कि यह वब्बरकूल बैबिलोनिया ही होना चाहिए। यहा के निवासी भारत मे निकले पणि और चोल ही माने जाते हैं। बैबिलोनिया सीरिया के दक्षिण, फारस के पश्चिम और अरब के उत्तर मे स्थित प्रदेश है। पर यात्रा-मार्ग के अन्य नगरो को देखते हुए प्रतीत होता है कि कैस्पियन सागर के दक्षिणी तट पर वसे बाकुल को ही बाबर, वब्बर या वब्बरकूल कहा गया होगा। पद्मसिंह ने अजितनाथ के मंदिर की दूरी इस्तबूल मे उतनी ही बताई है जितनी बुलाकी ने बाबर की, अत अनुमान लगाया जा सकता है कि वह मूर्ति बाबर मे ही रही होगी। तलगपुर की स्थिति कहा रही होगी, निश्चित रूप से कुछ कह सकना कठिन है। तलग या तिलग शब्द उन हूणो और तुर्कों के लिए प्रयुक्त शब्द है जो गोबी के रेगिस्तान, इस्सिकुल और सिर दरिया के ऊचे पहियो की गाडी रखते थे। चीनी लेखको ने इन्हें ही चीलेहीले या चिरके लिखा है। इसी से तेरेक और तुर्क शब्दो की भी उत्पत्ति हुई है।[2] यह शब्द सातवी शती ई०तक तो प्रचलित था ही। बुलाकी ने इस्फहान मे और शीलविजय ने इस्तबूल मे इसी जाति का राज्य होना बताया है। अत प्रतीत होता है सिर दरिया के किनारे ताशकद से थोडा उत्तर मे बसा तुर्कीस्तान ही पद्मसिंह का तलंगपुर हो सकता है।

पद्मसिंह तलगपुर या तुर्कीस्तान से नवापुरी पट्टण जाता है। नगर के अत मे पट्टन शब्द के प्रयोग से प्रतीत होता है कि यह कोई नदी या समुद्र के किनारे स्थित व्यापारिक नगर था। तुर्कीस्तान और नवापुरी के मध्य मे वह चन्द्रप्रभु तीर्थ भी जाता है। इसकी स्थिति कहा रही होगी, कह पाना कठिन है, पर नवापुरी पट्टन ओब नदी की खाडी मे बसा नोवा पोर्ट ही प्रतीत होता है, जिसकी स्थिति चन्द्रा-प्रभुजी से ७०० कोस कही गई है। तारातवोल नवापुरी पट्टन से ३०० कोस दूर कहा गया है।

वास्तव मे तारातवोल किसी एक नगर का नाम नही है। ये इर्तिश नदी के किनारे बसे तारा और तोवोलस्क नाम के दो नगर हैं। तारा इर्तिश और इशिम के सगम पर बसा है और तोवोलस्क इर्तिश और तोवोल के सगम पर। इन दो नगरो के मध्य की दूरी बहुत अधिक नही है, इसी से इनके नामो का प्रयोग एक-दूसरे की पहचान के लिए साथ-साथ किया गया है, जो एक सामान्य प्रथा रही है। बुलाकीदास, शीलविजय आदि इसे सिंधु सागर नदी पर स्थित बताते हैं। सभवत इर्तिश को ही सिंधु सागर कहा है। सभवत इर्तिश और भारतीय सिंधु नदी के रूसी उच्चारण ईत मे उच्चारण-साम्य के भ्रम से ऐसा किया गया है।

१ The name of the Babylonian storm—God was Matu, or Martu, which as we have seen, was the same as the Vedic Marut and must have been taken by Panis and Cholas to Babylonia

२ राहुल साकृत्यायन मध्य एशिया का इतिहास, खं० १, पृ० २३३-३४।

शीलविजय ने जिस सहस्रमुखी गगा के पूर्व मे बौद्धो और पश्चिम मे जैन राज्यो की बात कही है—वह इस स्थिति मे ओब नदी ही प्रतीत होती है, जिसमे उद्गम से सागर मिलन तक सहस्रो छोटी-मोटी नदिया आकर मिल गई हैं। बुनाकीदास के अनुसार तारातबोल इसी तोबोल सिंधु (इर्तिश) के सगम पर बसा है। यह स्थिति तोबोलस्क के लिए एकदम ठीक बैठती है।

पद्मसिंह तारातबोल से किसी टागनव देश जाने की अपनी इच्छा का उल्लेख करता है और कहता है कि प्रभावचन्द्रजी ने वहा से आगे न जाने को कहा अत उसे वही से लौट जाना पडा। मुनि कान्तिसागर ने और तदुपरान्त श्री नाहटा के लेख मे छपा 'टागानव' शब्द मुझे अशुद्ध प्रतीत होता है। यह टाडारव होना चाहिए जो टुड्रा का ही अपरनाम हो सकता है। प्राचीन ग्रथो मे 'ड' और 'ड' के लेखन की समानता के कारण ही टाडारव को टागानव पढा गया है। टुड्रा अत्यधिक शीतप्रधान देश है अत प्रभावचद्रजी के द्वारा पद्मसिंह को दिये गए वर्जनादेश मे यही कारण दिखाई देता है।

शीलविजय ने तारातबोल से १०० गाउ (गव्यूति) दूर जिस स्वर्णकान्ति नगर का उल्लेख किया है वह 'अल्ताई' का सस्कृत रूप है। तुर्की और मगोल भाषाओ मे अल्ताई का अर्थ है स्वर्ण गिरि।[1] अल्ताई की पहाडियो मे स्थित सोने की खानें अज्ञातकाल से ही सारे एशिया की सोने की माग को पूरा करती रही हैं। अत भारतीय व्यापारियो का भी अवश्य ही इन खानो से सबध सदा से रहा होगा, यह कल्पना की जा सकती है।

शीलविजय ने जैन धर्मी प्रजाजनो से भरे-पूरे जिस लाट देश का तारातबोल के साथ उल्लेख किया है वह स्पष्टत: लाटविया है। इन वर्णनो से अल्ताई से लाटविया तक की समस्त प्रजा जैन धर्मावलबी सिद्ध होती है।

इन प्रदेशो और नगरो की सही स्थिति का ज्ञान हो जाने पर वहा के राजाओ और राजकुमारो के जैचद्रसूर, चद्रसूर, सुरचद्र, कल्याण सेन, अनूपचद्र या त्रिलोकचद्र जैसे नामो के रखे जाने मे हमे कोई आश्चर्य नही होना चाहिए। हमे पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि वहा भी भारतीय सस्कृति का प्रभाव था और मगलखान, आनदखान और धर्मश्री जैसे भारतीय नाम रखने की वहा प्रथा थी।[2]

तारातबोल मे उपलब्ध जिस जैनशास्त्र का उल्लेख दिगम्बर तीर्थयात्रा मे किया गया है, वह भी हमारे लिए विचार का विषय है। भारत मे 'धवला' शास्त्र तो देखा और सुना जाता है पर 'जवला गवला' शास्त्र के विषय मे कोई जानकारी नही मिलती। मेरी मान्यता है कि यह शास्त्र उत्तरापथ के तीर्थों और

१ राहुल साकृत्यायन मध्य एशिया का इतिहास, पृ० ५७।
२ राहुल साकृत्यायन बौद्ध सस्कृति, पृ० ४२८

नगरो आदि की भौगोलिक स्थिति मे नवधिन रहा होगा। जिसे किन्ही भारतीय जैन विद्वान ने तारातबोल मे रहते हुए ही लिखा होगा। जबला यमाला या जेम्लिया का भ्रष्ट रूप है और गवला हिमालय के लिए प्रयुक्त रूसी भाषा के शब्द गिमलाई का।[1] रूसी मे 'ह' को 'ग' लिखा जाता है। जेम्ल्या भी हिमालय का ही परिवर्तित फारसी रूप है। भारतीय या ईरानी आर्य प्रवासियो ने ही संभवत वहा पहुचकर इस हिमाच्छादित प्रदेश को नव्य हिमालय या नोवाया जेम्ल्या नाम दिया[2] जो आज तक प्रचलित है। अत 'जवला और गवला' का अर्थ हुआ 'हिमालय मे जेम्ल्या' तक का शास्त्र। इस शास्त्र की उपलब्धि पर इस भूभाग मे भारतीयों के प्रभाव से सबधित कई एक रहस्यो का उद्घाटन सभव है।

कतिपय भारतीय नगरो के नामो के अतिरिक्त मुझे यह सदेह होता है कि ये वर्णन ठीक वैसे ही होगे जो इन्होने अपनी आखो से देखा है। प्रतीत होता है किन्ही प्राचीन विवरणो मे इन्होने अपने विवरणो को भी मिलाकर प्रस्तुत किया है—अन्यथा तुर्क जाति के लिए तिलग शब्द का प्रयोग, बाबर या बेबिलोनिया के साथ अतीत मे विस्मृत पवनराज का सबध जैसी बातें जो उस काल मे भारतीय सर्वथा भूल-से चुके थे, इन यात्रियो और तीर्थमाला रचने वालों के ध्यान मे कैसे आती ? ये प्राचीन विवरण चौथी से छठी शताब्दी के होने चाहिए। इन स्थानो मे भारतीयो ने पूर्वकाल मे अवश्य ही अपने मदिर, शिवालय आदि बनाये होंगे, शास्त्र लिखे होगे, साधु-सत भी वहा रहते रहे होंगे, पर इस्लाम धर्म के प्रचार-प्रसार और पश्चिमी देशो की राजनीतिक उथल-पुथल ने भारतीयो के इन प्रदेशो से प्राचीन सपर्क को तोड दिया। बौद्ध धर्म के प्रभाव ने अपनी समान प्रकृति के जैन धर्म के अवशेषो को आत्मसात कर लिया और इसी से अब तक शोध-खोज करने वाले विद्वानो ने इसे बौद्ध धर्म से ही सबधित कहा है। बौद्ध धर्मोपदेशको ने भारत से बाहर जा-जाकर शताब्दियो तक धर्म-प्रचार किया और जैन या वैदिक धर्मावलबी प्रचारको ने ऐसा नही किया होगा यह बात समझ मे नही आती। अत विश्वास है कि ये यात्रा-विवरण और यहा प्रस्तुत किया जा रहा इन तीर्थों का स्थान-निर्धारण अवश्य ही इस दिशा मे खोज के लिए प्रेरणा देगा।

१ रूसी हिन्दी छात्रोपयोगी शब्दकोश सकलनकर्ता इ सोल्लेवा, सपादक डॉ० केसरी-नारायण शुक्ल और पूर्ण सोमसुन्दरम्।

२ प० रघुनदन शर्मा वैदिक सपत्ति, पृ० ४१५

मालवा में जैन धर्म का ऐतिहासिक सर्वेक्षण

•

डॉ० मनोहरलाल दलाल

मालवा सांस्कृतिक एवं भौगोलिक दृष्टि से भारत का हृदय-स्थल है। उत्तर एवं दक्षिण के बीच स्थित होने से जैन धर्म का यह केन्द्र रहा है। मालवा का भू-भाग पश्चिम एवं उत्तर-पश्चिम मे अरावली की पहाड़ियो, दक्षिण में विध्याचल, पूर्व मे बुदेलखड तथा उत्तर पूर्व मे गगा की घाटी से घिरा है। इसकी मालवा सज्ञा प्रसिद्ध मालवा गणतत्र के कारण पडी है। प्राचीन भारत मे यह भू-भाग आकूर, अवन्ति, अनूप एव दशार्ण जनपद मे विभक्त था, परतु पाचवी शताब्दी के अत मे अवन्ति प्रदेश का नाम मालव[1] पडा तथा सातवी शताब्दी से सपूर्ण क्षेत्र को महा-मालव[2] और आठवी शताब्दी से मालवा कहा जाने लगा। साहित्यिक और पुरातात्त्विक साक्ष्यो से मालव प्रदेश मे जैन धर्म का प्रचार, प्रसार एव प्रगति विदित होती है।

भगवान् महावीर के जीवनकाल मे ही जैन धर्म का प्रसार मालवा मे होने लगा था। जनश्रुति के अनुसार महावीर स्वय उज्जयिनी आए थे,[3] जो परवर्ती एव अविश्वसनीय है, यद्यपि महावीर के समकालीन उज्जयिनी के शक्तिशाली शासक चडप्रद्योत महासेन को जैन अनुश्रुति के आधार पर जैन मतावलबी माना जाना चाहिए क्योकि वैवाहिक सबधो के कारण वह महावीर से सबद्ध था। प्रद्योत की उज्जयिनी, विदिशा एव दशपुर मे महावीर की चदन-निर्मित जीवतस्वामी को मूर्तिया प्रतिष्ठित करने का श्रेय दिया जाता है।[4] प्रद्योत के पुत्र गोपाल को गणधर सुधर्मा ने जैन धर्मानुयायी बनाया था[5] तथा प्रद्योत के अनुज कुमारसेन

१ एपिग्राफिया इडिका, ६, पृ० २७१
२ मार्शल मान्युमेट्स आफ सांची, १, पृ० ३६४-६५ अभिलेख सख्यक ८४२
३ दि हार्ट ऑफ जैनिज्म, पृ० ३३
४ त्रिषष्टिशलाका-पुरुष-चरित्र, पर्व १०, सर्ग २, पृ० १५७
५ जैन तीर्थ सर्व सग्रह, पृ० ३२२

को महाकाल-मंदिर में नरमास-विक्रय को रोकने में अपने प्राण देने पड़े थे।[1] संभवत महावीर के समय उज्जयिनी के अतिरिक्त दशपुर और विदिशा भी जैन धर्मानुयायियों के केंद्र थे। प्रद्योत का उत्तराधिकारी पालक भी जैन धर्मावलम्बी प्रतीत होता है। नन्द सम्राट महापद्मनन्द के अंतर्गत भी मालवा में जैन धर्म का प्रसार हो रहा था। मौर्य युग में जैन धर्म का पश्चिमी भारत केंद्र होने लगा था जिसकी पुष्टि स्मारकों एवं जैन अनुश्रुतियों से होती है।

मौर्य सम्राट चंद्रगुप्त को परिशिष्टपर्वन में जैन कहा गया है तथा एक परंपरा के अनुसार उसने श्रुत केवली भद्रबाहु से दीक्षा ग्रहण कर भारत में मैसूर प्रदेश के श्रवण बेलगोला में संथारा द्वारा प्राण त्यागे थे।[2] अशोक के पौत्र संप्रति को जैन धर्म का अशोक मानकर संपूर्ण भारत में मंदिरों का निर्माण और मूर्तियों की प्रतिष्ठा का श्रेय दिया जाता है। संप्रति को आर्य सुहस्तिन ने जैन धर्म में दीक्षित किया था।[3] आर्य सुहस्तिन ने जीवतस्वामी की मूर्ति के दर्शनार्थ उज्जैन के के प्रवासकाल में अवंति सुकुमाल को शिष्य बनाया था।[4] अवंति सुकुमाल की मृत्यु के पश्चात् उसकी स्मृति में एक स्तूप निर्मित करवाकर पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठित की गई थी, इस स्तूप को कालांतर में कुडुंगेश्वर कहा जाने लगा। उज्जयिनी को जैन-तीर्थ होने का गौरव प्राप्त था, फलतः चंडरुद्र, भद्रकगुप्त, आर्यरक्षित और आर्य आषाढ ने यात्रा की थी। वज्रस्वामी ने सिंहगिरि से ग्यारह अंग का अध्ययन कर दशपुर से अवंति आकर भद्रगुप्त से बारहवें अंग दृष्टिवादांग की शिक्षा ग्रहण की तथा दशपुर-निवासी आर्यरक्षित को नौ पूर्व और दसवें का अंश सिखाया था।[5] वज्रस्वामी शिष्यों सहित विदिशा के निकट रथावर्त्त पर्वत पर आए थे तथा निकट के कुंजरावर्त पर्वत पर निर्वाण प्राप्त किया था।[6]

प्राचीन अनूप (नीमाड) के कसरावद के निकट मौर्ययुगीन ११ स्तूप तथा विहार एवं सभागृह मिले हैं।[7] इस विहार के उत्खनन में कुछ मृद्भांड मिले हैं, जिन्हें यहां पर निवास करने वाले साधु प्रयुक्त करते होंगे। इनमें से कुछ भांडों पर अभिलेख उत्कीर्ण हैं यथा—निगंठस विहार दीपे, भूलदेवे, सिपालस, हरदीपे, भूलदेवे, रसख, परितारिकेप आदि। निगंठस विहार दीपे से स्पष्ट है कि निर्ग्रन्थ विहार से संबद्ध दीपक था, यद्यपि अभी तक इन अवशेषों को बौद्ध विहार से संबद्ध माना

१ प्रधानकृत क्रोनोलॉजी ऑफ एंशिएण्ट इंडिया, पृ० ७२ एवं ३३५
२ इंडियन एंटीक्वेरी, १८९२, पृ० १५७
३ वही, XI, पृ० २४६
४ वही, पृ० २४६
५ वही, पृ० २४७
६ जैन तीर्थ सर्व संग्रह, पृ० ३२५
७ इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली, XXV, पृ० १

जाता रहा है, जो कि पूर्वाग्रह मात्र है। यह जैन विहार ज्ञात जैन स्मारकों में सबसे प्राचीन होने से महत्त्वपूर्ण है। कसरावद के निकट का प्रदेश परमार युग में भी जैन धर्म का केंद्र ज्ञात होता है।

जैनाचार्य कालक को गर्दभिल्ल वंशीय उज्जयिनी के शासक विक्रमादित्य के पिता प्रतिशोध लेने हेतु शक स्थान तक जाने का विवरण उपलब्ध है, जिसे सत्य मानने पर उज्जयिनी का जैन संघ शक्तिशाली विदित होता है। विक्रम संवत् प्रवर्तक इस विक्रमादित्य को जैनाचार्य सिद्धसेन दिवाकर द्वारा जैन धर्मानुयायी बनाने की अनुश्रुति प्रसिद्ध है।[1] दिगंबर जैन पट्टावली में भी विक्रमादित्य को जीवन के अंतिम चालीस वर्ष जैन धर्मों में वर्णित किया है।[2]

गुप्त सम्राटों के अंतर्गत सहिष्णुतापूर्ण नीति के कारण जैन धर्म की उन्नति हुई। विदिशा के निकट उदयगिरि की गुफा क्रमांक २० में उत्कीर्ण गुप्त संवत् १०६ (४२५ ई०) के अभिलेख शमदमयुक्त शंकर नामक व्यक्ति विस्तृत सर्प-फणों से भयंकर दिखने वाली जिन श्रेष्ठ पार्श्वनाथ की मूर्ति गुफा-द्वार पर निर्मित करवाई थी।[3] इस अभिलेख से आचार्यभद्र एवं उनके शिष्य गोशर्मन का भी उल्लेख है। तालनपुर से संवत् ६१२ (५५५ ई०) में शा चंद्रसिंह द्वारा मंडपदुर्ग में स्थापित आदिनाथ की मूर्ति मिली है।[4] बेसनगर से सात फुट ऊंची कायोत्सर्ग मुद्रा में तीर्थंकर की विशाल मूर्ति मिली है, जो ग्वालियर संग्रहालय में है। मालवा के स्थानीय शासक महाराजाधिराज रामगुप्त के शासनकाल में स्थापित तीन तीर्थंकर पद्मासन मूर्तियां विदिशा में मिली हैं, जिनमें एक चंद्रप्रभु की और दूसरी पुष्पदंत की पाद पीठ-लेख से ज्ञात होती है।[5] गुप्त ब्राह्मी के इन मूर्ति-लेखों से चंद्र क्षमाचार्य क्षमण श्रमण के प्रशिष्य और आचार्य सर्प्पसेन-क्षमण के शिष्य चेलू क्षमण के उपदेशों से प्रभावित होकर रामगुप्त द्वारा ये मूर्तियां निर्मित करवाने का ज्ञान होता है। सामान्यतः इस रामगुप्त को समुद्रगुप्त का ज्येष्ठपुत्र और देवी चंद्रगुप्त नाटक के रामगुप्त से अभिन्न माने जाने का परामर्श दिया जाता है, जोकि समीचीन नहीं है। हर्षचरित[6] एवं हर्ष के ताम्रपत्रों[7] में उल्लेखित मालवराज देवगुप्त तथा तुमैन से प्राप्त एक सिक्के में ज्ञात सत्यगुप्त[8] इन मूर्तिलेखों के रामगुप्त के

१ दि पट्टावली समुच्चय, पृ० ४६, १०६
२ इंडियन एंटिक्वरी, XX, पृ० २४७
३ फ्लीट गुप्त अभिलेख संख्यक ६१, पृ० २५८
४ विक्रम स्मृति ग्रंथ, पृ० ५६८
५ जर्नल ऑफ ओरियंटल इंस्टिट्यूट, १८, भाग ३, पृ० २४७-५१
६ कावेल एवं थामस द्वारा अनूदित, पृ० १०१, १७२
७ एपिग्राफिया इंडिका, ४, पृ० २०८-११, वही, १, पृ० ६७
८ इंडियन आर्कियालाजी ए रिव्यू, १९६७-६८, पृ० ६२

उत्तराधिकारी प्रतीत होते हैं, जिसे छठी शताब्दी के उत्तरार्द्ध का मालवा का एक स्थानीय राजवंश माना जाना चाहिए।

मालवा में निर्मित कई मंदिरों एवं प्रतिष्ठित मूर्तियों में पूर्वमध्यकाल में जैन धर्म के प्रसार एवं उत्थान का ज्ञान होता है। धार एवं उज्जयिनी परमारों के अंतर्गत जैन धर्म के केंद्र थे। बडोत में २५ जैन मंदिरों का एक समूह, बूढी चंदेरी के जैनावशेष[२], राखेत्रा के जैनमंदिर[३] तथा ममोन[४], भोजपुर[५], ऊन[६], चंदेरी[७], गुरिला का पहाड़[८], वीयला[९], वीजवड़[१०], पूरगिलना[११], सवारा[१२], केथुली[१३] आदि के जैन मंदिरों से पूर्वमध्यकाल में जैन धर्म की लोकप्रियता विदित होती है। परमार-शासकों ने जैन विद्वानों को संरक्षण दिया तथा जैनाचार्यों के प्रति श्रद्धा व्यक्त की। जैन धर्म के उत्थान की दृष्टि से यह स्वर्णयुग था।

मूलसंघ की पट्टावलियों से विदित होता है कि भद्दलपुर से २७वें भट्टारक ने अपना केंद्र उज्जयिनी स्थानांतरित कर लिया था[१४], जो ५३वें भट्टारक माघचंद्र द्वितीय के द्वारा करीब १०८३ ई० में कोटा के वारन में स्थापित किया गया[१५]। वारन से ६४वें भट्टारक ने चित्तौड़ में अपना पट्ट केंद्र स्थानांतरित कर लिया था, जो कि मालवा से सम्बद्ध क्षेत्र रहे हैं।[१६] मूलसंघ का सरस्वती गच्छ एवं बलात्कार-गण की उत्पत्ति उज्जयिनी से ही मानी जाती है।[१७] मालवा के भट्टारकों में निह-नन्दि प्रसिद्ध है।[१८]

१ आर्कलाजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, रिपोर्ट १९२३-२४ पृ० १३३ तथा कनिंघम रिपोर्ट्स ७, पृ० ६४
२ आर्कलाजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, रिपोर्ट १९२४-२५, पृ० १६४
३ वही, पृ० १६६
४ वही, पृ० १६१
५ वही, १९२२-२३, पृ० ४९
६ वही, १९१८-१९, पृ० १७-१८
७ वही, १९२४-२५, पृ० १६४
८ वही, पृ० १६७
९ वही, पृ० १२६
१० आर्कलाजिकल सर्वे आफ इंडिया, वेस्टर्न सर्कल १९२१, पृ० १०६
११ वही, १९२०, पृ० ८१
१२ वही, पृ० ८८-९१
१३ वही, पृ० ९२
१४ इण्डियन एण्टिक्वरी, २१, पृ० ५८
१५ वही
१६ वही
१७ जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३९१
१८ वही, पृ० ३७१

उद्योतनसूरि ने लगभग ६३७ ई० मे मालवदेश से शत्रुञ्जय तीर्थ की यात्रा की थी तथा देवसेन ने धार के पार्श्वनाथ मदिर मे 'दर्शनसार' ६३३ ई० मे पूर्ण किया था। जैन विद्वान अमितगणि, महासेन, धनपाल और धनेश्वर को वाक्पति मुज ने सरक्षण दिया था।[1] परीक्षामुख का रचयिता माणिक्यनदि भी सभवत इसी समय धार मे आवसित थे, जिनके अग्रज पद्मनन्दि, विष्णुनन्दि, वृषभनन्दि, रामनन्दि और त्रैलोक्यनन्दि का उपदेश एव कर्मक्षेत्र मालवा ही था।[2] प्रसिद्ध जैनाचार्य प्रभाचद्र के प्रति परमार भोजदेव ने आदर प्रदर्शित किया था तथा जैन-विद्वान् धनपाल ने उसके अनुरोध पर तिलकमजरी की रचना कर सरस्वती विरुद प्राप्त किया था। भोज के शासनकाल मे जैन धर्म एवं साहित्य की प्रगति हुई। दुवकुंड के १०८८ ई० के अभिलेख से विदित होता है कि भोज के राजदरबार मे वृषभनाथ की मूर्ति प्रतिष्ठित की थी। शेरगढ के ११३४ ई० के अभिलेख मे नरवर्मन के शासन मे नवचैत्य मे नेमिनाथ का उत्सव मनाने का विवरण है।[3] देवपाल ने अपने पुत्र एवं सबधियो तथा कोषवर्धन की गोष्ठी के साथ रत्नत्रय का प्रतिष्ठा समारोह किया था।

परवर्ती परमार शासको के राजक्षेत्रो मे जैन विद्वानो एव आचार्यों के द्वारा जैन धर्म की लोकप्रियता मे वृद्धि हुई। धार मे निवास करने वाले धरसेन का शिष्य महावीर जैन धर्म की विभिन्न शाखाओ का विद्वान् था तथा परमार शासक विध्यवर्मन पर उसका बहुत प्रभाव विदित होता है।[4] प० आशाधर[5] मुस्लिम आक्रांताओ के भय से माण्डलगढ से ११९२ ई० मे धार आए और आचार्य महावीर को प्रणामाञ्जलि से सम्मानित किया था। आशाधर जैन विद्या का प्रकाड पडित था तथा तेरहवीं शताब्दी के मध्य तक साहित्य-सृजन किया, इन्होने पाच परमार शासको विंध्य वर्मन, सुभट वर्मन, अर्जुन वर्मन, देवपाल और जैतुगिदेव का नामोल्लेख किया है। आशाधर की महाकवि बिल्हण ने अत्यत प्रशसा की है। बाल-सरस्वती महाकवि बिल्हण ने आशाधर से काव्यशास्त्र की शिक्षा ग्रहण की थी तथा पडितजी के पिता और पुत्र को अर्जुन वर्मन ने उच्चपद पर नियुक्ति दी थी। आशाधर ने विशाल कीर्ति, अर्हदास, देवचद्र जैसे विद्वान् शिष्य तैयार किये थे, जिन्होंने उल्लेखनीय जैन साहित्य सृजन के द्वारा जैन धर्म की सेवा की।

जिनपति सूरि ने धार के शातिनाथ मदिर मे विधिमार्ग की ११९७ ई० मे

१ पेटर्सन रिपोर्ट्स सख्यक-४, प्रस्तावना, पृ० ३
२ गुरु गोपालदास वरैया स्मृतिग्रथ, पृ० ५४३
३ एपिग्राफिया इडिका, २१, पृ० ८०
४ जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३४७
५ वही, पृ० ३४२

स्थापना की थी।[1] तेरहवीं शताब्दी में उज्जयिनी जैन संघ के देवधर प्रमुख थे[2], जिनकी मृत्यु १२७० ई० में तथा उसके तेरहवें दिन उनके पट्टधर विद्यानन्द सूरि की विद्यापुरी में मृत्यु हो गई, फलत. धर्मकीर्ति उपाध्याय को धर्मघोष सूरि के नाम से पट्टधर बनाया गया, जो १३०० ई० में मृत्यु को प्राप्त हुए। इन आचार्यों ने मालवभूमि में जैन धर्म के प्रसार-हेतु प्रयत्न किये थे। चौदहवीं शताब्दी के पूर्व के प्रतिष्ठित जैन तीर्थों का जिनप्रभ सूरि द्वारा लिखित विविध तीर्थ में विवरण है। उज्जयिनी में कुडुंगेश्वर, मगलपुरा में अभिनन्दनदेव, दशपुर में सुपार्श्व और भैल-स्वामीगढ (भेलसा) में महावीर को इस प्रदेश के प्रसिद्ध जैन तीर्थ वर्णित किया गया है।[3] मदनकीर्ति ने अपने ग्रथ शासन चतुस्रींशिका[4] में मगलापुर के शांतिसेन ने कई विद्वानों को वादविवाद में परास्त किया था।[5] सुराचार्य और देवभद्र को भी भोज का सरक्षण प्राप्त हुआ था। प्रसिद्ध जैनाचार्य जिनेश्वर सूरि और बुद्धिसागर ने धारानगरी में सभवतः भोज के ही समय जैन धर्म का उद्घोष किया था। इसी समय जैन कवि नयनंदि ने १०४३ में लिखित सुदर्शन चरित में धार के जिनवर विहार का उल्लेख किया है[6]। भोज के सरक्षण में श्रीचद ने पुराणसार की रचना की तथा रविषेण के पद्मचरित और पुष्पदत के महापुराण पर टीकाएं लिखीं। नेमीचद्र ने आश्रमनगर में भोज के राज्यकाल में माडलिक श्रीपाल के समय लघुद्रव्य सग्रह की रचना की थी। भोजदेव के शासनकाल में सागरनन्दि ने भोजपुर के जैन मदिर में नेमीचंद्र सूरि के द्वारा तीर्थंकर मूर्ति की प्रतिष्ठा करवाई थी।[7] भोज के उत्तराधिकारी जयसिंह ने भी प्रभाचद को सम्मान दिया था।

ऊन में जैन मदिरों का विशाल समूह है, जो ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों में निर्मित हुए थे, यहां के मदिरों से भोजदेव के भ्राता उदयादित्य के दो अभिलेख और नरवर्मन के समय का सर्पबंध अभिलेख मिला है।[8] नरवर्मन की जैन विद्वानों और आचार्यों के प्रति असीम श्रद्धा थी। मालवा में तर्कशास्त्र का अध्ययन करने वाले जैन विद्वान् समुद्रविजय नरवर्मन के आश्रित थे। चित्तौड से धार की यात्रा करने वाले जिनवल्लभ सूरि के उपदेशों से प्रभावित होकर नरवर्मन ने आचार्य की इच्छानुसार चित्तौड के दो खरतर मदिरों को चित्तौड के

१ खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावली
२. Indian Antiquary, XI, p 255
३ विविध तीर्थकल्प, ४७, २७ एव ८५
४ जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ३४७
५ जैन साहित्य और इतिहास, पृ० २७४
६ जैन ग्रथ प्रशस्ति सग्रह, सख्यक-३
७ एपिग्राफिया इंडिका, पृ० ३५
८ आर्कलाजिकल सर्वे रिपोर्ट्स, १९१८-१९, पृ० १७-१८

शुल्कगृह से दो पारुत्थ द्रम्म प्रतिदिन देने की स्वीकृति दी थी ।[1] जिनवल्लभ सूरि के पट्टधर जिनदत्त सूरि ने अपने शिष्यो को धार मे वृत्तिपंजिकादि लक्षण शास्त्र का अध्ययन करने भेजा था तथा स्वय ने उज्जयिनी, धार, चित्तौड और वागड प्रदेश मे जैन धर्म के प्रचारार्थ यात्राए की थी ।[2] नरवर्मन के शासनकाल मे कई जैन मदिर और मूर्तियो का निर्माण हुआ । भोजपुर की पार्श्वनाथ प्रतिमा के अभिलेख से विदित होता है कि ११०० ई० मे चिल्लन ने उसे नरवर्मन के राज्यकाल मे स्थापित किया था ।[3]

११०६ ई० मे अर्यूना अभिलेख[4] से ज्ञात होता है कि भूषण ने वागड के परमार शासक विजयराज के राज्यकाल मे उथूणक मे एक जैन मदिर का निर्माण और अभिनन्दन जिन को मालवा के अतर्गत वर्णित किया है । जयानन्द ने नीमाड के वनो के निकट लक्ष्मी का 'प्रवासगीति' मे तीर्थरूप मे उल्लेख किया है ।[5] दाहोद से १२० कि०मी० के तालनपुर जैन तीर्थ मे कई मदिरो के अवशेष और मूर्तिया मिली हैं तथा ९६५ ई० के एक अभिलेख मे इस स्थल को तुगिपट्टन कहा गया है ।[6] नीमाड का बडवानी भी जैन तीर्थ है, जहा की बावनगजा मूर्ति प्रसिद्ध है तथा अभिलेखो से १२७६ ई० और १३३१ ई० मे जैन मदिरो का पुनर्संस्कार ज्ञात होता है । उनको भी वर्तमान मे पावागिरि (द्वितीय) तीर्थ के रूप मे प्रतिष्ठित करने के प्रयास किये जा रहे हैं ।

दिगम्बर जैन पुरातत्व सग्रहालय उज्जैन मे मालव प्रदेश से एकत्रित कर कई जैन मूर्तिया प्रदर्शित की गई हैं, जिनमे से कुछ के पादपीठ पर उत्कीर्ण अभिलेख जैनाचार्यो, भट्टारको, संघो, गणो, गच्छो आदि पर विशद प्रकाश डालते हैं । विक्रम सवत् के इन अभिलेखो मे १३०८ के मूर्तिलेख[7] मे वागड सघीय आचार्य कल्याणवर्धन, १३०८ के दूसरे मूर्तिलेख मे लाटवागडान्वय कल्याणकीर्ति,[8] १३०८ के तीसरे मूर्तिलेख मे वागडान्वय कल्याणकीर्ति[9], १३०८ के चौथे मूर्तिलेख मे लाटवागडसघे भट्टारक कल्याणकीर्ति[10], १३०८ के पाचवें मूर्तिलेख मे वागडान्वय

१ खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावली, पृ० १३
२ वही
३ एपिग्राफिका इडिका, पृ० ३५
४ वही, २१
५ जैन तीर्थ सर्व सग्रह, पृ० ३१३ एव ३२०
६ वही
७ मूर्तिसञ्चक १७
८ वही, २१
९ वही, १३०
१०. वही, १६३

पंडित भानुकीर्ति,[1] १३०८ के छठे मूर्तिलेख मे वर्धमानपुरान्वय[2], १३०८ के सातवें दो मूर्तिलेख मे प्राग्वटान्वय[3], १३०८ के आठवें मूर्तिलेख मे पोरवालान्वय[4], १३०९ के मूर्तिलेख मे लाटवागडसंघे कल्याणकीर्ति[5], १३२६ के मूर्तिलेख मे खंडेलकगच्छे[6], १२२२ के मूर्तिलेख मे खंडेलान्वय[7], १२२२ के मूर्तिलेख मे पोरवालान्वय[8], १२३१ के मूर्तिलेख मे वर्कटान्वय[9], १२२० के मूर्तिलेख मे आचार्यान्वय[10], १५०६ के मूर्तिलेख मे श्रीकाष्ठासंघ वागडसंघे भट्टारक धर्मकीर्ति[11], १६६१ के मूर्तिलेख मे तपागच्छ भट्टारक कीर्ति जयदेव[12], १६१० के मूर्तिलेख मे श्री सेनाचार्यैव[13], १४९६ के मूर्तिलेख मे कुन्दकुन्दाचार्यान्वय भट्टारक पद्मनन्दि तत्पट्टे भट्टारक सकलकीर्ति[14], ११९० के मूर्तिलेख में श्रीकीर्ति के प्रशिष्य वसुपतिकीर्ति[15], १२२८ के मूर्तिलेख मे माथुरसंघे पंडिताचार्य धर्मकीर्ति और उनके शिष्य आचार्य ललितकीर्ति[16], विना तिथि के मूर्तिलेख मे मण्डलाचार्य गुणचन्द्र के प्रशिष्य और मण्डलाचार्य जिनचन्द्र के शिष्य मण्डलाचार्य सकलचन्द्र तथा उनके गुरुभ्राता हेमकीर्ति[17] आदि का उल्लेख उपलब्ध है।

१ मूर्तिसंख्यक, १६४
२ वही, १२७
३ वही, १२९, पृ० १६३
४ वही, १६४
५ वही, २२७
६ वही, ३०
७ वही, ७१
८ वही, १६५
९ वही, १७१
१० वही, १२४
११ वही, ३४
१२ वही, २०
१३ वही, ४५
१४ वही, ४७
१५ वही, १८१
१६ वही, २७३
१७ वही, ४७

महाराष्ट्र में जैन धर्म

•

डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर

भारत के प्राय सभी प्रदेशो मे जैन धर्म का प्रसार न्यूनाधिक मात्रा मे हुआ है। दक्षिण भारत, गुजरात, राजस्थान तथा बिहार मे जैन धर्म के कार्य मे सबद्ध ग्रथ सुविदित है। महाराष्ट्र के विषय मे ऐसा अध्ययन अभी नही हुआ है। यहा मैं इस प्रदेश मे जैन धर्म के प्रसार के विषय मे प्राप्त प्रमुख सदर्भो का सक्षिप्त अवलोकन प्रस्तुत कर रहा हू।

गुणभद्र के उत्तरपुराण (पर्व ६२ श्लो० २८०-२) के अनुसार ग्यारहवें और बारहवें तीर्थकरो के मध्यवर्ती समय मे प्रथम बलदेव विजय का विहार गजध्वज पर्वत पर हुआ था तथा जिनसेन के हरिवशपुराण (सर्ग ६३ श्लो० ७२-७३) के अनुसार बाईसवें तीर्थकर के समय अतिम बलदेव बलराम का देहावसान तुगीगिरि पर हुआ। ये स्थान महाराष्ट्र के नासिक और धूलिया जिले मे तीर्थो के रूप मे प्रसिद्ध हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से महाराष्ट्र मे जैन साधुओ की गतिविधियो का विस्तार मौर्य साम्राज्य के समय (सनपूर्व तीसरी शताब्दी मे) आचार्य भद्रबाहु तथा सुहस्ती के नेतृत्व मे हुआ होगा, यह अनुमान किया जा सकता है। इस प्रदेश मे जैन साधुओ के विहार का सर्वप्रथम स्पष्ट प्रमाण वह सक्षिप्त शिलालेख है जो पूना जिले मे पाला ग्राम के निकट एक गुहा मे प्राप्त हुआ है। लिपि के आधार पर यह लेख सनपूर्व दूसरी शताब्दी का माना गया है। इसमे भदत इद्ररक्षित द्वारा इस गुहा के निर्माण का उल्लेख है (धर्मयुग १५-१२-१९६८ मे डॉ० साकलिया ने इसका सचित्र परिचय दिया है)।

महाराष्ट्र के प्रथम ऐतिहासिक राजवश सातवाहन वश की राजधानी प्रतिष्ठान (आधुनिक पैठण, जि० औरगाबाद) मे जैन आचार्यो के विहार के सबध मे कई कथाए उपलब्ध हैं। प्रभावकचरित (प्रकरण ४) तथा विविधतीर्थकल्प (प्रकरण २३) के अनुसार आचार्य कालक ने इस नगर मे राजा सातवाहन के आग्रह पर

पर्युषण की तिथि भाद्रपद शुक्ल पंचमी से बदलकर चतुर्थी की थी क्योंकि राजा पंचमी के दिन होनेवाले इंद्रध्वज उत्सव तथा पर्युषण उत्सव, दोनों में उपस्थित होना चाहता था। इन कथाओं में राजा का वंशनाम ही दिया है व्यक्तिगत नाम नहीं है अतः इनकी ऐतिहासिकता परखना कठिन है। विविधतीर्थकल्प में दी हुई इस घटना की परंपरागत तिथि वीरनिर्वाण संवत् ९९३ (=सन् ४६६) सातवाहनों का राज्य समाप्त होने के काफी बाद की है। संभवतः इसीलिए प्रभावकचरित में तिथि का उल्लेख नहीं किया है।

प्रतिष्ठान से संबद्ध दूसरे आचार्य पालित्तय (संस्कृत में पादलिप्त) की कथा के (प्रभावकचरित, प्रकरण ५ तथा प्रबंधकोष, प्रकरण ५) अधिक सुदृढ़ आधार प्राप्त हैं। उद्द्योतन की कुवलयमाला (पृ० ३) में हाल राजा की सभा में पालित्तय की प्रतिष्ठा की प्रशंसा प्राप्त होती है। हाल द्वारा संपादित गाथा सप्तशती में प्राप्त एक गाथा (क्र० ७५) स्वयंभूछंद (पृ० १०३) में पालित्तय के नाम से उद्धृत है। सप्तशती की पीतांबरकृत टीका के अनुसार इसमें पालित्तय की ग्यारह गाथाएं हैं (क्र० ३९३-४, ४१७, ४२५, ४३३-४, ५७८, ६०९, ६२३, ७०६ ७२०) तथा भुवनपाल की टीका के अनुसार भी पालित्तय की गाथाओं की संख्या इतनी ही है यद्यपि इनके क्रमांक कुछ भिन्न हैं (७४, २१७, २५४, २५६, २५७, २६२, ३९३, ४३२, ५४५, ५७८, ५७९)। प्रभावकचरित में पालित्तय के गुरु का नाम नागहस्ति बताया है। भुवनपाल ने सप्तशती की चार गाथाएं (२०७, ३१५, ३४९, ३७३) नागहस्तिकृत बताई हैं (यहां गाथा क्रमांक श्री जोगलेकर के संस्करण से दिए हैं)। पालित्तय की तरंगवती कथा महाराष्ट्री प्राकृत का प्रथम प्रबंधकाव्य है। इसका संक्षिप्त रूपांतर प्रसिद्ध है।

जैन साहित्य में प्रसिद्ध तीन अन्य कथाएं सातवाहनयुग से संबद्ध हैं। हेमचंद्र के परिशिष्ट पर्व (प्रकरण १२-१३) के अनुसार आर्य समित ने अचलपुर (जि० अमरावती) के कई तापसों को जैन धर्म की दीक्षा दी थी तथा इनकी शाखा ब्रह्मदीपिका शाखा कही जाती थी। इसी कथा के अनुसार आचार्य वज्रसेन ने सोप्पार नगर (वर्तमान बंबई के निकट) में नागेंद्र, चंद्र, निर्वृति तथा विद्याधर को मुनि-दीक्षा दी थी। इनके नामों से जैन साधुओं की चार शाखाएं प्रसिद्ध हुई थीं। वज्रसेन की परंपरागत तिथि वीरनिर्वाण संवत् ६१७ (=सन् ९०) है (मुनि दर्शनविजय संपादित पट्टावली समुच्चय भाग १, पृ० १८-२१) तथा समित इन्हीं के ज्येष्ठ समकालीन थे।

वीरसेनकृत षट्खण्डागमटीका धवला के प्रथम खंड में प्राप्त कथा के अनुसार आचार्य पुष्पदंत तथा भूतबलि वेण्णायड नगर से प्रस्थान कर आचार्य धरसेन के पास गिरनार पहुंचे थे। वेण्णायड (विन्ध्यातट) का हरिषेणकृत बृहत्कथाकोष (कथा क्र० ९०) में निर्वाणक्षेत्र के रूप में वर्णन है जिससे प्रतीत होता है कि यह

स्थान वर्तमान वैरागढ (जि० चादा) के समीप था (अनेकात, वर्ष १६, पृ० २५९)। पुष्पदत और भूतवलि का समय ई० सन् की दूसरी शताब्दी मे अनुमित है।

सातवाहनो की राजधानी प्रतिष्ठान से जैन आचार्यों का सवध सातवाहनयुग के वाद भी रहा, ऐसा प्रतीत होता है। प्रभावकचरित (प्रकरण ८) के अनुसार द्वात्रिंशिकाओ के कर्ता प्रसिद्ध तार्किक आचार्य सिद्धसेन का देहावसान प्रतिष्ठान मे हुआ था। प्रवधकोप के अनुसार (प्रकरण १) आचार्य भद्रवाहु जो प्रसिद्ध ज्योतिपी वराहमिहिर के वधु थे का जन्म प्रतिष्ठान मे हुआ था।

चौथी-पाचवी शताब्दी से सवद्ध इन कथाओ के साथ इसी युग की एक अन्य कथा का उल्लेख किया जा सकता है। इसके अनुसार प्रसिद्ध तार्किक आचार्य समतभद्र ने करहाटक (वर्तमान कराड, जि० सातारा) की राजसभा मे वादविवाद मे भाग लिया था (मल्लिपेण प्रशस्ति, जैन शिलालेख सग्रह, भाग १, पृ० १०२)।

धाराशिव (उस्मानावाद) के तीन गुहामदिर सादे होने पर भी यात्रियो के आकर्पण के केंद्र रहे हैं। करकडु राजा द्वारा इनके निर्माण की कथा हरिषेण के वृहत्कथाकोष (कथा क्र० ५६), श्रीचद्र के कथाकोप (सधि १८) तथा कनकामर के करकडुचरित मे प्राप्त होती है। करकडुचरित की प्रस्तावना मे डॉ० हीरालाल जैन ने इन गुहाओ का विस्तृत सचित्र परिचय दिया है। इनका निर्माण वादामी के चालुक्यो के राज्यकाल (छठी-सातवी शताब्दी) मे हुआ प्रतीत होता है (इपीरियल गैजेटियर ऑफ इडिया, खड १९, पृ० २७०)। यहा की मुख्य पार्श्वनाथ प्रतिमा अग्गलदेव इस नाम से प्रसिद्ध थी।

राष्ट्रकूट राज्यकाल के महाराष्ट्र के जैन साहित्यिको का एक प्रमुख केंद्र वाटग्राम था। नयनदिकृत सकलविधिविधान के अनुसार ऊचे जिनालयो से सुशोभित यह नगर वराड देश मे था (जैन ग्रथ प्रशस्ति सग्रह, भाग २, पृ० २७)। वराड महाराष्ट्र के पूर्व भाग के लिए आज भी प्रयुक्त होनेवाला नाम है। नयनदि के कथनानुसार इस वाटग्राम मे आचार्य वीरसेन और जिनसेन ने धवला और जयधवला की रचना की थी तथा स्वयभू और धनजय कवि भी इसी नगर मे हुए थे। सस्कृत के प्रथम श्लेपकाव्य द्विसधान, नाममाला तथा विपापहारस्तोत्र के रचयिता के रूप मे धनजय प्रसिद्ध हैं। इनका समय आठवी शताब्दी का अतिम भाग है (डॉ० उपाध्येजी ने विश्वेश्वरानद इडोलॉजिकल जर्नल, भाग ८, पृ० १२५ मे धनजय के विपय मे विस्तृत चर्चा की है, केवल निवासस्थान की चर्चा रह गई है)। अपभ्रश के प्रथम प्रसिद्ध कवि स्वयभू का भी प्राय यही समय है। इनके पउमचरिउ, रिट्ठणेमिचरिउ तथा स्वयभूछद ये ग्रथ सुप्रसिद्ध हैं। पउमचरिउ के प्रथम सधि के अत मे स्वयभू ने अपने आश्रयदाता के रूप मे धनंजय का नामोल्लेख किया है। धनजय, स्वयभू तथा वीरसेन की कृतियो मे रचनास्थान का उल्लेख

नही है। जिनसेन ने जयधवला की अंतिम प्रशस्ति मे रचनास्थान का नाम वाट-ग्रामपुर बताया है किंतु प्रदेश का उल्लेख नही किया है। प० प्रेमीजी ने इसे वर्तमान वडौदा का पुराना नाम माना था (जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १४३-५) किंतु नयनदि के स्पष्ट वर्णन को देखते हुए अब वाटग्राम को पूर्व महाराष्ट्र मे ही कही खोजना होगा।

जिनसेन के गुरुबधु विनयसेन के शिष्य कुमारसेन ने स० ७५३ मे नदियड ग्राम मे काष्ठासघ की स्थापना की थी ऐसा वर्णन देवसेनकृत दर्शनसार (गाथा ३८) मे प्राप्त है। ऐतिहासिक दृष्टि से इस वर्णन मे कुछ विप्रतिपत्ति प्रदर्शित हुई है (भट्टारक सप्रदाय, पृ० २१०)। किंतु नदियड (वर्तमान नादेड, यह महाराष्ट्र के एक जिले का मुख्य स्थान गोदावरी तट पर है) के नाम से एक सघ अवश्य प्रवर्तित हुआ था। इस नदियड सघ के शुभकीर्ति और विमलकीर्ति इन आचार्यों का उल्लेख मध्यप्रदेश मे मदसौर जिले के ग्राम वँखर से प्राप्त एक अभिलेख मे मिलता है जिसकी तिथि दसवी सदी मे अनुमित है (ॲन्युअल रिपोर्ट ऑन इडियन एपिग्राफी, १९५४-५५, पृ० ४५)। सभवत. यही सघ बाद मे काष्ठासघ के अतर्गत नदीतट गच्छ के रूप मे प्राप्त होता है (इसका विस्तृत वृत्तात हमारे भट्टारक सप्रदाय मे सगृहीत है)।

जिनसेन के प्रति राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष (प्रथम, राज्यकाल सन् ८१४-७८) की श्रद्धा का उल्लेख उत्तरपुराण की प्रशस्ति मे प्राप्त है। इस सम्राट् के नाम से अमोघवसति नामक जिनमदिर नासिक के समीप चदनपुरी ग्राम मे बनवाया गया था। इसकी देखभाल के लिए अमोघवर्ष के प्रपौत्र इंद्रराज (तृतीय) ने सन् ९१५ मे द्राविड सघ के आचार्य लोकभद्र के शिष्य वर्धमान गुरु को दो ग्राम समर्पित किए थे। इसी के समीप वडनेर ग्राम के जिनमदिर के लिए भी इद्रराज ने इन्ही आचार्य को छह ग्राम दान दिए थे (इन दानो के ताम्रशासन डॉ० कोलतेजी द्वारा सपादित हुए हैं तथा मासिक सन्मति, नवबर १९६७ मे प्रकाशित हुए हैं)।

एलोरा (जि० औरगाबाद) महाराष्ट्र मे जैन शिल्प का प्रमुख केंद्र था। यहा की पाच जैन गुहाओ मे प्रमुख गुहा का नाम इद्रसभा है। इसके निर्माण के विषय मे ज्ञानसागर की तीर्थवदना मे कहा गया है कि यह कार्य रॉयल राज द्वारा सपन्न हुआ था तथा उसे देखकर इद्रराज प्रसन्न हुए थे (तीर्थवदनसग्रह, पृ० ६८ तथा १२५)। यहा उल्लिखित इद्रराज उपर्युक्त इद्रराज (तृतीय) ही प्रतीत होते हैं। शिल्प इतिहासज्ञो ने इन गुहाओ का निर्माण नवी-दसवी शताब्दी मे हुआ, ऐसा मत प्रकट किया है (दि क्लासिकल राज, पृ० ४९९)। पूर्व महाराष्ट्र मे प्रचलित परपरा के अनुसार शिरपुर (जि० अकोला) के अतरिक्ष पार्श्वनाथ मदिर का निर्माण भी एल राज द्वारा हुआ था। यह क्षेत्र, उभय सप्रदायो के जैनो के लिए

आज भी आकर्षण का केंद्र है।

राष्ट्रकूट राज्यकाल के कुछ लेखको शाकटायन, महावीर तथा पुष्पदत के विषय मे निश्चित जानकारी उपलब्ध नही है। इनमे से पुष्पदत का मूल निवास पूर्व महाराष्ट्र मे रहा होगा ऐसा अनुमान किया गया है तथा उनके महापुराण आदि ग्रंथो मे प्रयुक्त अपभ्रश को राष्ट्रकूटकालीन मराठी यह नाम दिया गया है (प्राचीन मराठी जैन साहित्य, पृ० ८)।

बारहवी शताब्दी के कई लेखो से महाराष्ट्र मे जैनो की समृद्ध स्थिति का पता चलता है। कोल्हापुर और उसके समीपवर्ती बामणी तथा तेरदाल इन स्थानो से प्राप्त पांच शिलालेख बारहवी शताब्दी के पूर्वार्ध के हैं। इनसे विदित होता है कि शिलाहार वश के राजा गडरादित्य रूपनारायण के नाम से कोल्हापुर मे रूपनारायणबसदि नामक जिनमदिर का निर्माण हुआ था। माघनदि यहा के प्रमुख आचार्य थे। सामत निम्ब और गोक इनके शिष्य थे। माघनंदि के शिष्य-परिवार मे कनकनदि, श्रुतकीर्ति, चद्रकीर्ति, प्रभाचद्र, माणिक्यनदि तथा अर्हनंदि के नाम उपलब्ध होते है (इन लेखो का विवेचन जैनिज्म इन साउथ इडिया, पृ० १२० पर डॉ० देसाई ने प्रस्तुत किया है)। कोल्हापुर के ही समीप अर्जुरिका (वर्तमान आजरे) नगर मे आचार्य सोमदेव ने सन् १२०५ मे शब्दार्णवचद्रिका नामक व्याकरण-ग्रथ की रचना की थी। तब वहा गडरादित्य के वशज भोजदेव का राज्य चल रहा था। यह ग्रथ प्रकाशित हो चुका है।

बारहवी शताब्दी के ही कुछ अन्य लेख देवगिरि के यादवो के राज्यकाल हैं। राजा सेउणचन्द्र (तृतीय) ने सन् ११४२ मे नासिक के समीप अजनेरी ग्राम के चन्द्रप्रभ तीर्थंकर के मदिर को दो दूकानें दान दी थी (इडियन एटिक्वरी, भाग १२, पृ० १२६)। धूलिया जिले के ग्राम सुलतानपुर से प्राप्त एक जिनमूर्ति के लेख से पुन्नाट गुरुकुल के आचार्य अमृतचन्द्र के शिष्य विजयकीर्ति का नाम ज्ञात होता है। यह लेख सन् ११५४ के आसपास का है (ॲन्युअल रिपोर्ट ऑन इडियन एपिग्राफी, १९५९-६०, शिलालेख बी २३१)। उस्मानाबाद जिले के रामलिंग मुदगड ग्राम से प्राप्त लेख मे अभयनन्दि और दिवाकरनन्दि आचार्यो के नाम प्राप्त होते हैं, यह भी बारहवी सदी का है (उपर्युक्त १९६३-६४, शिलालेख बी ३३६)। अकोला जिले के पातूर ग्राम से प्राप्त सन् ११८८ के मूर्तिलेख मे माणिकसेन तथा वीरसेन आचार्यों के नाम हैं (उपर्युक्त १९५४-५५, शिलालेख बी २६७)। इसी स्थान मे इसी वर्ष का आचार्य धर्मसेन का समाधिलेख भी मिला है जिसमे उनके चार पूर्वाचार्यों के नाम भी हैं (अनेकान्त, वर्ष १६, पृ० २३६, श्री बालचन्द्र जैन ने इसका सपादन किया है)।

पन्द्रहवी शताब्दी से महाराष्ट्र मे जैनो की गतिविधियो के इतिहास के साधन विपुल मात्रा मे उपलब्ध होते हैं। कारजा तथा लातूर के आचार्यों द्वारा स्थापित

मूर्तियो और उनके तथा उनके शिष्यो द्वारा लिखित मराठी रचनाओ से प्राप्त तथ्यो का सकलन हमारे 'भट्टारक सप्रदाय' तथा डॉ० अक्कोलेजी के 'प्राचीन मराठी जैन साहित्य' मे उपलब्ध है। उल्लेखनीय बात यह है कि इस प्रदेश मे हिन्दी की भी कई रचनाए उपलब्ध होती हैं। छत्रसेन का द्रौपदीहरण, गगादास की रविव्रतकथा, महीचन्द्र का कालीगोरीसवाद, ज्ञानसागर की अक्षरबावनी, पामो कवि का भरत भुजबलचरित्र तथा धनसागर का पार्श्वनाथ छप्पय ये इनमे से कुछ रचनाए पठनीय है। ये सब सतरहवी शताब्दी की हैं।

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि महाराष्ट्र मे जैनो ने प्राकृत, संस्कृत, मराठी तथा हिन्दी साहित्य एव गुहा, मदिर और मूर्ति-शिल्प के विकास मे प्रशसनीय योगदान किया है।

मेवाड़ में जैन धर्म

बलवन्तसिंह मेहता

मेवाड बनास और चम्बल नदियो तथा उनकी शाखाओ के कूलो व घाटियो मे बसा हुआ है जहा अतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त पुरातत्ववेत्ता डॉ० साकलिया ने उत्खनन व शोध से एक लाख वर्ष पूर्व मे आदिम मानव का अस्तित्व प्रमाणित किया है। भारत मे पाषाणकालीन सभ्यता के सर्वाधिक शस्त्रास्त्र भी यही पाये जाने से मेवाड स्वत ही भारत की मानव सभ्यता के आदि उद्गम स्थानो मे आता है। आपड तथा बागौर की सभ्यताओ को सिंधु घाटी के मोहनजोदाडो के ही समान समुन्नत व स्वतत्र सभ्यताए घोषित करने से मेवाड जैन धर्म के 'कम्मे सूरा सो धम्मे सूरा' के अनुसार ज्ञान और शौर्य से आप्लावित जैन सस्कृति के लिए सर्वाधिक उपयुक्त रहा है। इसे आदि सभ्यता व शौर्य की भूमि पाकर ही तीर्थंकरो से लेकर महान् धर्माचार्यों ने भी अपने पद-पद्म से पावन और पवित्र किया तथा इस भूमि को जैन धर्म के प्रचार-प्रसार का केन्द्र बनाकर यही से उन्होने अपने धर्म का विस्तार किया। अत यहा जैन धर्म का इतिहास भी उतना ही प्राचीन है जितना उसका इतिहास माना जाता है।

मेवाड को मेदपाट के साथ प्राग्वाट भी कहा जाता है। मज्झमिका तथा आहाड इसके दो प्रमुख नगर थे। ये दोनो ही शब्द जैन धर्म की प्रिय भाषा और जनबोली अर्धमागधी के हैं जिनका अर्थ है आकर्षित करने वाला सुदर नगर तथा षोडसी युवती-सी सुदर नगरी। ये दोनो नगर जैन धर्म के आदि केन्द्र रहे है। शारदापीठ वसन्तगढ जैनियो का प्राचीन सास्कृतिक शास्त्रीय नगर रहा है। ससार के प्रथम सहकार एव उद्योग केन्द्र जावर का निर्माण और उसके सचालन का श्रेय प्रथम जैनियो को ही मेवाड मे मिला है। दशार्णपुर जहा भगवान् महावीर का पदार्पण और आर्यरक्षित की जन्मभूमि और आचार्य महागिरि के तपस्या करने के शास्त्रीय प्रमाण हैं, नाणा दियाणा और नादिया मे जहा भगवान् महावीर की जीवन्त प्रतिमाए मानी गई हैं वे सब इसी मेवाड की भूमि के अग रहे

हैं। आज भी ऋषभदेव-केसरियाजी जैसा तीर्थ भारतवर्ष मे अन्यत्र कही नही पाया जाएगा, जहा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, सतशूद्र, आदिवासी आदि सर्व बड़े प्रेम और भक्ति से दर्शनार्थ आते हैं और पूजा कर अपने को धन्य मानते हैं। और राणकपुर जैसा गोठवण तथा शिल्प योजना का भव्य विशाल व कलापूर्ण मदिर अन्यत्र कही नही मिलेगा।

तीर्थंकरो द्वारा स्पर्शित भूमि

कृष्ण के चरणो की पूजा-शिला भारत मे सर्वप्रथम मज्झमिका मे मिलने से अनुमान है कि कृष्ण मथुरा से द्वारिका यही होकर गये और उन्ही के अनुकरण से उनके चचेरे भाई नेमिनाथ भी मथुरा से गिरनार गये। मथुरा से गुजरात के बीच का मार्ग मेवाड से ही जाता है अत. नेमिनाथ के भी मेवाड आने का अनुमान है। पार्श्वनाथ नागवशी थे। मेवाड मे एकलिगजी के पास नाग राजधानी नागदा मे जैनो का तीर्थ केन्द्र था। यही भारत का प्रसिद्ध पार्श्वनाथ का मदिर है जिसे खण्डहर अवस्था मे पार्श्वनाथ के पदार्पण के बाद ही इसे महत्त्व दिया गया होगा। अत कहा जा सकता है कि पार्श्वनाथ के यहा आने से ही नागदा का तीर्थ बना। इसके साथ ही जैन इतिहास मे पार्श्वनाथ के सिंध के अहिछत्रपुर जाने की भी परम्परा चली आ रही है, जिसका मार्ग मेवाड से ही है।

जैन इतिहास की एक परम्परा के अनुसार महावीर भ्रमण करते हुए मदसौर आये थे। उन्होंने वहा के राजा दशार्णभद्र को दीक्षा दी थी। उसके बाद 'नाणा दीयाणा नादिया, जीवित स्वामी वादिया' के अनुसार महावीर इन स्थानो पर होते हुए मेवाड के दक्षिण मे ब्राह्मणवाड तक आये थे। इन ग्रामो मे जाने के लिए मेवाड के अतिरिक्त कोई रास्ता नही है तथा अभी डेढ सौ वर्ष पूर्व तक मदसौर चित्तौड के क्षेत्र मे था का ही हिस्सा था। और नाणा आदि स्थान तो मेवाड़ के साथ लम्बे काल तक थे। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ विन्सेंट स्मिथ ने भी महावीर के मेवाड मे आने मे तथ्य की सभावना बताते शोध पर बल दिया है। अत प्राचीन समय से ही मेवाड का जैन धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।

जैन पुरातत्व एवं कला महावीर के समय मगध जैन धर्म का केन्द्र था, जो बाद मे राजक्रातिओ से मथुरा मे केन्द्रित और राजस्थान, मालवा व गुजरात मे विस्तृत हुआ। अशोक ने सारे देश मे हिंसा-निषेधाज्ञा के शिलालेख लगवाये थे। उससे भी पहले का जैन धर्म का एक शिलालेख मेवाड मे मज्झमिका नगरी मे मिला है, जो इस प्रकार है

"वीर (ा) य भगव (ते) चतुरासिति व (स)काये जलामालिनिये रँनिविठ माझिमिके।"

इस शिलालेख को पुरातत्ववेत्ताओ ने महावीर के निर्वाण के केवल ८४ वर्ष

वौद्ध का वताया है। इस शिलालेख की भाषा भी अशोक के शिलालेख की भाषा के समान और लिपि भी ब्राह्मी है। यह जैन शिलालेख भारत मे पाये गए सभी शिलालेखो मे प्राचीन तथा भारतीय इतिहास मे प्रथम है। लिपि-अध्येता भी इसी शिलालेख से अपने अध्ययन का शुभारम्भ मानते है। इस शिलालेख का समय ४३३ वर्ष ईसा-पूर्व है।

इस शिलालेख के ऐतिहासिक प्रमाण के आधार पर मेवाड का जैन धर्म से सबध महावीर के काल से ही पाया जाता है। महावीर के बाद समस्त जैनाचार्यों की पहली सगिति स्थूलभद्र की अध्यक्षता मे पाटलिपुत्र मे हुई। स्थूलभद्र का स्वर्गवास वि० स० २५४ ईसा-पूर्व मे माना जाता है। अत यह सगिति अवश्य ही इसके पहले हुई होगी। दूसरी सगिति स्कदलाचार्य की अध्यक्षता मे मथुरा मे हुई। इस सगिति मे मेवाड का प्रतिनिधित्व करने वाले जैनाचार्यो को 'मज्झमिया' शाखा सबोधित कर विशिष्ट महत्त्व प्रदान किया गया जिससे इस नगरी का प्रमुख जैन केन्द्र होना सिद्ध होता है। मज्झमिका का वर्णन महर्षि पाणिनि ने भी वस्त्र के सबध मे किया है, जो सारे भारतवर्ष मे प्रसिद्ध था। पाणिनि के काल को कुछ लोग ई० पू० छठी शताब्दी वताते हैं तो कुछ ईसा-पूर्व की चौथी शताब्दी। मज्झमिका के इस शिलालेख से पाणिनि का काल भी आगे वढता है और इस नगरी का भारत के प्राचीनतम नगरो मे महावीर के काल से सबध जुड जाता है। पाणिनि की व्याकरण के महाभाष्यकार पतजलि को अनद्यतनकाल का उदाहरण देने के लिए मज्झमिका नगरी के अतिरिक्त कोई अवलवन नही मिला।

मज्झमिका का शिलालेख किसी जैनकृति के निर्माण की स्मृति-स्वरूप वनाया गया होगा। इसके साथ ही मेवाड मे सबसे प्राचीन प्रतिमा उदयपुर के पास सविना गाव मे उपलब्ध हुई है। यह आठवी शताब्दि की जैन प्रतिमा है, जिसके संबध मे कन्नड भाषा मे शिलालेख है। आयड मे कन्नडभाषी कर्नाटक व्यापारियो का यहा आकर व्यवसाय करना और यहा लोगधर्मी कार्यो मे आर्थिक सहयोग देने के ऐतिहासिक प्रमाण हैं। चित्तौड मे अभी भी ऐसी जैन प्रतिमा विद्यमान है, जिस पर कन्नड भाषा मे शिलालेख है।

अशोक के समय मे उसकी आज्ञा से सारे देश मे जीव-हिंसा निषेध थी। अत. मेवाड मे भी निषेध होगी। अशोककालीन लिपि मे मज्झमिका नगरी मे एक वहुत ही महत्त्वपूर्ण शिलालेख मिला है जिसमे '(स) व भूतान दयार्य' पाठ है, जो सर्व जीवो की दया के प्रचार के लिए लिखा गया है। अशोक के पौत्र सम्प्रति के हिस्से मे मालवा और मेवाड के राज्य आए। वह जैन धर्म का प्रवल अनुयायी था तथा जनश्रुति के अनुसार उसने सहस्रो जैन मदिर वनवाए। मेवाड मे सातवी शताब्दी तक जैन धर्मावलवी मौर्य राजाओ का राज्य था जिससे यहा जैन धर्म का अच्छा

प्रचार-प्रसार रहा। बाप्पा रावल ने आठवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे अंतिम मौर्य राजा मान से मेवाड का राज्य प्राप्त किया। मेवाड का राजकुल ब्राह्मण एव शैव होने के कारण राजपरिवारो मे मास-मदिरा का प्रयोग निषेध था। महाराणा प्रताप ने जब आमिषभोजी मानसिंह को उदयसागर पर दावत दी, तब भी खीर-पूरी व पकवान बनाये गए थे। अत. मेवाड के महाराणा तथा राजकुल धर्म-निरपेक्ष व अहिंसा के प्रबल पक्षधर रहे। यथा राजा तथा प्रजा के अनुसार जन-जीवन मे भी इनका प्रचलन था और लोगो मे अहिंसा व धर्म की प्रवृत्ति अधिक थी।

शासन-व्यवस्था मे जैनों का योग

अलवर-निवासी भारमल जैन कावडिया को राणा सागा ने रणथम्भोर का किलेदार व अपने पुत्र विक्रमादित्य तथा उदयसिंह का अभिभावक नियुक्त किया। इन्होने बाबर की कूटनीति से मेवाड़ राज्य के प्रवेशद्वार रणथम्भोर की रक्षा की तथा चित्तौड के तीसरे साके मे वीरगति प्राप्त की। इनके पुत्र भामाशाह राणा प्रताप के सखा, सामंत, सेनापति व प्रधानमन्त्री थे। इन्होंने मेवाड के स्वतन्त्रता सग्राम मे तन, मन, धन सर्वस्व समर्पण कर दिया। ये हल्दीघाटी व दिवेर के युद्धो मे मेवाड के सेनापतियो मे रहे तथा मालवा व गुजरात की लूट से इन्होंने प्रताप के युद्धो का आर्थिक सचालन किया। भामाशाह के भाई ताराचन्द हल्दीघाटी के युद्ध की बायीं हरावल के मेवाडी सेनापतियो मे थे। इन्होंने जैन ग्राम के रूप मे वर्तमान भीडर की स्थापना की तथा हेमरत्नसूरि से पद्मिणी चरित्र की कथा को पद्य मे लिखवाया और सगीत का उन्नयन किया। दयालदास अन्य जैन वीर हुए जिन्होंने अपनी ही शक्ति से मेवाड की स्वतत्रता के शत्रुओ का इतिहास मे अनुपम प्रतिशोध लिया।

मेहता जलसि ने अल्लाउद्दीन के समय चित्तौड हस्तगत करने मे महाराणा हम्मीर की सहायता की। मेहता चिहल ने बनवीर से चित्तौड का किला लेने मे महाराणा उदयसिंह की सहायता की। कोठारी भीमसिंह ने महाराणा सग्रामसिंह द्वितीय द्वारा मुगल सेनापति रणबाज खां के विरुद्ध लडे गए युद्ध मे वीरता के अद्भुत जौहर दिखाकर वीरगति प्राप्त की। महता लक्ष्मीचन्द ने अपने पिता नाथ जी महता के साथ कई युद्धो मे भाग लेकर वीरता दिखाई और खाचरोल के घाटे के युद्ध मे वीरगति प्राप्त की। माडलगढ के किलेदार महता अगरचन्द ने मेवाड राज्य के सलाहकार व प्रधानमत्री के रूप मे सेवा की तथा मराठो के विरुद्ध हुए युद्ध मे सेनापति के रूप मे वीरता के जौहर दिखाये और महाराणा अरिसिंह के विषम आर्थिक काल मे मेवाड़ की सुव्यवस्था की। इनके पुत्र मेहता देवीचन्द ने मेवाड को मराठो के आतक से मुक्त कर माडलगढ मे उन्हे अपनी वीरता से करारा जवाब दिया। बाद मे ये भी अपने पिता की भाति मेवाड के दीवान बनाये गए

और उन्होंने भी आर्थिक सकट की स्थिति मे राज्य की सुव्यवस्था की।

तोलाशाह महाराणा सांगा के परम मित्र थे। इन्होंने मेवाड़ के प्रधानमन्त्री पद के सागा के प्रस्ताव को विनम्रता से अस्वीकार किया किन्तु अपने न्याय, विनय, दान, ज्ञान से वहुत कीर्ति अर्जित की। इन्हे अपने काल का कल्पवृक्ष कहा गया है। इनके पुत्र कर्माशाह सागा के प्रधानमन्त्री थे। इन्होने शहजादे की अवस्था मे गुजरात के वहादुरशाह को उपकृत कर शत्रुञ्जय मदिरो का जीर्णोद्धार कराया। इनके अतिरिक्त और कई जैन प्रधानमन्त्री हुए जिन्होने मेवाड राज्य की अविस्मरणीय सेवाए की। महाराणा लाखा के समय नवलाखा गोत्र के रामदेव जैनी प्रधानमन्त्री थे।

महाराणा कुभा के समय वेला भडारी तथा गुणराज प्रमुख धर्मधुरीण व्यापारी व जैन वीर थे। इसी समय रत्नाशाह ने राणपुर का प्रसिद्ध मदिर वनवाया। महाराणा विक्रमादित्य के समय के कुम्भलगढ के किलेदार आशाशाह ने वाल्य अवस्था मे राणा उदयसिंह को सरक्षण दिया। मेहता जयमल अच्छावत व मेहता रतनचन्द खेतावट ने हल्दीघाटी के युद्ध मे वीरता दिखाकर वीरगति प्राप्त की। महाराणा अमरसिंह का मन्त्री भामाशाह का पुत्र जीवाशाह था और महाराणा कर्मसिंह का मन्त्री जीवाशाह का पुत्र अक्षयराज था। महाराणा राजसिंह का मन्त्री दयालशाह था। महाराणा भीमसिंह के मन्त्री सोमदास गाधी व मेहता मालदास थे। सोमदास के वाद उसके भाई सतीदास व शिवदास मेवाड़ राज्य के प्रधानमन्त्री रहे। महाराणा भीमसिंह के वाद रियासत के अतिम राजा महाराणा भूपालसिंह तक सभी प्रधानमन्त्री जैनी रहे। द्वितीय महाराणा सग्रामसिंह के समय कोठारी भीमसिंह ने युद्ध मे दोनो हाथो से तलवारें चलाकर जो रण-कौशल दिखाया वह इतिहास की अपूर्व घटना है।

इस प्रकार हम देखते है कि मेवाड राज्य के आरम्भ से अन्त तक सभी प्रधान-मन्त्री जैनी थे। इन मन्त्रियो ने न केवल मेवाड राज्य की सीमा की कार्यवाहियो के सचालन तक अपने को सीमित कर राज्य की सुव्यवस्था की वल्कि अपने कृतित्व-व्यक्तित्व से जनजीवन की गतिविधियो को भी अत्यधिक प्रभावित किया और इस राज्य मे जैन मदिरो के निर्माण व अहिसा के प्रचार-प्रसार के भरसक प्रयत्न किए। हम पाते हैं कि जिन थोडे कालो मे दो-चार अन्य प्रधानमन्त्री रहे उन कालो मे मेवाड राज्य मे व्यवस्था के नाम पर वडी विपम स्थितिया उत्पन्न हुई। इसलिए मेवाड के इतिहास के स्वर्णकाल मे महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले जैन अमात्यो के वशवरो को महाराणाओ ने इस पद के लिए पुन आमन्त्रित किया और वाद मे यह परम्परा ही वन गई कि प्रधानमन्त्री जैनी ही हो।

आयड़ आयड मे भारत भर के जैन व्यापारियो ने इसे व्यापार का केन्द्र बनाकर कई मदिरो के निर्माण से जैन धर्म को लोक-धर्म बनाया। प्रद्युम्न सूरि ने आयड के राजा अल्लट से श्वेताम्बर सम्प्रदाय को राज्याश्रय प्रदान करवाया। अल्लट ने सारे राज्य मे विशिष्ट दिनो मे जीव-हिंसा तथा रात्रि-भोजन निषेध कर दिया। उसकी रानी हूण राजकुमारी हरियादेवी ने आयड मे पार्श्वनाथ का विशाल मदिर बनवाया। अल्लट के बाद राजा वैरिसिंह के समय आयड़ मे जैन धर्म के बडे-बडे समारोह हुए और ५०० प्रमुख जैनाचार्यो की एक महत्त्वपूर्ण सगीति आयोजित हुई। वैरिसिंह के काल मे असख्य लोगो को जैन धर्म मे दीक्षित कर अहिंसा जीवन की शिक्षा दी तथा सहस्रो हूण, शक आदि विदेशियो को जैन धर्म मे दीक्षित कर उनका भारतीयकरण किया गया। आयड मे महारावल जैत्रसिंह के अमात्य जगतसिंह ने ऐसी घोर तपस्या की कि जैत्रसिंह ने उन्हे 'तपा' की उपाधि दी और यही से 'तपागच्छ' निकला है, जिसके आज भी श्वेताम्बर मूर्ति-पूजको के सर्वाधिक अनुयायी हैं।

चित्तौड़ चित्तौड आरम्भ से ही जैन धर्म का अच्छा केंद्र रहा तथा जैन मुनियो ने गुजरात व मालवा से यहा आकर निवास किया। यह जैन धर्म के दिगम्बर तथा श्वेताम्बर दोनो सम्प्रदायो का केन्द्र था। चित्तौड़गढ भारतवर्ष का एकमात्र क्षात्रधर्म का तीर्थ माना जाता है। वह मौर्य जैन राजा चित्रागद का बसाया हुआ है। यह अनेक जैनाचार्यो की कर्मभूमि, धर्मभूमि और उनकी विकास-भूमि भी है। भारत के महान तत्त्व विचारक, समन्वय के आदि पुरस्कृता, अद्वितीय साहित्यकार एव महान् शास्त्रकार हरिभद्र सूरि और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति की एकमात्र विदुषी एव तपस्विनी साध्वी याकिनी महत्तरा की यह जन्मभूमि है। जैन जगत् के विद्वान् मार्तण्ड सिद्धसेन चित्तौड की साधना के बाद ही दिवाकर के रूप मे प्रकट हुए। जैन धर्म मे फैले हुए अनाचार को मिटा उसे शुद्ध रूप मे प्रकट करने के लिए जिनवल्लभ सूरि ने गुजरात से आ यही से आदोलन आरम्भ किया जो सफल हो देश मे सर्वत्र फैल गया है। हरिभद्र सूरि और जिनदत्त सूरि ने लाखो व्यक्तियो को प्रतिबोधित कर उन्हे अहिंसक बनाया, उसका आरम्भ भी यही से हुआ।

दिगम्बर आचार्यो मे यहा सर्वप्रथम एलाचार्य नामक प्रसिद्ध साधु का नाम आता है। वीर सेनाचार्य नामक साधु इनके पास विद्या प्राप्त करने आये थे, जिन्होंने बडौदा-वागड जाकर धवल टीका पूर्ण की। वीरसेन के शिष्य जिनसेन और गुणभद्र हुए जो दिगम्बर सम्प्रदाय मे प्रख्यात हैं। राजा अल्लट के शासन-काल मे दिगम्बरो और श्वेताम्बरो मे शास्त्रार्थ का उल्लेख तथा श्वेताम्बर

सम्प्रदाय को राज्याश्रय प्रदान करने का उल्लेख है। एक दिगबर आचार्यश्री कीर्ति का नाम मिलता है जो नेमिनाथ की यात्रा पर जाते समय पाटन मे रुके थे और वहा के राजा ने इन्हे मडलाचार्य का विरुद तथा सुखासन भेंट किया। अपभ्रश कथा-कोश के रचयिता श्रीचद्र ने अपनी गुरु-परपरा मे श्री कीर्ति का उल्लेख किया है, जिनके शिष्य आचार्य श्रुतिकीर्ति चित्तौड के परमार राजा भोज की राजसभा के सम्मानित सदस्य थे। काटसघ ताल वागड के पुन्नाट गच्छ मे महेद्रसेन नामक आचार्य का उल्लेख मिलता है, जिसने 'त्रिशष्टिशलाका पुरुषचरित' नामक ग्रथ की रचना की। वि० स० १२०७ की चित्तौड की कुमारपाल की प्रशस्ति का रचयिता रामकीर्ति दिगबर साधु था। ग्यारहवी शताब्दी मे आशाधर नामक माडलगढ निवासी बहुत बडे दिगबर पडित हुए जो मुस्लिम आक्रमणो के समय दक्षिण की ओर चले गये।

धर्म-प्रचारक साहित्यानुरागी श्रावक लल्लिग, जिसने हरिभद्र सूरि के कई ग्रथो का आलेखन कराया। आशाधर श्रावक बहुत बडे विद्वान् थे। लोल्लाक श्रावक ने बिजोलिया मे उन्नत शिखर पुराण खुदवाया। धरणाशाह ने जिवाभिगम, सूत्रावली, ओघ निर्युक्ति सटीक, सूर्य प्रज्ञप्ति, सटीक अग विद्या, कल्प भाष्य एव सिद्धान्त विषम पद पर्य्यय व छदोनुशासन की टीका करवायी। चित्तौड-निवासी श्रावक आशा ने 'कर्मस्तव विपाक' लिखा। डूगरसिंह (श्रीकरण) ने आयड़ मे 'ओघनिर्युक्ति' पुस्तिका लिखी। 'उद्धरसुनुतम हेमचद्रेण ने 'दशवैकालिक पाक्षिक सूत्र' व ओघनिर्युक्ति लिखी। वयजल ने आयड मे पाक्षिक वृत्ति लिखी।

आधुनिक जैन विभूतिया यहा जैन लोगो ने इतिहास के निर्माण मे भी बडी सही भूमिका निभाई। राजपूताना के मुणहोत नेणासि के साथ कर्नल टाड के गुरु यति ज्ञानचद, नैणसी के इतिहास के अनुवादक डा० रामनारायण दुगड व मेहता पृथ्वीसिंह का नाम इतिहासज्ञो मे उल्लेखनीय है तो अतर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त पुरातत्ववेत्ता मुनि जिनविजय जी ने ऐतिहासिक सत्यो-तथ्यो के सग्रह से इतिहास की मूल्यो का सुरक्षात्मक भडारण कर शोधार्थियो के लिए वरदानस्वरूप महान कार्य किया। आपको गाधीजी ने साग्रह गुजरात विद्यापीठ का प्रथम कुलपति बनाया। आप जर्मन अकादमी के अकेले भारतीय फैलो हैं। आपकी सेवाओ के उपलक्ष्य मे आपको राष्ट्रपतिजी ने पद्मश्री प्रदान कर समादृत किया। विज्ञान के क्षेत्र मे श्री दौलतसिंह कोठारी अतर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त वैज्ञानिक हैं। आपने स्वेच्छा से भारत के शिक्षामत्री का पद नही स्वीकार किया। आप भारत की सैनिक अकादमी के प्रथम अध्यक्ष बनाए गये और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष पद से आपने अवकाश प्राप्त किया। आपको राष्ट्रपतिजी ने पद्मविभूषण प्रदान कर समादृत किया। डॉ० मोहनसिंह मेहता को भी विदेशो मे भारतीय प्रशासनिक सेवा व शिक्षा मे सेवाओ के उपलक्ष मे पद्मविभूषण से

समादृत किया गया है। श्री देवीलाल सामर ने भारतीय लोक-कलाओं के उन्नयन में महान् कार्य किया है। आपने अतर्राष्ट्रीय 'कठपुतली' प्रतियोगिता में भारत का प्रतिनिधित्व कर विश्व का प्रथम पुरस्कार प्राप्त किया। आप भारतीय लोककला मडल के सचालक एव राजस्थान सगीत-नाटक अकादमी के अध्यक्ष है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मेवाड के इतिहास व जैन धर्म तथा मेवाड के जीवन-क्षेत्रो मे जैनियो की कृषि, वाणिज्य, वीरता व प्रशासन-कुशलता की चतुर्मुखी गतिविधियो मे इतना सगुफन है कि इन्हे हम पृथक कर ही नही पाते। जैनियो ने मेवाड़ के धर्म, अर्थ, कर्म, ज्ञान, भक्ति, शक्ति सभी को चरम सीमा तक प्रभावित किया है और अपने अहिंसाजीवी जैन धर्म के प्रचार-प्रसार मे ये लोग पूर्ण पराकाष्ठा पर पहुचे हैं।

• •

लेखक-परिचय

१ मुनि जिनविजय, पुरातत्त्वाचार्य
  द्वारा लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर
  अहमदाबाद

२ डॉ० रामचन्द्र द्विवेदी, एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्याचार्य, दर्शनाचार्य
  प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर

३ डॉ० प्रेम सुमन जैन, एम० ए० (पालि, प्राकृत एवं प्राचीन इतिहास), पी-एच० डी०, साहित्याचार्य
  सहायक प्रोफेसर प्राकृत, संस्कृत विभाग, उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर

४ डॉ० पी० एस० लावा, एम० एस-सी०, पी-एच० डी०
  कुलपति, उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर

५ (स्व०) डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, एम० ए०, डी० लिट्०
  भूतपूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष स्नातकोत्तर प्राकृत एवं जैन विद्या विभाग, मैसूर विश्वविद्यालय

६ प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी, एम० ए०
  टैगोर प्रोफेसर एवं अध्यक्ष प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्त्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर

७ साध्वी संघमित्रा
  संघ-आचार्यश्री तुलसी, जैन विश्वभारती, लाडनूं (राजस्थान)

८ (स्व०) डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०, ज्योतिषाचार्य
  भूतपूर्व अध्यक्ष, संस्कृत एवं प्राकृत विभाग, जैन कॉलेज, आरा

९ डॉ० मूलचन्द्र पाठक, एम० ए० (संस्कृत, हिन्दी), पी-एच० डी०
  सहायक प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर

१० डॉ० बिहारीलाल जैन, एम० ए०, पी-एच० डी०, साहित्याचार्य
सहायक प्रोफेसर, संस्कृत विभाग, उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर

११ डॉ० कस्तूरचन्द कासलीवाल, एम० ए०, पी-एच० डी०, शास्त्री
निदेशक, साहित्य शोध विभाग, दि० जैन अ० क्षेत्र, महावीरजी
महावीर भवन, चौडा रास्ता, जयपुर-३

१२ अगरचन्द नाहटा, जैन-सिद्धान्ताचार्य
नाहटो की गुवाड, बीकानेर

१३ डॉ० हुकुमचन्द भारिल्ल, एम० ए०, पी-एच० डी०
अधिष्ठाता, प० टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, बापूनगर, जयपुर-४

१४ डॉ० गोकुलचन्द्र जैन, एम० ए० (संस्कृत, प्राकृत), पी-एच० डी०, साहित्याचार्य, जैन दर्शनाचार्य, न्यायतीर्थ
प्राध्यापक, जैन दर्शन, प्राच्य विद्या संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

१५ प्रो० लक्ष्मीचन्द्र जैन, एम० एस-सी०
अध्यक्ष, गणित विभाग, शासकीय महाविद्यालय, खडवा (म० प्र०)

१६ प्रो० परमानन्द चोयल, एम० ए० (हिन्दी, चित्रकला)
अध्यक्ष, चित्रकला विभाग, उदयपुर विश्वविद्यालय, उदयपुर

१७ डॉ० नरेन्द्र भानावत, एम० ए०, पी-एच० डी०
प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

१८ डॉ० ब्रजमोहन जावलिया, एम० ए०, पी-एच० डी०
राजस्थान प्राच्य विद्या शोध प्रतिष्ठान, राजमहल, उदयपुर

१९ डॉ० मनोहरलाल दलाल, एम० ए०, पी-एच० डी०, एल-एल० बी०
द्वारा डॉ० के० सी० जैन, प्राचीन भारतीय इतिहास व संस्कृति विभाग, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

२० डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर, एम० ए०, पी-एच० डी०
शासकीय महाकोशल महाविद्यालय, जबलपुर (म०प्र०)

२१ श्री बलवन्तसिंह मेहता
रैन बसेरा, अस्पताल रोड, उदयपुर